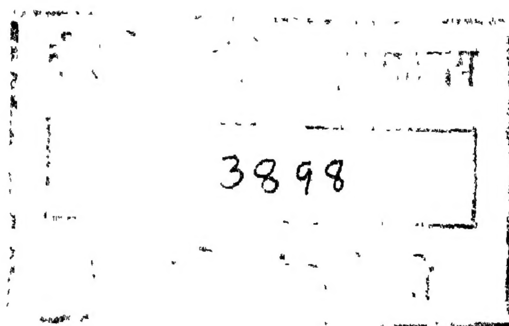

3898

अहिंसा विवेक

अहिंसा विवेक

[आचार्यश्री भिक्षु द्वारा रचित अनुकम्पा चौपई का सानुवाद
और शोधपूर्ण अध्ययन]

लेखक—
मुनिश्री नगराजजी

सम्पादक
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के उपलक्ष में

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज, चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१



प्रथमावृत्ति :
१९६२



प्रति संख्या :
१०००



पृष्ठांक :
४००



मूल्य
सात रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वींस रोड, दिल्ली

समर्पण

मेरे अर्हद् व सम्यक् संबोधक

तथा

न्याय व औचित्य के अनन्य निर्वाहक

श्रीमत् कालूगणी

को

सम्पादकीय

आचार्यश्री भिक्षु को जो तत्त्व-दर्शन मिला, वह उनके लिए सहज उपलब्धि थी। लोगों को लगा, यह उनके मस्तिष्क की अनहोनी उपज है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, वह तत्त्व-दर्शन बहुजन योग्य बनता जा रहा है। स्वस्थ और तटस्थ चिन्तक उसे आसानी से पचा पा रहे है। अनहोनी लगने वाली बात यथार्थता की कसौटी पर खरी उतरने लगी है। साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त मानस आज यह समझने लगा है, आचार्यश्री भिक्षु ने अहिंसा का जो स्वरूप बताया, दया-दान की जो व्याख्याएं दीं, वह भगवान् श्री महावीर द्वारा उपदिष्ट ही थीं। मुनिश्री नगराजजी ने प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को तार-तार कर खोल दिया है।

यह मानने मे संकोच नहीं होना चाहिए कि लोकोत्तर पक्ष की संसिद्धि में लगे संसार में लौकिक पक्ष को बहुत ही उपेक्षित बना दिया था। लोग समाज में रहते हुए भी ऐहिक जगत से इतने पराङ्मुख हुए कि समाज और धर्म का सन्तुलन ही बिगड़ने लगा। उसका ही परिणाम हुआ कि लोगों ने परोक्ष को गौण कर प्रत्यक्ष को उभारने का उद्घोष बहुत जोरों से उठा लिया। लोग परोक्ष की साधना भूल गये और प्रत्यक्ष ही अथ और इति बन गया। परन्तु प्रत्यक्ष की चिन्ता न करना जितना घातक हुआ उससे भी बढ़कर घातक वर्तमान की जड़ उपासना बन रही है। आगे चलकर यह और भी भयावह प्रमाणित हो सकती है। आवश्यकता ऐसे दर्शन की है जो प्रत्यक्ष जीवन और परोक्ष जीवन में सम्यक सन्तुलन बिठा सके। मुनिश्री नगराजजी द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे दर्शन को मूर्त करने का सफल प्रयास किया गया है।

अब तक ऐसे विषयों पर जो भी लिखा जाता रहा है, वह विवादात्मक पद्धति से लिखा जाता रहा है। शोध-दृष्टि का विकास इस युग की देन है। प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ विवेचनात्मक लिखा गया है, वह समय शोध पद्धतियों पर ही आधारित है। दया-दान आदि विषयों पर लिखा गया अपनी शैली का यह प्रथम ग्रन्थ ही माना जा सकता है।

अनुकम्पा चौपई आचार्यश्री भिक्षु का एक मान्यता ग्रन्थ है। तेरापंथ की मान्यता का वह एक मौलिक शास्त्र है। उसका हिन्दी अनुवाद कर व अहिंसा-पर्यवेक्षण शीर्षक से उस पर एक विवेचनात्मक उपोद्घात लिखकर सिद्ध-हस्त मुनिश्री ने इसे जन-भोग्य और विद्वज्जन भोग्य एक स्वाध्याय ग्रन्थ बना दिया है। सम्पादन कार्य में यत्किंचित् योगभूत होकर तेरापथ द्विशताब्दी समारोह पर मैं भी श्रद्धास्पद आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धाञ्जलि दे पाया, इस बात का मुझे परम हर्ष है।

२०१८, पौष शुक्ला पंचमी
कठौतिया भवन, दिल्ली।

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

अनुक्रम

अनुकम्पा चौपई

अहिंसा-पर्यवेक्षण

प्राणीमात्र की जिजीविषा[1] और भव-मुमुक्षु की कषाय-विजिगीषा[2] से आविर्भूत यह अहिंसा की धारा कालक्रम के साथ नाना अवरोहों और आरोहों में सतत प्रवाही रही है। इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके उन्मेष और निमेषों का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलताएं दूर हो जाती हैं और इसका सहज स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इतिहास केवल अतीत की काल-गणना का ही ब्योरा नहीं देता, कभी-कभी वह वर्तमान की यथार्थता का भी मानदण्ड बन जाता है।

आगमिक धारणा

आगमिक और पौराणिक धारणा के अनुसार उत्सर्पण और अवसर्पण के प्रत्येक काल-चक्रार्ध में चौबीस तीर्थंकर होते हैं और वे सभी उपदेश करते हैं—प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीड़ित मत

---

१. क. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरजिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गन्था वज्जयन्तिणं॥ दस० ६. १०

ख. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउ कामा। सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवइज्ज किंचणं।
—आचा० १. २. ३.

ग. जिजीविषा पर विशेष—'अहिंसा और धर्म का प्रयोजन' प्रकरण में।

२. क. कोहोय माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कषाया सिञ्चन्ति मूलाई पुणब्भवस्स॥
—दस० ८. १०.

ख. यः खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक ४३

ग. कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

करो, उन पर प्रहार मत करो, यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।[1]

वर्तमान कालचक्रार्ध के प्रथम तीन अध्यायों (आरों) में इस कर्म भूमि पर यौगलिक सभ्यता रही। उस समय सभी लोग भाई-बहिन के युगल में पैदा होते और तारुण्य पाकर वही युगल दम्पति रूप में बन जाता। कल्पवृक्ष ही उनकी इच्छाएं पूरी करते। वे रोगी नही होते। उनका मारणान्तिक रोग एक छींक व एक जम्भाई होता। वे बहुत सुन्दर होते। कषाय-चतुष्क की अल्पता में उनका प्राकृतिक जीवन बहुत सुखी होता। उनमे सहज संबोध होता, पर जीवन-व्यवहार में उनके न तो धर्म-विवक्षा होती और न धर्म-शुश्रूषा। तात्पर्य उन तरुवासी युगलों के जीवन में न तो हिंसा की प्रबलता थी और न अहिंसा का विहित विकास।[2]

मानव-सभ्यता का उदय

इस कालचक्रार्ध के तीसरे अध्याय के अन्त में यौगलिक सभ्यता समाप्त हुई और मानव-सभ्यता का उदय हुआ। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ प्रभु ने अपने शासकीय जीवन से लोगों को कर्म का प्रशिक्षण दिया, जो कि इस मानव-सभ्यता के प्रथम राजा थे। तभी से कृषि, वाणिज्य, क्षात्र तथा शिल्प प्रभृति कर्मों का प्रारम्भ समाज में हुआ। आदिनाथ प्रभु ने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का, द्वितीय पुत्र बाहुबली को शरीर-लक्षणों का, पुत्री सुन्दरी को गणित का तथा ब्राह्मी को सर्व प्रथम लिपि का ज्ञान दिया।[3] कहा जाता है, वही ब्राह्मी लिपि अब तक प्रचलित है और नाना लिपियों के रूप में उसका विकास हुआ है।

---

१. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

—आचा० १. ४. १

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष० पर्व १ सर्ग २ श्लोक १०६ से १२८

३. क. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग २ श्लोक ६२५ से ६७०

ख. तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसइ, तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअ पज्जवसाणाओ बावत्तरियकलाओ चोसट्ठिं महिला गुणे, सिप्पसयंच कम्माणे तिण्णिवि पयाहिआए उवदिसइ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार

अब तक के समाज में अहिंसा धर्म का उपचरित उदय नहीं था, पर वाणिज्य आदि कर्मों के साथ-साथ उसके उदय की अपेक्षा समाज में अवश्य हो चली थी। राजा ऋषभ ने कर्म-प्रवर्तन के अनन्तर ही धर्म-प्रवर्तन का बीड़ा उठाया और वे राज्य, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रजत आदि को छोड़कर इस श्रमण संस्कृति के प्रथम श्रमण बने। सुदीर्घ तपः साधना से कैवल्य प्राप्त कर तीर्थंकर बने और अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया। उसके बाद काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य की भोगैषणा समय-समय पर बढ़ती रही व अहिंसा धर्म का अपवर्तन होता रहा और एक के बाद एक होने वाले तीर्थंकर उसे उद्वर्तन देते रहे। यह है अहिंसा के निमेष और उन्मेष की जैनी गाथा।

वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति

जैन-धारणा के अनुसार वैदिक संस्कृति भी श्रमण संस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नहीं रही है। ऋषभनाथ स्वामी के युग में ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी का चार वेदों के रूप में संकलन किया और उसने ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतीक यज्ञोपवीत का प्रवर्तन किया।[1] वे वेद बहुत वर्षों तक श्रमण संस्कृति के

---

१. ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गं रेखात्रयं नृपः।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या, विदधे शुद्धिलक्षणम्॥
अर्द्धवर्षेऽर्द्धवर्षे च, परीक्षां चक्रिरे नवाः।
श्रावकाः काकिणीरत्नेनाऽऽलम्ब्यन्त तथैव हि॥
तल्लांछना भोजनं ते, लेभिरेऽथाऽपठन्निदम्।
जितो भवानित्याद्युच्चै र्माहनास्ते ततोऽभवन्॥
निजान्यपत्यरूपाणि, साधुभ्यो ददिरे च ते।
तन्मध्यात् स्वेच्छया कैश्चिद्, विरक्तैर्व्रतमाददे॥
परीषहासहैः कैश्चिच्छ्रावकत्वमुपाददे।
तथैव बुभुजे तैश्च, काकिणीरत्नलांछितैः॥
भूभुजा दत्तमित्येभ्यो, लोकोऽपि श्रद्धया ददौ।
पूजितैः पूजितो यस्मात्, केन केन न पूज्यते?
अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान्।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषां स्वाध्यायहेतवे॥
क्रमेण माहनास्ते तु, ब्राह्मणा इति विश्रुताः।
काकिणीरत्नलेखास्तु, प्रापुर्यज्ञोपवीतताम्॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४१ से २४८

आधार ग्रन्थ रहे। धीरे-धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतन्त्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गए[1] और दोनों परम्पराओं की हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओं में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। सम्भव है, इन पौराणिक उदन्तों में अधिक यथार्थता न हो, पर जबकि आज हम उस युग की यथार्थताओं को खोजने सुमेरियन[2] और बाबिलोनियन[3] सभ्यता के पुरावे ढूढते हैं और उनके आधार पर अपनी कल्पनाएं जोड़ते हैं तो यह उचित नहीं कि भारतीय परम्पराओं में मिलनेवाले तथा प्रकार के उदन्तों को केवल पौराणिक कल्पनाएं कहकर यों ही छोड़ दें। हो सकता है, उन अभिमत कल्पनाओं के नीचे भी कोई यथार्थ आधार निकल आए और हमें किसी वास्तविकता तक पहुंचने के लिए वह एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाए।

ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यों का आगमन

मेक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत

---

१. वेदाश्चार्हत्स्तुतियतिश्राद्धधर्ममयास्तदा।
पश्चादनार्याः सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः ॥२५६॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६

२. Some hold that they (people of Indus civilization) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians. Some again believe that these two were identical. According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan, and gradually migrated to Mesopotamia. The fact that the Dravidian language is still spoken by the Brahui people of Baluchistan is taken to lend strength to this view. —Ancient India (An Advanced History of India-Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta, p. 55

३. वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृति से हुई है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है, बाबिलोनियन भाषाओं का अच्छी तरह अध्ययन किए बिना बहुत-सी वैदिक ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आएगा। इन्द्र की पूजा सोमपान-विधि आदि की जड़ बाबिलोनियन संस्कृति में ही है।

—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ५१, पूर्ण विवेचन पृष्ठ १ से ५१

रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आए। उन लोगों की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहां के आदिवासी लोगों को उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश में अपनी संस्कृति का प्रभाव बढ़ाया। यह वही सभ्यता है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग्-आर्य सभ्यता

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुड़ा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष में कोई समुन्नत सभ्यता या संस्कृति नहीं थी। जैन और बौद्ध परम्पराएं भी इसी संस्कृति की उत्क्रान्तियां मात्र हैं। इन दिनों में जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहां एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह संस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहां तक कि उस संस्कृति में पले-पूसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग थी।[2]

---

1. "Be that as it may, there is not the least doubt that we can no longer accept the view, now generally held, that Vedic Civilization is the sole foundation of all subsequent civilizations in India. That the Indus Valley Civilization described above has been a very important contributory factor to the growth and development of civilization in this country admits of no doubt."

—Ancient India. (An Ancient History of India—Part 1)
by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta, p. 23.

2. That this ideal of Ahimsa or non-violence was the basic principle of Pre-Aryan civilization in India is known to the scholars who carefully studied the Indus Valley Civilization as revealed by the excavations of Mohen-jo-daro and Harappa. There, to the great surprise of the experts, they count no weapons for the purpose of offence and defence.

भौतिक विकास की दिशा में भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोड़ों की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनागमन के यान भी थे।[१] यहां तक कि उनमें भक्ति[२] और पुनर्जन्म के विचारों का भी विकास था।

त्रिमुख मूर्ति

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धारणाओं के आधार बनते हैं। इन अवशेषों में एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित[3] हैं। इस मूर्ति के विषय में विद्वानों द्वारा नाना कल्प-

---

From the absence of destructive implements, the experts have come to the conclusion that the people of the Indus Valley Civilization did not interest themselves in waging wars with anybody. Subtained by their high culture and civilization, they somehow carried on their affairs—social, political and religious without involving themselves in any wars.

—The Religion of Ahimsa by Prof. A. Chakravarti, M. A.p.17.

१. The people cultivated fields of grain, raised cattle, tammed the horse, harnessed the bullock to two-wheeled carts, and taught the elephant to carry burdens.

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1, pp. 93-5.

२. Indication of the existence of the Bhakti-cult, and even of some philosophical doctrines like Matempsychosis, have also been found at Mohen-jo-daro.

—Ancient India (An Ancient History of India—part 1) by Majmdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta. p. 21

३. He has a deer throne and has the elephant, the tiger, the rhinoceros, and the buffalo grouped round him.

—Mohon-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1,pp. 52-3.

नाएं की गई हैं। बहुतों का कहना है—यह पशुपति शिव की मूर्ति है[1]। यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः' के सूचक किसी पहुंचे हुए योगी की मूर्ति है।[2]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयों से अभिज्ञ व्यक्ति के मन में यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प-चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थंकरों की स्वयं सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य में व्याघ्र, गज, मृग आदि नित्य-विरोधी पशु भी मैत्रीपूर्वक बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग में शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियों में हुआ करती है। मृग सोलहवें तीर्थंकर का लांछन भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हड़प्पा और मोहनजोदडो की खुदाइयों में कुछ अन्य मूर्तियां तथा मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं, जिनसे जैन तीर्थंकर और जैन संस्कृति का आभास मिलता है, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।[3]

त्रिमुख मूर्ति के विषय में उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे,

---

१. Amomg the relics of a religious character found at Mohen-ja-daro are not only figurines of the mother goddess but also figures of a male god, who is the prototype of the historic Siva.

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1, pp. 52-3.

२. This reminds us of the famous Yogadarsana aphorism which lays down that in the presence of a yogin established in ahimsa (non-violence), even the ferocious animals give up their inherent mutual animosity.

—Ahimsa in Indian Culture.

by Dr. Nathimal Tantia, M. A., D. Litt.

३. Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahimsa, Tirthankara Risabhadeva Special Number, vol. VII No. 3-4: March-Apr., 1957, pp. 152-6.

पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने में भी विद्वान् पूरा निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। उनका कहना है[1] तीन नेत्रों के स्थान पर तीन मुख हो सकते हैं और त्रिशूल के द्योतक मूर्ति में दिखलाए गए दो सींग हो सकते हैं। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खींचातान की सी है। कुछ भी हो त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश में ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

प्रागार्य वंश

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो०ए० चक्रवर्ती का कहना है[2] "ऐसा कहा जाता है, भग-

---

1. On one particular seal, he seems to be represented as seated in the yoga posture, surrouned by animals. He has three visible faces, and two horns on two sides of a tall head-dress......As is well known, Siva is regarded as a Mahayogin, and is styled Pasupati or the lord of beasts, his chief attributes being three eyes and the Trisula......Now the apparant yoga posture of the figure in Mohen-jo-daro justifies the epithet Mahayogin, and the figures of animals round him explain the epithet Pasupati. The three faces of the figure may not be unconnected with the later conception of three eyes, and the two horns with the tall head-dress might have easily given rise to the conception of a tridant (Trisula), with three prongs. —Ancient India (An Advanced History of India–Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta. p. 20

2. Lord Rishabha himself is said to have been a Vidayadhara emperor in one of his previous births. He is said to be of Ekshvaku clan. Most of the Thirthankars were from this Ekshvaku clan. Even Goutama Sakhya Muni Budha, contemporary of Mahavira, belong to this Ekshvaku clan. Rama considered to be an Avathara Purusha, also belongs to this Ekshvaku clan. From these, it is clear that the Ekshvaku dynasty was occupying a place of honour in ancinent India.

वान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे। अन्य अधिकांश तीर्थंकर भी इसी वंश के थे। भगवान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकु वंश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाले राम भी इक्ष्वाकु वंश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में इक्ष्वाकु वंश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है, इक्ष्वाकु लोग प्रागार्य थे; क्योंकि वैदिक संहिताओं में उन्हें उस देश के प्राचीन लोगों में से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे

Probably they were also pre-Aryan because they are spoken of in the Vedic Sanhitas as a very ancient people of the land. Though Lord Rishabha belong to this Ekshvaku clan, he married a Vidyadhara princess. Therefore his queen and mother of Bharata, the first emperor of the land, was from a Vidyadhara clan. From this it may be inferred that the Ekshvaku dynasty and the Vidyadharas were living in the pre-Aryan period and maintained friendly relation as is evidenced by matrimonial alliance.

One other pre-Aryan clan in India must be noticed here. People belonging to Hari Vamsa lived in the western-most part of the land. Sri Krishna and Lord Arishta Nemi, both belong to this Hari Vamsa. Rulers belonging to this clan are also famous as the defenders of non-violent faith. From this cursory survey of the history of the past, it is clear this Ahimsa faith was prevalent in the land championed by the ruling families even before the advent of Aryans and probably it was the State religion in various parts of the country. The pre-Aryan Vidyadharas who were responsible for the pre-Aryan civilization and culture are assumed to be the ancestors of the Dravidians. If this assumption of the oriental scholars is accepted, then we have to conclude that it is Ahimsa faith or non-violent cult whch was the foundation of the ancient Dravidian culture and civilization.

—**The Religion of Ahimsa, pp. 37-38.**

तथापि एक विद्याधर राज-कन्या से भी उन्होंने विवाह किया था। इसलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वंश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग-आर्यकाल में यहां रहते थे और उनमे मैत्री सम्बन्ध था, जो उक्त विवाह-प्रसंग से जाना जाता है।

"एक और प्रागार्य वंश पर भी हमें यहां ध्यान देना चाहिए। हरिवंश के लोग देश के पश्चिम भाग में रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि दोनों हरिवंश के थे। इस वंश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप में सुविख्यात हैं। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आने से पहले भी अहिंसा धर्म इस देश में व्यापक था और वह राज-परिवारों के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागों में राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर, जो कि प्रागार्य सभ्यता और संस्कृकि के मूल पुरुष थे, द्राविड लोगों के पूर्वज माने जाते हैं। यदि पुरातत्त्व-गवेषक विद्वानों की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुंच ही जाते हैं कि वह अहिंसा धर्म ही है, जो प्राचीन द्राविड़ संस्कृति और सभ्यता का आधार था।"

डा० ए० सी० सेन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[१]—बुद्ध और महावीर के विचार वैदिक संस्कृति से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए है और यह बहुत सम्भव है कि इनमे से बहुत सारे विचारों का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग मे हो चुका था।

नवागत संस्कृति और श्रीकृष्ण

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह तो निर्विवाद है ही कि आर्य-संस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताएं उसमें नहीं थीं। विभिन्न देवों की हिंसा-प्रधान यज्ञों से उपासना करना और अपना भौतिक इष्ट मांगना, उस सस्कृति का प्रमुख स्वरूप था।[२] अहिंसा-मूलक और तपःप्रधान श्रमण संस्कृति, जैसा कि बताया गया, इस ब्राह्मण संस्कृति के आगमन से पूर्व यहां वर्तमान थी। दोनों संस्कृतियों का यह मेल बहुत ही संघर्षात्मक रहा है। एक दूसरे के प्रभाव को न्यून या समाप्त कर देने के लिए नाना उपक्रम चलते रहे हैं। वासुदेव कृष्ण को यह नवागत संस्कृति मान्य नहीं थी। वासुदेव कृष्ण और आर्यों के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलन्त संघर्ष रहे हैं।[३]

---

१. Elements of Jainism, p.2.

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा के आधार से

३. क. भगवान् बुद्ध पृ० २६ ख. ऋग्वेद ८-९६. १३-१५

घोर आंगिरस अर्थात् नेमिनाथ

उपनिषदों के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन रूप थी।[1]

धर्मानन्द कौशांबी का कहना है—जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण का गुरु (भाई) नेमिनाथ नाम का जैन तीर्थंकर था। इससे वह और घोर आंगिरस के एक ही व्यक्ति होने का सन्देह होता है।[2]

महावीर और बुद्ध की अहिंसा का मूल उद्गम

इतिहास ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जा रहा है, बाईसवे तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु भी कुछ एक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष सोचे जाने लगे हैं।[3] तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु तो ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में आ ही चुके हैं। अहिंसा के इतिहास में उनके चातुर्याम[4] धर्म का अध्याय अपूर्व कोटि का माना जाता है। यह भी अब निर्विवाद-सा होता जा रहा है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्व प्रभु का चातुर्याम धर्म ही है।[5] भगवान् श्री महावीर ऐतिहासिक पुरुष है और यह माना जाता है कि अहिंसा का सर्वांगीण विवेचन और सर्वांगीण विकास उनके युग में हुआ है।

प्रागार्य और आर्य संस्कृति में विनिमय

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वैदिक संस्कृति में पहले पहल पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के विचार नहीं थे, पर सहस्रों वर्षों के द्वन्द्व में दोनों संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संघर्ष की स्थिति में भी दो सभ्यताएं एक दूसरे से बहुत कुछ ले लेती हैं। आर्यों के इन्द्र, वरुण आदि देवों को किसी न

---

१. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३. १७. ४

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५७

३. The Religion of Ahimsa, p. 14.

४. सव्वातो पाणातिवातियाओ वेरमणं, एवं मूसावायाओ वेरमणं, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं।
—ठाणांग सूत्र ठा० ४

५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८-२९

किसी रूप में वहां की प्राग् आर्य-संस्कृति ने माना और आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अध्यात्म विचारों को आर्य-संस्कृति ने अपनाया। यही कारण हो सकता है कि ऋषभ[1], अरिष्टनेमि[2] आदि अनेक जैन तीर्थंकरों को वैदिक मन्त्रों में भी प्रणाम किया जाना मिलता है। दोनों संस्कृतियां नाना भेदों और नाना अभेदों का सयुक्त रूप बनकर जी रही हैं। वैदिक-परम्परा में उपनिषद्-सन्दोह में आत्म-वाद और अहिंसा का पर्याप्त विकास मिलता है। वहां हिंसात्मक यज्ञ अहिंसा की राह पकड़ लेते हैं, सांसारिक भोगोपभोग की कामनाएं, हेय हो जाती हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क से पूछती है—यदि यह सारी पृथ्वी धन से भर जाए तो क्या मैं उस धन से अमृत बन जाऊंगी? याज्ञवल्क कहते हैं—नहीं, धन से अमृत प्राप्य नहीं है। मैत्रेयी की भावना में अमृत ही उपादेय है, इसलिए वह कह देती है, जिससे मैं अमृत नहीं हो पाती, उस सबसे मुझे क्या[3]?

विभिन्न मतों में अहिंसा का स्वरूप

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के अप्रतिम विवेचक रहे हैं। यही कारण है, जैन धर्म अहिंसा का धर्म कहा जाता है।[4] वह युग अहिंसा की पराकाष्ठा का युग माना जाता है। भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी विस्तृत थी, उतनी गम्भीर भी थी। अब हमें यह देखना है, उस युग की अहिंसा का स्वरूप क्या था? वह निषेध-प्रधान थी या विधि-प्रधान? उसका सम्बन्ध आत्मा के उन्नयन से था या देह-पोषण से? उसका उद्देश्य श्रेयोऽवाप्ति था या लौकिक अभ्युदय?

---

१. अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां,
विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुं वे,
धिय इन्द्रयेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥
—अथर्ववेद कां० १९-४२-४

२. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
—सामवेद प्रपा० ९ अ० ३

३. बृहद् आरण्यक उपनिषद् २-४-२

४. सत्य की खोज में पृ० ५७

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—'असद् प्रवृत्ति या असद् प्रवृत्ति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण-वियोजन।'[1] इसके विपरीत हिंसा न करना, किसी जीव को दुःख या कष्ट न देना अहिंसा है। यह अहिंसा की व्यौत्पत्तिक व्याख्या हुई, जो कि अहिंसा के नकारात्मक रूप को अभिव्यक्त करती है। अहिंसा की विविध परिभाषाओं में भी हमें उसका पाप-निवर्तक रूप ही मिलता है।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं—'प्राणिमात्र के प्रति संयम अहिंसा है।'[2]

भगवान् बुद्ध कहते हैं—'जंगम और स्थावर प्राणियों का प्राणघात न स्वयं करे, न किसी अन्य से करवाए और न किसी करने वाले का अनुमोदन करे।[3]'

पातंजल योग-दर्शन के अनुसार अहिंसा का स्वरूप है—'सब प्रकार से सब कालों में सब प्राणियों के प्रति अनभिद्रोह।'[4]

ईश्वर गीता के अनुसार—'मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुंचाना अहिंसा है।'[5]

महाभारत के अनुसार—मन, वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है।[6]

---

१. असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश ७ सू० ४, ५

२. अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो।

—दस० अ० ६ गाथा ६

३. पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमन्या हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

—सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त

४. तत्र अहिंसा सर्वथा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः।

—पातंजल योगसूत्र भाष्य २.३०

५. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः॥

६. कर्मणा न नरः कुर्वन् हिंसा पार्थिव सत्तम।
वाचा च मनसा चैव ततो दुःखात् प्रमुच्यते॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा त्यजेद् वाचाथ कर्मणा।

—अनुशासन पर्व ११६.१

शांकर भाष्य और पातञ्जल भाष्य में अहिंसा दृष्टि

लगभग सभी परिभाषाओं का हार्द एक है और वह निकेवल निवृत्ति-प्रधान है। लोकोपकार, सेवा, दया, करुणा के रूप में अहिंसा का जो विधि-पक्ष आज के समाज-प्रधान चिन्तन में माना जाने लगा है, उसकी छाया भी उक्त परिभाषाओं में कहीं प्रतिबिम्बित नहीं होती। व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र तत्र उन लोकोपकारक प्रवृत्तियों की भव-मुमुक्षा के विषय में अनर्हता भी स्पष्ट रूप से मिलती है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में 'तत्तु समन्वयात्' (४) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'ईष्ट' और 'पूर्त' को दक्षिण मार्ग-गमन अर्थात् अनुपादेय कहा है।[१] वहां ईष्ट[२] शब्द से आतिथ्य आदि को और 'पूर्त'[३] शब्द से वापी, कूप, तटाक, अन्नदान को अभिहित किया है। वर्तमान युग में जैसे कि कहा जाने लगा है, न मारना अहिंसा है और मरते को बचाना या उसका दुःख दूर करना दया है, यह द्वैध भी प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता में क्वचिद् ही रहा हो। पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार कहते हैं—जो अहिंसक है, वही दयालु है और जो दयालु है, वही अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही भगवत्-प्राप्ति रूप फल होना है।[४] सर्वभूत मित्र भी उसे कहा गया है, जो मांस नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नहीं करता।[५] इसका तात्पर्य यह नहीं कि अहिंसा के प्राचीन विवेचनों में बचाने रूप दया का कोई उल्लेख ही नहीं है। वैसे उल्लेख भी मिलते है, पर बहुत कम। जैन पुराण साहित्य में कपोत को बचाने के लिए अपने शरीर का मांस देने वाले मेघरथ राजा का वर्णन आता है। अवश्य वह एक रोमांचक घटना है, पर आगमोक्त न होने के कारण वह केवल एक कहानी रह जाती है। उस कहानी के विषय में यह कह सकना भी कठिन है कि मूलतः वह किस परम्परा की है और कब रची गई है। यह कहानी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में महाभारत में मिलती है। बौद्ध साहित्य में भी जीमूतवाहन के नाम से कुछ प्रकारान्तर से यह कथा मिलती है। इस कथा में भी मेघरथ राजा

---

१. तथा च याज्ञाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथागमनं केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनै धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्।

२. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदना चानुपालने।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥

३. वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

४. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

५. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

ने बाज का वध कर कबूतर को बचाने की बात नहीं सोची, जबकि एक या अनेक जीवों का वध कर दूसरे जीवों को बचा लेना भी लोग अहिंसा के अन्तर्गत मानने लगे हैं।

योगदर्शन में करुणा

योगदर्शनोक्त करुणा-भावना[1] का हार्द भी समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र[2] और विशुद्धिमार्ग[3] में भी मैत्री आदि उन्हीं चार भावनाओं का उल्लेख है। योगदर्शन भाष्यकार ने दुःखी प्राणी के प्रति दुःखजिहीर्षा की भावना से परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य-मल से चित्त का निवृत्त होना बतलाया है।[4] महर्षि पतंजलि की दृष्टि में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं[5], दुःखानुशयी[6] द्वेष हैं और द्वेषमूलक अभिनिवेश है; अतः यही करुणाशील की दुःख-जिहीर्षा है और यह नितान्त अहिंसात्मक है। दैहिक दुःखोपचार बहुधा रागानुशयी हो जाता है; अतः वह चित्त-मलों का निवारक नहीं हो सकता। श्री के० सी० भट्टाचार्य कहते हैं—करुणा का तात्पर्य है, दर्प और द्वेष से पीड़ित लोगों के प्रति समुद्भूत तटस्थता को दूर करना। दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान अनु-भव करने से स्वयं द्वेष या दुःख के भय से दूर हो सकता है।[7]

---

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्

—योगदर्शन १।३३

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।६

३. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

४. दुःखविषयेषु दुःखितेषु रजोंऽशमात्रान्वितेषु करुणां स्वस्मिन्निव परत्र दुःख-प्रहाणाभिलाषं भावयतः पुरुषस्य परापकारचिकीर्षाकालुष्यं निव-र्तते चित्तस्य।

—योगदर्शन भाष्य पाद १ सूत्र ३३

५. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः।

—योगदर्शन २।५

६. दुःखानुशयी द्वेषः।

—योगदर्शन २।८

७. Studies in Philosophy. Vol 1, p. 307

दुःखापनयन अर्थात् आत्मोन्नयन

दुःखी के आत्मिक दुःखों के निवारण में ही अन्योन्याश्रित चार भावनाएं विशुद्ध रह सकती हैं। दैहिक दुःख-मोचन में हिंसा, राग, असंयम-पोषण आदि दोषों के कारण चारों भावनाओं की सुरक्षा सम्भावित नहीं रह जाती। आचार्य बुद्धघोष एक रोचक उदाहरण के साथ विश्लेषण करते हैं—किसी स्थान पर जिसने मैत्री-भावना सिद्ध करली है, ऐसा साधक बैठा है। वहीं उसका बुरा चाहने वाला एक शत्रु, उसका हित चाहने वाला एक मित्र तथा एक तटस्थ; ये तीन व्यक्ति बैठे हैं। एक आततायी आया और बोला—चारों में से किसी एक को मुझे अवश्य मारना है। ऐसी परिस्थिति में वह साधक क्या सोचे? यह तो वह सोच ही कैसे सकता है कि इन तीनों में से किसी एक को वह ले जाए। साथ-साथ वह यह भी न सोचे कि बधक मुझे ही ले जाए, जिससे तीनों के प्राण बच जाएं। ऐसा सोचने से मैत्री-विरोधी पक्षपात का आपात होता है।[1] यह बात आचार्य बुद्धघोष ने मैत्री-भावना के परीक्षण में कही है। यदि इसे करुणा-भावना की कसौटी बनाई जाए तो भी फलितार्थ वही होगा। दुःखापनयन की बात आत्मोन्नयन से ही जुड़ी रह सकती है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने भावना ग्रन्थ 'शान्तसुधारस' में इस यथार्थता को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे करुणा-भावना के प्रसंग में कहते हैं—जो हितोपदेश का श्रवण नहीं करते, धर्म का स्मरण नहीं करते, उनके रोग कैसे दूर किए जा सकते हैं? क्योंकि रोगापनयन का तो एकमात्र मार्ग धर्म ही है।[2] हे आत्मन्! इस भव-कान्तार में अपार व्याधि-समूह को क्यों सहता है? जगदुपकारक जिनेश्वर का अनुसरण कर। वे ही रोगापहारक वैद्य है।[3]

---

१. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

२. शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथाऽपनेया, स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ६

३. सह्यत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम्॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ७

भगवान् श्री महावीर

निरामिषता और अहिंसात्मक यज्ञ

गवेषकों की दृष्टि में यह विषय अत्यन्त निर्विवाद हो गया है कि भारतीय अहिंसा-चिन्तन में जैन धर्म का अद्वितीय अनुदान रहा है। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु विवाह-प्रसंग पर होने वाले पशु-बध से अनुकम्पित होकर सदा के लिए विवाह से ही मुंह मोड़ लेते है।[1] २३वें तीर्थंकर पार्श्व प्रभु पंचाग्नि जैसी हिंसा-प्रधान तपस्याओं का रहस्योद्घाटन अपनी कुमारावस्था में ही कर देते हैं।[2] भगवान् श्री महावीर हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हैं और अहिंसा, तप आदि रूप यज्ञों का निरुपण करते हैं।[3] भारतीय अहिंसक समाज आज उनका कृतज्ञ है, यह मानकर कि उक्त तीर्थंकरों ने निरामिषता, वैवाहिक अनारम्भता, अहिंसात्मक तपः साधना और अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ की विधि उसे सिखलाई।

अहिंसा का उग्र निरूपण और सूक्ष्म समीक्षा

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के जितने उग्र निरूपक थे, उतने सूक्ष्म समीक्षक भी। उनकी अहिंसा के हार्द को पा लेना सहज नही है। एक ओर शास्त्रकार निःसंकोच भाव से कहते हैं—भगवान् ने समस्त जगत् के जीवों की रक्षात्मक दया के लिए प्रवचन कहा।[4] दूसरी ओर भगवान् कहते हैं—किसी राह भूले गृही को साधु मार्ग बताए तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[5] नावास्थित साधु किसी छिद्र से जल-प्रवेश

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२

२. पार्श्वचरित्र

३. तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र १२. ४४

४. इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

५. जे भिक्खू अण्ण उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा नट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाण मग्गं वा पवेएइ, संधि पवेएइ, मग्गाओ वा संधि पवेएइ, संधीओ-वा मग्गं पवेएइ, पवेयंतं वा साइज्जइ।
—निशीयसूत्र उद्देशक १३ वो २८

देखकर नावास्थित अन्य जनों से कहे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[1] अनुकम्पावश किसी त्रस प्राणी को बन्धन-मुक्त व बन्धन-युक्त करे या करने का अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[2] नमि राजर्षि कहते हैं—मैं मिथिला की ओर आंख उठाकर क्यों देखू ? मैं तो सुख में बसता हूं, सुख में जीता हूं, मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है।[3] चुलनीपिता श्रावक पौषध व्रत में अपने ही सामने किसी अनार्य पुरुष के द्वारा अपने तीन पुत्रों को मारे जाते देखता है, बचाने के लिए उठता नहीं, तब तक उसका पौषध व्रत अखण्ड है । ज्यों ही वह अपनी माता को बचाने के लिए उठता है, उसके नियम, व्रत, पौषध आदि भग हो जाते हैं ।[4] नन्दन मणिहारा लोक-सुख के लिए उद्यान बनाता है । मरण-

---

१. से भिक्खू वा (२) णावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुरिं णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बया आउसंतो गाहावइ एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेणं आसवति उवरुवरिं वा णावा कज्जलावेति एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अबहिलेसे एगंति गएणं अप्पाणं वियोसेज्ज समाहीए । तओ संजयामेव णावा संतारिमे उदए आहारियं रियेज्जा ।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १

२. जे भिक्खू कोलुण पडियाए अण्णयरियं तस पाण जायं तेण पासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ बंधतं वा साइज्जइ ।
जे भिक्खू बंधेल्लयं वा मुयइ मुयंतं वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र उद्देशक १२ बोल १-२

३. सुहं बसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं ।
चत्त पुत्त कलत्तस्स निब्बावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जइ ।

—उत्तराध्यन सूत्र अ० ६ गाथा १४-१५

४. तेणं तुमं इदाणिं भग्ग वए, भग्ग नियमे, भग्ग पोसहोववासे विहरसि, तेण तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायछित्तं पडिवज्जाहि ।। १७।। तएणं चुल्लणी पिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्यवाहीणिए तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ।। १८ ।।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ३

काल में षोडश रोगों से आतंकित होता है और वहां से मरकर स्व-निर्मापित पुष्करिणी में ही दर्दु र-योनि में उत्पन्न होता है।[1]

दानपरक करुणा

दान भी करुणा का एक अंग है; अतः उस सम्बन्ध से भी भगवान् श्री महावीर के निरूपण को आगमिक संदर्भों में देख लेना उचित है। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्त र में भगवान् श्री महावीर कहते हैं—तथारूप पाप-कर्म का प्रत्याख्यान न करने वाले असंयति, अव्रती को प्रासुक, अप्रासुक, एषणीय, अनैषणीय आहार, पानी आदि देने वाला श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का उपार्जन करता है; जरा भी निर्जरा धर्म नहीं करता।[2] जो साधु अन्यतीर्थी व गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] इसी प्रकार जो साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रमार्जन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

आनन्द श्रावक ने भगवान् श्री महावीर के सम्मुख श्रावक के बारह व्रत

---

१. ततेणं णंदे तेहिं सोलसेहिं रोयायंकेहिं अभिभूए समाणे णंदाए पुक्खरिणं ए मुच्छित्ते ४ तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धण बद्धयए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्ठे काल मासे कालं किच्चा णंदा पोक्खरिणीय दद्दुरीए कुच्छिंसि दद्दुरत्ताए उववण्णे ॥२६॥

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १३

२. समणोवासगस्सणं भंते ? तहारूवं असंजय, अविरय, अपडिहय, अपच्चक्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ। गोयमा ! एगंत सो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

३. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं वा ४ देयइ देयंतं वा साइज्जइ॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७८

४. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा देयइ देयन्तं वा साइज्जइ॥७९॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७९

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया, भगवन्! आज से मैं अन्य-तीर्थी, अन्यतीर्थियों के देव, अन्यतीर्थ में गए आर्हत भिक्षुओं को आहार, पानी आदि न दूंगा, न दिलाऊंगा। इस व्रत में मेरे छः आगार होंगे—१. राजा का आदेश, २. गण का आदेश, ३. बलवान का आदेश, ४. देवता का आदेश, ५. कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६. अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

शकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरन्तन गुरु गोशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नहीं की। गोशालक द्वारा भग-वान् श्री महावीर की प्रशंसा किए जाने पर उसने उसे पीठ, फलक, शय्या आदि दिए और कहा—मेरे धर्माचार्य की प्रशंसा की, इसलिए मैं यह सब दे रहा हूं न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव-रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना, साधु स्वयं और अनेकों जीव डूबे जा रहे हैं, उस स्थिति में नावा का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश-मुक्त करना

---

१. तएणं से आणंदे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जपभइओ अण्णउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि वा अण उत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहन्त चेइयाति १ वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालवित्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेण, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तीकंतारेणं।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० १

२. तएणं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जम्हाणं देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भेहिं सब्व भूतेहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहि। तम्हाणं अहं तुब्भे पड़िहारिएणं पीढ़ जाव सथारयणं उवनिमंतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश-मुक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते हैं, आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या ? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियों में मार्ग बताने, छिद्र बताने व जीवों को पाश-मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा, अपना कर्तव्य समझेगा; वहां छव काया के रक्षक साधु-साध्वियों के लिए यह अकरुणापरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नहीं सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिन्धु नहीं थे और उन्होंने जगज्जीव-रक्षा के लिए प्रवचन नहीं किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवों के प्रति औदासिन्य प्रधान निरूपण अहिंसा, करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की बात हो। इन सबका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है—प्राणीमात्र को दु.ख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, न अश्रुपात करवाना, न उन जगज्जीवों को ताड़न-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृतांग सूत्र मोक्ष-मार्ग अध्ययन में भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव-रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्बूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; ये षट्-कायिक जीव संसार में है। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष इन षट्कायिक जीवों को, सबको दु:ख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर, सबके प्रति अहिंसा करे। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

---

१. अत्थिणं भंते ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, हंता अत्थि। कहण्णं भंते ! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, गोयमा ! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टण-याए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइया णवि जाव वेमाणियाणं।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२. पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाय, णावरे कोइ विज्जइ ॥८॥

निरूपण से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है; भगवान् श्री महावीर का मोक्ष-पथ हिंसा-निवृत्तिरूप अहिंसा, दया और अनुकम्पा है। इसी अध्ययन में बताया गया है—किसी ग्राम या नगर में रहे साधु को कूप-खननादि और दानशालादि करने वाला पुरुष विनयपूर्वक पूछे—इनमे धर्म है या नहीं; ऐसे प्रश्न का आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु कुछ भी उत्तर न दे। इस प्रकार के समारम्भ में पुण्य है या पुण्य नहीं है, ऐसा भी वह नही बोले। यह दोनों प्रकार की भाषा महाभय की हेतु है। दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते है, उनकी रक्षा के लिए पुण्य है, ऐसा भी वह न बोले। क्योकि जो दान की प्रशंसा करता है, वह प्राणियों का बध चाहता है और जो दान का वर्तमान में निषेध करता है, वह अनेक जीवों की आजीविका-विच्छेद करता है। इस प्रकार जो साधु संयमस्थित रहता है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है।[1] उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाने के साथ कि षट्कायिक जीव ही सव्व जगज्जीव है और हिंसा न करना ही उनकी रक्षा रूप दया है; करुणापरक व लोकोपकारक दान के विषय मे भी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन प्रसंगों को केवल यह कहकर ही नही टाला जा सकता कि उक्त प्रकार के विधि-विधान साधुजनों के लिए हैं; गृहस्थ किसी राह भूले को मार्ग बताता है, नौका में छिद्र बताता है तो वह अनवद्य करुणा है और मोक्षाभिगमन का पथ है। उक्त विधि-विधानों के पालन की अनिवार्यता भले ही साधुजनों के लिए

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मंतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥९॥
उड्ढं अहेय तिरियं, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति निव्वाण माहियं ॥११॥

१. तहागिरं समारब्भ, अत्थि पुन्नं ति णो वए।
अहवा णत्थि पुन्नं ति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठाय जे पाणा, हम्मंति तस थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जेय दानं पसंसंति, वह मिच्छंति पाणिणं।
जेयणं पडिसेहंति, वितिच्छेयं करंति ते ॥२०॥
दुहओवि ते न भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

है; क्योंकि उन्होंने एकान्त अनवद्य आचरण का ही व्रत ले रखा है, परन्तु सिद्धान्त-निर्णय में उन विधि-विधानों को भुलाया नहीं जा सकता। गृहस्थ के लिए वे आचरण यदि अनवद्य अहिंसा की कोटि में आते होते तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मुनिजनों के लिए वे वैध न होते। एक गृहस्थ किसी अन्य मार्ग-भ्रष्ट गृहस्थ को मार्ग बताकर विशुद्ध अनुकम्पा करता है और एक मुनि वही कार्य कर अपना चातुर्मासिक संयम खो देता है; किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य होने की बात नहीं है। गृहस्थ के लिए भी उक्त प्रकार की अनुकम्पा करने के लिए कोई विधान या निरूपण करते तो अवश्य उस मन्तव्य का कोई मूल्य होता, पर जैन आगमों में ऐसा नहीं है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर की दृष्टि में उक्त प्रकार की लौकिक क्रियाओं में शुद्ध अनुकम्पा होती तो वे उसके करने में साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान न कर; किसी राह भूले को मार्ग न बताने में, नौकागत छिद्र न बताने में, दुःखित प्राणी को पाश-मुक्त न करने में चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान करते। पर उनकी अहिंसा और उनकी अनुकम्पा या जीव-रक्षा का शुद्ध रूप नकारात्मक ही था। उनकी दृष्टि में पृथ्वी, अप्, वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी समान थे। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा उनकी दृष्टि में अहिंसा कैसे हो सकती थी? उनकी दृष्टि में हिंसा न करना धर्म था, पर किसी की जीवन-कामना करना धर्म हो ही ऐसी बात नहीं थी। जीवन-कामना की उपादेयता में संयम और असंयम उनके मानदण्ड थे।

जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

सर्वसाधारण मे 'जीओ और जीने दो' का वाक्य जोरों से चल पड़ा है। अहिंसा पर बोलते समय इस उक्ति को प्राथमिकता दी जाती है और कहा जाता है, भगवान् श्री महावीर का उद्घोष था —'जीओ और जीने दो।' यह यथार्थ नहीं है। न तो भगवान् श्री महावीर के सूक्तों में इस उक्ति का कहीं स्थान है और न इसका भाव भी पूर्णतः उनकी प्ररूपणा के अनुकूल पड़ता है। इसमें 'जीने दो' से भी पहले 'जीओ' की बात कही है। भगवान् श्री महावीर के निरूपण में असंयत जीवन-कामना के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अध्यात्मपरायण भगवान् महावीर का तो उद्घोष इस विषय में यह रहा है—"णो जीवियं णो मरणावकंखी अर्थात् जीवन और मरण का आकांक्षी न हो।"[1] जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

१. क. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १३ गाथा २३
ख. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १० गाथा २४
ग. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० ३ उद्देशक ४ गाथा १५

ही वास्तविक अध्यात्म है। 'जीओ और जीने दो' के उद्घोष में उसका दर्शन नहीं होता।

आत्मोपचायक जीव-रक्षा

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर की अहिंसा का बहुमुखी चिन्तन करते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उनकी जीव-रक्षा निकेवल आत्मोपचायक थी न कि देहोपचायक। प्रश्नव्याकरण सूत्र में जहां कहा गया है—समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान् श्री महावीर ने प्रवचन कहा है; उसी अंगसूत्र में कुछ ही अन्तर पर कहा जाता है—भगवान् ने सब जीवों को असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनों से बचाने के लिए अपना प्रवचन कहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य-विन्यास पूर्व प्रस्तावित वाक्य-विन्यास का मानो भावार्थक अनुवाद हो गया है। सूत्रकृतांग सूत्र का 'सकामकिच्चं णिह आरियाणं' यह आर्द्र-कुमार-कथन भी यही अभिव्यक्त करता है। भगवान् अपने कर्म-क्षय के लिए तथा अन्य लोगों को तारने के लिए धर्मोपदेश करते हैं।[2] स्थविर कल्पी साधु को आत्मानुकम्पी होने के साथ-साथ परानुकम्पी[3] भी कहा गया है। मार्ग या नौका-छिद्र न बताना आदि विधानों का पालन करते हुए साधु आत्मानुकम्पी तथा परानुकम्पी इसी अपेक्षा से होता है कि वह किसी भी प्राणी का प्राण-वियोजन नहीं करता, न किसी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करता है। वह केवल पापाचारी को उपदेशादि द्वारा पाप-विमुख करता है, जैसा कि केवल आत्मानुकम्पी होने के कारण जिन-कल्पी साधु नहीं किया करता है।

निष्कर्ष यह होता है—अल्प या अनल्प हिंसा की भूमिका पर अहिंसा, करुणा,

---

१. इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

२. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा १७

३. चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा—आयाणुकम्पए नाम एगे णो परानुकम्पए।

टीका—आत्मानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थंकरः, आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविर-कल्पिकः। उभयानुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४ उद्देशक ४ सू० ३५२

दया, अनुकम्पा आदि शब्दों से अभिहित होने वाले मनोभाव अनवद्य नहीं रह सकते। हिंसा पर आधारित परोपकार, दान, करुणा, सेवा आदि हिंसा के ही विधि पक्ष हो सकते हैं, अहिंसा के नहीं।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं—हिंसादि कार्यरत हिंसक सामने हो तो साधु के लिए तीन ही मार्ग हैं—वह धर्मोपदेश करे, मौन रहे या वहां से उठकर चला जाए।[1]

षष्ठगुणस्थानवर्ती और षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती आत्माएं संयति हैं। पंचमगुणस्थानवर्ती सयतासंयति हैं और शेष चतुर्गुणस्थानवर्ती असंयति हैं। जहां दो ही भेद अपेक्षित हों, वहां प्राग् पंचगुणस्थानवर्ती आत्माएं असंयति की कोटि में हैं। असंयत जीवन-कामना स्वयं असंयम है और वह राग सम्भाव्य भी है, अतः यह अहिंसा का अंग नहीं है।

स्व और पर की अपेक्षा में अहिंसा का विधि पक्ष

अहिंसा का विधि पक्ष, स्व-अपेक्षा में स्वाध्याय, ध्यान, कषाय-विजिगीषा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का आचरण आदि रूप सत्प्रवृत्ति है। पर-अपेक्षा में उक्त सत्प्रवृत्तियों में किसी प्राणी को प्रेरित करना तथा उपदेशादि द्वारा हृदय-परिवर्तन कर उसे हिंसादि दुराचरण से बचाना है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही नावास्थित साधु का छिद्र न बताना, अरण्यगत को मार्ग न बताना, किसी प्राणी को अनुकम्पावश पाश-मुक्त या पाश-युक्त न करना आदि साध्वाचारशालीन रह सकते हैं। इन तथ्यो पर ही नमि राजर्षि की म्रियमाण जीवों की उपेक्षा राग-मुक्त स्थिति मानी गई है। चुलनीपिता का माता को बचाने के लिए उठना, रागात्मक दया होकर पौषध-भंग का निमित्त बना है। तथारूप असंयति, अव्रती को गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला दान एकान्त पाप का और संयति को दिया जाने वाला एकान्त निर्जरा का हेतु बताया गया है। इन्हीं तथ्यों पर आनन्द का अभिग्रह और शकडाल का 'न धम्मोत्ति वा, न तवोत्ति वा' का कथन संगत होता है।

आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के स्वरूप को यदि हम एक ही समुल्लेख में देखना चाहें तो वह प्रश्नव्याकरणसूत्र में मिलता है। वहां अहिंसा के साठ एका-

---

१. तओ आयरक्खा पन्नत्ता तंजहा—धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ, तुसिणीए वा सिया उट्ठित्ता वा आया एगंत मवक्कमेज्जा।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३ उद्देशक ४

र्थक नाम बतलाये गए हैं—निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, विरति, दया, विमुक्ति, शान्ति, रक्षा, यतना, अभय, अमाघात (अमरत्व) आदि ।[1] यहां अधिकांश नाम निवृत्ति के सूचक हैं । इनका फलित स्वतः सिद्ध है कि हिंसा-निवृत्ति अहिंसा है और दया, रक्षा आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं ।[2] अस्तु, अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि छोटी-बड़ी विभिन्नताओं में भी अहिंसा और करुणा का आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप दैहिक और ऐहिक न होकर परम आध्यात्मिक ही था । लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते है—हिन्दुस्तान में तात्कालिक प्रचलित धर्मों में से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधान ही थे ।[3] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते है—उपनिषद्कालीन प्राचीन साधना में जीवन-मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है । ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है । जीवन-मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुःख की निवृत्ति के लिए उपाय रूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी । करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियां गौण समझी जाती थी । जीवन-मुक्त महापुरुष ही संसार-ताप से पीडित चीजों के उद्धार के लिए अधिकारी थे । वर्तमान जगत् में करुणा के जितने ही आकार दिखाई पड़ते है, वे आवश्यक होते हुए भी मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं ।[4]

आत्म-उन्नायकता से देहोपचायकता की ओर

आत्मोन्नायक अहिंसा में देहोन्नायकता कब से और क्यों ?

यह हमने देखा कि प्राचीन अहिंसा-चिन्तन में आत्मिक ऊर्ध्व संचरण की चिन्ता ही प्रमुख है । दैहिक अपेक्षाओं को वासना-परिणाम मानकर व्यक्ति को उनसे ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित किया गया है । भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने अठाणवे भाइयों के राज्य छीन लिए गये । वे अठाणवे भाई असहाय और अनाथ

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र संवरद्वार

२. एवमादीणि नियमगुण निम्मियाइं पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र १ संवरद्वार

३. गीता रहस्य पृ० ५१०

४. बौद्ध धर्म-दर्शन भूमिका पृ० १७

स्थिति को प्राप्त होकर अपने पूर्व के पिता और वर्तमान के तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु के पास गए और अपने राज्योपभोग छीन लेने की बात कही। आदिनाथ प्रभु ने उन्हें इन्द्रिय-भोगों से पराङ्मुख करते हुए कहा—सम्यग् बोध को प्राप्त करो। प्रेत्यलोक में वह दुर्लभ है।[1] समस्त बन्धु प्रतिबुद्ध हुए और राज्य-लालसा को ठुकरा कर सयति बने। अन्ततोगत्वा दैहिक दुःख-मुक्ति की अपेक्षा आत्मिक क्लेश-मुक्ति ही यथार्थ, व्यापक और उपयोगी है। पर यहा तो यही प्रसगोपात्त है कि अहिंसा के इस आत्मोन्नयन-प्रधान स्वरूप के साथ भारतीय धर्मों में देहोन्नयन की बात कब से प्रमुख बनी और उसके प्रेरक आधार क्या हैं?

निवर्तक और प्रवर्तक : एक संदिग्ध शब्द प्रयोग

अहिंसा की इस द्विविधता को कुछ विचारकों ने निवर्तक अहिंसा और प्रवर्तक अहिंसा के शब्द-प्रयोग से अभिहित किया है।[2] इस तात्पर्य में कि निवृत्ति-प्रधान अहिंसा निवर्तक अहिंसा और प्रवृत्ति प्रधान अहिंसा प्रवर्तक अहिंसा; कदाचित् यह शब्द-प्रयोग यथार्थ भी माना जा सके, परन्तु जब कि भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी निवृत्तिमूलक है, शुभयोग की अपेक्षा में उतनी प्रवृत्तिमूलक भी, तब उसे निकेवल निवर्तक शब्द से अभिव्यक्त करने मे यर्थाथता का अवबोध नहीं होता। साथ-साथ प्रवृत्तिमूलक अहिंसा का विकास कहकर निवर्तक शब्द का प्रयोग करने में अहिंसा के असन्निवृत्तिमूलक और सत्प्रवृत्तिमूलक स्वरूप की कुत्सा भी अभिव्यक्त होती है। दैहिक दुःख-निवृत्ति का स्वरूप स्वभावतः ही सीमित होता है। प्रवर्तक दया कुछ ही व्यक्तियों तक पहुच सकती है। जीवन-मुक्त वीतराग की करुणा मोह-मुक्ति का बोध-दान बनकर अगणित लोगों को सुखी करती है। इसी करुणा का विस्तार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु से भगवान् श्री महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने किया है और समस्त विश्व उनकी करुणा से उपकृत हुआ है। सहस्रों वर्ष पश्चात् आज भी हम उनकी बोध-गंगा के कृतार्थ करुणापात्र हो रहे हैं। क्या यह सोचा भी जा सकता है कि उनकी वह अहिंसा निवर्तक या निष्क्रिय थी? उक्त शब्द-विन्यास के प्रयोक्ता प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी स्वयं भी प्रसंग-भेद से तथ्यरूप में इस बात को स्वीकार करते है। धर्मानन्द कोशाम्बी की धारणाओं की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—भगवान् पार्श्वनाथ की अहिंसा को वे केवल निषेधात्मक और बुद्ध की

---

१. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

—सूत्रकृतांगसूत्र श्रु १ अ० २ गाथा १

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास

अहिंसा को विधायक कहते हैं, जो ठीक नहीं लगता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम त्रिविध थे। उनमें जैन-परिभाषा के अनुसार समिति या सत्प्रवृत्ति का तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट संघ था, ऐसा स्वयं कोशाम्बीजी भी स्वीकार करते हैं। यदि सारा त्यागी संघ केवल निष्क्रियरूप से बैठा रहता और कुछ भी काम नहीं करता तो जनता में घर की हुई हिंसा-प्रधान यज्ञों की संस्था को किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता।...भगवान् महावीर से पहले जैन-परम्परा में पूर्व श्रुत के अस्तित्व के और कर्म-तत्त्व विषयक कुछ और विशिष्ट साहित्य होने के प्रमाण भी मिलते है, जो कि पार्श्वनाथ के संघ की निष्क्रियता के विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।[1]

प्रवर्तक और निवर्तक यह शब्द युग्म तो तभी यथार्थ प्रयुक्त हो सकता है जब एक पक्ष प्रवृत्तिमात्र का निषेध करता हो और दूसरा पक्ष निवृत्तिमात्र का। वस्तुस्थिति यह है कि किसी एक का भी दूसरे में पूर्ण निषेध नहीं है। निवृत्ति की विशुद्धता में किसी को आपत्ति नहीं है। उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को योजित करने का ही केवल वांछित अभिप्राय है। निवृत्ति-प्रधान माने जाने वाला पक्ष भी केवल असद्प्रवृत्ति का निषेध करता है। सत्प्रवृत्ति के लिए वहां भी मुक्त संचार है। प्रवृत्ति-मात्र को प्रवृत्तिप्रधान पक्ष भी उपादेय कोटि में नहीं मानता। वहां भी सत्-असत् का विवेक तो अपेक्षित है ही। अधिक-से-अधिक प्रवर्तक पक्ष गीता का कर्म-योग है। वहां भी फलाशा-रहित और करणीय[2] प्रवृत्ति का ही आचार-कोटि से माना है। यथार्थ भेद प्रवृत्ति और निवृत्ति का नहीं ठहरता। वह ठहरता है, सत्प्रवृत्ति की व्याख्या का। एक पक्ष की व्याख्या में कुछ एक प्रवृत्तियां सत् है तो दूसरे पक्ष की व्याख्या में वे असत्। इस साधारण भेद को व्यक्त करने के लिए प्रवर्तक धर्म और प्रवर्तक अहिंसा, निवर्तक धर्म और निवर्तक अहिंसा आदि प्रयोग संदिग्ध शब्द-विन्यास हैं। भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का औषधोपचार करना प्रवर्तक कही जाने वाली अहिंसा का मुख्य रूप है। व्यसनी को व्यसन-मुक्त करना या भूख-प्यास, रोगादि से व्याकुल को उन देहार्तियों का सामना करने के लिए प्रखर आत्म-बल देना आदि निवर्तक कही जाने वाली अहिंसा (दया) है। दया के दोनों रूपों में व्यक्ति और समाज के

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, अवलोकन पृ० २१

२. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
—गीता अ० ६ श्लोक १

लिए कौन-सा रूप अधिक उपयोगी व अध्यात्म-सम्मत है, इसकी चर्चा यहां नहीं करेंगे। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उक्त दोनों स्वरूपों में एक दैहिक, दूसरा आत्मिक प्रत्यक्ष है। अतः अहिंसा (दया) के इस एक स्वरूप को देहोपचायक तथा दूसरे स्वरूप को आत्मोपचायक अथवा तत्सम अन्य शब्दों में कहा जाए तो अधिक यथार्थ लगता है।

भगवान् बुद्ध और महायान सम्प्रदाय की करुणा

गौतम बुद्ध के विधायक उपदेश

उपनिषदों व भगवान् श्री महावीर की आत्मोपचायक अहिंसा में देहोपचायकता का आरम्भ भगवान् बुद्ध की अहिंसा से माना जा सकता है। बौद्ध धर्म उत्कट देह-दमन और उत्कट भोगवाद के बीच का मध्यम मार्ग था। अतः उसमें विधायक उपदेशों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। महामंगलसुत्त में भगवान् बुद्ध कहते हैं—माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का संग्रह, दान, धर्म-चर्या, अनवद्य कर्म ये उत्तम मंगल हैं। यह विधायकता बुद्ध के मूलभूत उपदेशों में नाममात्र से ही रही है, पर आगे चलकर हीनयान और महायान के निर्वाण विषयक सैद्धान्तिक मतभेदों के आधार पर परम्परा विशेष में वृद्धिगत हुई है। वह वृद्धि भी आचार सम्बन्धी नियमों में शिथिलता चाहने वाली परम्परा में ही हुई है। इतिहास बताता है—राजगृह में बौद्ध संघ की जो प्रथम महासभा हुई थी, उसी में नियमों का बन्धन कुछ ढीला करने का प्रयत्न किया गया था; किन्तु उस प्रयत्न में सफलता न मिली। वैशाली की सभा में फिर प्रयत्न किया गया। उस सभा में स्थविरों ने उस प्रयत्न को दूषित ठहराया। उससे असन्तुष्ट होकर सुविधा के इच्छुकों ने महासंगीति नाम से एक पृथक् सभा की। इसके प्रवर्तक महासंघिक नाम से प्रख्यात हुए, क्योंकि उस सभा में ऐसे ही भिक्षुओं की संख्या अधिक थी। महासंघिक लोगों का सम्प्रदाय महायान नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार स्थविरवादियों का जो संगठन हुआ, वह हीनयान सम्प्रदाय कहलाया।[1]

हीनयान और महायान के मोक्ष सम्बन्धी विचार

हीनयान की मान्यता के अनुसार निर्वाण वैयक्तिक है, इसलिए दुःख-क्षय का साधनरूप धर्म और उसके भेद विशेष, वैयक्तिक हैं। महायान के अनुसार निर्वाण

---

१. बौद्ध-धर्म पृ० ६१, विशेष विवरण के लिए बौद्ध धर्म-दर्शन खण्ड १, अ० ४ से १० तक, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४७ से ६३८

सामाजिक है। उसके कथनानुसार बुद्ध ने अपने दुःख-क्षय के लिए कुछ भी नहीं किया। व्यक्तिगत मोक्ष को उन्होंने रस-विहीन माना।[1] जब तक एक भी प्राणी दुःख-युक्त है, तब तक मोक्ष काम्य नहीं है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त नहीं किया, अपितु अब भी वे योन्यन्तर से सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने में संलग्न हैं।

महायान सम्प्रदाय का करुणा व लोकोपकार सम्बन्धी अभिमत

मोक्षवाद की इस सामुदायिक धारणा पर परानुग्रह-वृत्ति का विकास हुआ। महायान बौद्ध-परम्परा का एक प्रभावशाली और समर्थ सम्प्रदाय था। प्रारम्भ में भी वैशाली की संगीति मे केवल सात सौ साधु एकत्रित थे और महासंघिकों की कोशाम्बी में होने वाली परिषद् में दस सहस्र बौद्ध भिक्षुओं की उपस्थिति थी।[2] आगे चलकर यह सघ और भी व्यापक व प्रभावशाली बना तथा करुणा व लोकोपकार के अपने अभिमत स्वरूप को जन-जन तक पहुंचाने मे सफल हुआ। डा० हरदयाल का कथन है—महायान के उद्‌गम में अनेकों देश-काल-जन्य प्रभावों के साथ गीता और ईसाई धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव भी हेतुभूत था।[3] यह कथन स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि गीता कर्म-योग के नाम से और ईसाई सेवा के नाम से लोक-संग्राहक प्रवृत्तियों पर बल देते ही है। आश्चर्य केवल यही रह जाता है, महायान के आधारभूत ग्रन्थों में दुःख-निवारण की चर्चाए मिलती है, पर उनसे ऐसा नहीं लगता, वे अनाध्यात्मिक है। यहां अधिकांश चर्चा बन्धन-रूप आन्तरिक क्लेशों के निवारण की ही उपलब्ध होती है। महायान अभिधर्म संगीति-शास्त्र मे महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है——

---

१. क—एव सर्वमिद कृत्वा यन्मया सादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तकृत् ॥३.६॥
मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्? ८.१०८॥
——बोधिचर्यावतार

ख—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम् ॥

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४६

३. The Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, pp. 39-40.

१. महायान वस्तुतः महान् और विशाल है, क्योंकि उसमें जीव-मात्र की मुक्ति का सन्देश है।

२. महायान में प्राणीमात्र के लिए त्राण का विधान है।

३. महायान का लक्ष्य बोधि-प्राप्ति है।

४. महायान का आदर्श बोधि-सत्त्व है, जो समस्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है।

५. महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने उपाय-कौशल से नाना प्रकार के प्राणियों को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है।

६. बोधि-सत्त्व की दस भूमियों का महायान में विधान है।

७. महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ है।

इन सातों विशेषताओं में व्यवहारिक जीवन के लोकोपकारक कार्यों का कोई स्पष्ट उल्लेख नही है।

भगवान् बुद्ध और क्षुधार्त्त व्यक्ति

एक बार भगवान् बुद्ध के पास एक क्षुधार्त्त व्यक्ति आया। भिक्षु उसे धर्मोपदेश देने लगे। वह उपदेश-श्रवण में अन्यमनस्क था। भगवान् बुद्ध ने कहा— पहले इसे रोटी खिलाओ, फिर धर्मोपदेश करो। वैसा ही किया गया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है, क्षुधा, तृषा आदि से जो मानसिक क्लेश उत्पन्न होता है, उसका निवारण किए बिना धर्म-बोध अंकुरित नहीं होता। भोजन, पानी उस बोध को अंकुरित करने में हेतुभूत हो जाते हैं। धर्म और धर्म के अवान्तर हेतु ये सर्वथा दो बातें हैं। शुभ अनुष्ठान के भी अवान्तर हेतु शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के हो सकते है। बहुत सम्भव है, भगवान् बुद्ध की इस हेतुरूप अपेक्षा को सामान्य जीवन व्यवहार में वास्तविक अध्यात्म का स्थान मिल गया हो।

सम्राट् अशोक के शिलालेखों में

सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। एक ओर उनमें मिलता है—

१. माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। यही प्राचीन रीति है।[1]

२. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यों

---

१. अशोक के धर्म लेख, ब्रह्मगिरी, द्वितीय शिलालेख पृ० ६६

की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियां भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहां-जहां नहीं थीं, तहां-तहां लाई और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहां-तहां नहीं थे, सब जगह लाए और रोपे गए हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुएं खुदवाए गए हैं।[1]

३. प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से बन्धुओं का आदर, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर, माता-पिता की सेवा तथा बूढ़ों की सेवा बढ़ गई है।[2]

४. वृद्धों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण-दान देना चाहिए।[3]

इन समस्त उल्लेखों का हार्द एक दूसरे सम्मुलेख से भली-भांति पकड़ा जा सकता है, जिसमें सम्राट् अशोक कहते हैं—सडकों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाए, आम्र वृक्ष की वाटिकाएं लगवाईं, आध-आध कोस पर कुएं खुदवाए, सराए बनवाई और जहां-तहां पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पौसले (आपान) बैठाए। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।[4]

इस उल्लेख से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् अशोक ने विशेषतः धर्माचरण का हेतु मानकर यह सब व्यवस्था की है। तत्त्व-स्थिति में और व्यवहार में बहुत बार इस प्रकार के मौलिक भेद पड़ जाते हैं। सर्वसाधारण मूलग्राही न होकर स्थूलग्राही होते हैं। दान के चित्त, वित्त और पात्र[5] तथा देश काल[6] सम्बद्ध तात्त्विक स्वरूप शास्त्रों में रह गए है और सर्वसाधारण ने दानमात्र को ही मोक्षप्रद मानकर अपना लिया है। भगवान् बुद्ध और महायानी करुणा-निरूपण के साथ भी यही घटित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

---

१. अशोक के धर्म-लेख, द्वितीय शिलालेख पृ० १२१

२. अशोक के धर्म-लेख, चतुर्थ शिलालेख पृ० १४८

३. अशोक के धर्म-लेख, अष्टम शिलालेख पृ० १६७

४. अशोक के धर्म-लेख, सप्तम स्तम्भलेख (दिल्ली-टोपरा) पृ० ३७४-७६

५. दुलहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।

—दसवैकालिकसूत्र अ० ५ गा० १००

६. देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

—गीता अ० १७ श्लोक २०

महायान और लोक-संग्राहकता पर लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तो निवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्म से महायान जैसा प्रवृत्ति लक्षण सिद्धान्त आविर्भूत हो सकता है, यह मानने को भी प्रस्तुत नही हैं। उनका कहना है—इस तत्त्व का विस्तृत प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कहीं भी नहीं किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक-संग्रह के लिए प्रवृत्ति-धर्म ही को स्वीकार करे। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है कि जिस प्रकार मूल बौद्ध धर्म में बासना को क्षय करने का निरा निवृत्ति-प्रधान मार्ग उपनिषदों से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पंथ निकला, तब उसमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्व भी भगवद्गीता से ही ले लिया गया होगा।[1]

अगले संदर्भ में वे लिखते है—नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म में महायान पंथ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था, बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधार पर महायान पंथ निकला है। वे चार बातें इस प्रकार हैं—

१. केवल अनात्मवादी तथा संन्यास-प्रधान मूल बौद्धधर्म ही से आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नही है।

२. महायान पंथ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

३. गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों की महायान पंथों के मतों से अर्थतः तथा शब्दशः समानता है।

४. बौद्ध धर्म के साथ तात्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पंथों में प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्ग का प्रचार न था।[2]

अन्यान्य इतिहासकारों का भी अभिमत है कि भगवान् बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाला तो हीनयान सम्प्रदाय ही है। महायान तो बौद्ध धर्म में अविद्यमान तथा बीजरूप से विद्यमान लोक-संग्राहक धारणा को संगृहीत या विस्तृत करने वाला सम्प्रदाय है। कुछ भी हो भारतवर्ष में वह लोकैषणा पूरक अहिंसा (करुणा) को अग्रसर करने में बहुत सफल रहा है, यह तो निर्विवाद है ही।

---

१. गीता रहस्य पृ० ६११

२. गीता रहस्य पृ० ६१३

गीता की लोक-संग्राहक दृष्टि

भक्तिवाद की भूमिका में मौलिक अन्तर

गीता प्राय: समस्त वैदिक परम्पराओं का एक मान्य ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि अनेकों साधना-भेदों को मान्यता दी गई है। वैसे वे भेद-प्रभेद किंचित् स्वरूपान्तर से सभी भारतीय धर्मों में विद्यमान हैं। ज्ञान, निवृत्ति, संन्यास, जैनों और बौद्धों में उत्कृष्ट स्थिति से विकसित हुए हैं, यह सर्व विदित है। भक्ति-मार्ग का विकास ईश्वर कर्तृत्ववादी सम्प्रदायों में विशेष रूप से हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। सर्वापर्ण और सर्वोत्सर्जन किसी दूसरे के प्रति तभी पूर्णता प्राप्त कर सकते है, जबकि किसी सत्ता विशेष के प्रति कर्ता-धर्ता होने की निष्ठा रोम-रोम में धंस गई हो। वही सब कुछ मेरा करेगा, यह विश्वास अटल हो गया हो। जैनों और बौद्धों में कर्तृत्ववाद नही है, फिर भी भक्तिवाद के लिए समुचित स्थान है। वहा साधक प्रतिदिन कहता है—"अरिहन्ते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू शरणं पवज्जामि, केवली पन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि[1] अर्थात् मैं अरिहन्त, सिद्ध, साधु व केवली-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हूं.।" "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरण गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि[2]—मैं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हूं, सघ की शरण जाता हू।" यह जैनों और बौद्धों की भक्ति का निदर्शन है। यहां साधक यह मानकर चलता है कि भगवान् को मैं अपनी आत्म-परिणति से अपने लिए प्रेरक बना रहा हूं, पर मेरी इस भक्ति से तुष्ट होकर भगवान् मेरे लिए कुछ भी करने नहीं आएगे। भक्ति की भूमिका का यह श्रमण और वैदिक धाराओं मे मौलिक अन्तर है। वैदिक परम्पराओ में अनेकों भक्तों के भगवत्-साक्षात्कार होने की चर्चाए है, पर जैन व बौद्ध परम्पराओ में ऐसी सम्भावनाओं के लिए कोई स्थान नही है।

अनासक्ति के नाम पर भोगवाद का आलम्बन

कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता के कर्मयोग का व्यापक होना इसलिए भी सहज था कि वह लोक-रुचि के अनुकूल पड़ता है। मोक्षार्थी मनुष्य यह क्यों नहीं चाहेगा कि उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग न करना पडे और केवल अनासक्ति की शर्त पर ही उसे वह मिल जाए। अनासक्ति की शर्त भी सीधी बात तो नही है और समस्त दैहिक कर्म करते हुए व्यक्ति सर्वथा

---

१. आवश्यक सूत्र, मंगल पाठ

२. भगवान् बुद्ध पृ० १७७

अनासक्त रह सके, यह बुद्धिगम्य भी कहां तक है, यह एक विचारणीय विषय है। राजर्षि जनक का नाम लेकर आज लोक-प्रवाह कर्मयोग की दिशा में चल पड़ा है, पर उस प्रवाह में कितने लोग होंगे जो दाएं हाथ पर चन्दन और बाएं हाथ पर अग्नि का स्पर्श होने पर भी दोनों की समानानुभूति करते हों; जैसा कि जनक ने अपने विषय में कहा था। भले ही कुछ लोग अपने जीवन-व्यवहार में अनासक्ति का विशिष्ट परिचय दे रहे हों, सामान्यतः तो यह अनासक्तिवाद अधिक लोगों के लिए भोगवाद पर चलते रहने का एक आलम्बन बन गया है। जनतन्त्र के युग में एक पद पर दसों लोग भूखे भेड़िये की तरह झपटते हैं, यह है आज का निष्काम कर्मयोग। व्याख्याएं कितनी ही सुन्दर हों, सिद्धान्त की कसौटी तो उसका व्यवहार है।

गीता प्रवृत्तिमार्गी ग्रन्थ या निवृत्तिमार्गी ?

गीता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाला ग्रन्थ है, यह भी निर्विवाद विषय नहीं है। वेदान्त के अनेकानेक आचार्यों ने इस पर निवृत्ति-प्रधान भाष्य लिखे हैं। शंकराचार्य ने भी गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है—इस गीता-शास्त्र का प्रयोजन संक्षेपतः परम निःश्रेयस् की प्राप्ति ही है। परम निःश्रेयस् का तात्पर्य उनके शब्दों में सहेतुक संसार की आत्यन्तिक शान्ति ही है।[1] परम निःश्रेयस् की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह सर्वकर्म-संन्यास-पूर्वक आत्म-ज्ञान-निष्ठारूप धर्म से ही सम्भव है।[2]

सारांश यह है, आचार्य शंकर के मतानुसार गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। वर्तमानयुग में श्री लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी प्रभृति आधुनिक विचारकों ने गीता को कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है और इसीका व्यापक विवेचन उन्होंने अपने साहित्य में किया है। वस्तुस्थिति यह है, गीता ने कर्म और ज्ञान इन दोनों ही विषयों पर अधिक बल दिया है। कर्म-प्रेरणा के प्रसंग में अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं—कर्म में ही तेरा अधिकार है,[3] इसलिए योगस्थ होकर तू कर्म कर।[4] कर्मों के अनारम्भ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं कर सकता और न केवल

---

१. अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परम निःश्रेयस् सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। —गीता भाष्य का उपोद्घात

२. तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। —गीता भाष्य का उपोद्घात

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते—गीता-२. ४७

४. योगस्थः कुरु कर्माणि—गीता-२. ४८

संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[1] बिना कर्म किए कोई क्षण-भर भी नहीं रह सकता।[2] इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[3] बिना कर्म किए तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी।[4] इसलिए तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक में बन्धन का कारण है[5]। अतः अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर।[6] देख, जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की, अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।[7] लोक-संग्रह की दृष्टि से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए।[8] ज्ञान पूर्वक पूर्व काल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है, इसलिए पूर्वजों का अनुसरण करता हुआ तू कर्म कर।[9] करणीय कर्म

---

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
—गीता-३.४

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
—गीता-३.५

३. नियतं कुरु कर्मत्वं।
—गीता-३.८

४. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।
—गीता-३.७

५. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
—गीता-३.९

६. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
—गीता-३.१९

७. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयाः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
—गीता-३.२०

८. कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।
—गीता-३.२५

९. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥
—गीता-४.१५

को जो आसक्ति छोड़कर करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोड़ने वाला।[१] इसलिए जिसे संन्यास कहा गया है, उसे तू योग समझ।[२] यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं।[3] इन्हें तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर, यह मेरा निश्चित मत है।[४] कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है[५], और काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है।[६] इसलिए तू कर्म कर।

कर्म पर इतनी पुनरुक्तियों के साथ मुहुर्मुहु बल देने से ऐसा लगना बहुत सहज है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का ही ग्रन्थ है; ज्ञान-परायण निवृत्ति मार्ग का नहीं। किन्तु ज्यों ही हम उसकी निवृत्ति-परायण ज्ञान-मीमांसा की ओर दृष्टि-पात करेंगे तो दोनों पलड़े सम होते लगेंगे। वहां ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है।[७] ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्मीभूत होते है।[८] वहां ज्ञान के सदृश पवित्र

१. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
—गीता-६.१

२. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
—गीता-६.२

३. यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
—गीता-१८.५

४. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
—गीता-१८.६

५. यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
—गीता-१८.११

६. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
—गीता-१८.२

७. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
—गीता-४.३३

८. क—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
—गीता-४.३७

ख—ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि तमाहुः पण्डितं बुधाः।
—गीता-४.१९

कुछ नहीं है।[1] ज्ञानी स्वयं भगवान् हो जाता है।[2] ज्ञानरूपी नाव के द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से पार होता है।[3] ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।[4] इत्यादि अनेकानेक कथनों से गीतोक्त ज्ञान-मार्ग भी कर्म-मार्ग से हल्का नहीं रह जाता। कर्म और संन्यास में कर्मयोग ही विशेष है;[5] यह एक उक्ति कर्मयोग के पलड़े को अवश्य थोड़ा भारी कर देती है। शंकराचार्य का अभिमत है—कर्मयोग के पक्ष में गीता का यह तो केवल श्लाघा वचन ही है अर्थात् वह केवल अर्थवादात्मक है। वास्तव में तो संन्यास-मार्ग ही श्रेष्ठ है।[6] रामानुज भाष्य में भी इस कथन को केवल अर्थवादात्मक माना है।[7] कुछ एक तटस्थ विद्वानों का भी अभिमत है कि गीता का चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावादी न हो जाए। इस प्रकार गीता का साध्य तो परम निःश्रेयस्रूप ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म; तभी गीता को उपनिषदों का सार[8] कहा जा सकता है।

ज्ञान और कर्म की इस प्राचीन चर्चा को विस्तृत करना यहां आवश्यक नहीं है। गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है या कर्मयोग का, यह विषय भी विवादास्पद है; पर इतना तो निर्विवाद है ही कि गीता ने लोक-संग्राहक प्रवृत्ति पर अधिक-से-अधिक बल दिया है और भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र को प्रभावित किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है, महायान धर्म की अपेक्षा भी धर्म के क्षेत्र में लौकिक प्रवृत्तियों को स्थान देने में गीता का स्थान उससे भी अधिक रहा है।

---

१. नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
—गीता-४.३८

२. ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
—गीता-७.१८

३. सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।
—गीता-४.३६

४. ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
—गीता-४.३९

५. तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।
—गीता-५.२

६. गीता, शांकर भाष्य ५.२

७. गीता, रामानुज भाष्य ५.१

८. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधिर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

ईसाई धर्म का प्रभाव

विगत दो सहस्राब्दियों में ईसाई धर्म भी वर्तमान विश्व के कोने-कोने तक फैला है। बाइबिल में भी शरीर-सेवा अर्थात् देह-दया पर अधिक-से-अधिक बल दिया गया है। कुछ एक पाश्चात्य विद्वानों का यह भी अभिमत रहा है कि लोक-सेवा का सिद्धान्त बाइबिल से गीता में आया है।[1] यह यथार्थ न भी हो तो भी देह-दया और शरीर-सेवा के विचारों का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर तो अवश्य किसी-न-किसी रूप में पड़ा ही है।

भारतीय अध्यात्म में निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति ने किस प्रकार स्थान लिया, इस तथ्य की प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इस प्रकार समीक्षा करते हैं—"बुद्ध ने कहा—ब्रह्म सारे जगत में है। हमारे जीवन में जो समानता है, वही ब्रह्म है और इसी ब्रह्म के अनुसार जीवन बनाने को उन्होने ब्रह्म-बिहार का नाम दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग—प्रवर्तक रूप निकला। प्राणीमात्र से प्रेम करना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना हमारा कर्तव्य है; इस विचार से अहिंसा के प्रवर्तक-मार्ग का बीजारोपण हुआ। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास थोड़ा और देर से हुआ। अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ-साथ प्रवर्तक कार्यों पर भी बल दिया गया। हिंसा-निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है।......इसमे शक नहीं कि हमारे देश में दानशालाएं, पिंजरापोल आदि बड़ी संख्या मे खुले, फिर भी हमे स्वीकार करना होगा कि हमारे देश मे प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।"[2]

प्रसंगान्तर से वे कहते हैं—"जैन-परम्परा ने प्रवृत्तिलक्षी अंग की अपेक्षा निवृत्तिलक्षी अंग पर ही अधिक भार दिया है। इसलिए वह बौद्ध स्थविर-मार्ग की भांति वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा में ही रस लेती रही है। जब बौद्ध परम्परा में केवल वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा ने असतोष उत्पन्न किया, तब उसमे से महायानी पंथ फूट निकला। उसने सर्वसंग्राही—सर्वकल्याणकारी दृष्टि का विकास एवं स्थापन यहां तक किया कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो, तब तक वैयक्तिक

---

१. गीता रहस्य पृ० ६१३-१४

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७-८

मोक्ष शुष्क एवं रस-विहीन है। गीता और महायान दोनों अपने-अपने ढंग से लोक-संग्राही कर्म मार्ग का ही निरूपण करते है।"[1] यह हुआ अहिंसा के विभिन्न युगों में प्रचलित विभिन्न स्वरूपो का एक ऐतिहासिक अवलोकन। इससे पूर्व कि हम विवृत्त स्वरूपों की यथार्थता का विवेचन करें, यह आवश्यक होगा कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात् इन अढ़ाई हजार वर्षो में जैन-अहिंसा में क्या-क्या रूपान्तर आए, इस विषय पर एक झांकी डालें।

अहिंसा के अपवाद और पुण्य-मान्यताएं

अहिंसा-विभक्ति के दो कारण

वीर-निर्वाण से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों में भारतीय जन-मानस को प्रभावित करने वाली नाना स्थितियां आई। हम यह निःसंकोच मान सकते है, भगवान् श्री महावीर का युग अहिंसा-विकास का सर्वोच्च शिखर था। वैदिकों का उपनिषद्-चिन्तन और बौद्धों का अहिंसा-विचार भी भगवान् श्री महावीर के मन्तव्यों को बहुत प्रकार से बल दे रहे थे। कहा जा सकता है, इस समय अहिंसा आचार और विचार में अपने उत्कर्ष पर थी। अहिंसा की व्याख्याएं अधिक-से-अधिक निरपवाद थीं। क्रमशः उन व्याख्याओं में शैथिल्य का संचार हुआ। यह स्वाभाविक ही होता है कि हिमालय के उत्तुंग शिखरों से चला जल-प्रवाह उच्चावच उपत्यकाओ और अपत्यकाओं को पार कर जब नाना पदार्थ-पूरित समतल भूमि पर बहता है तो क्रमशः दूषित होता ही है। उस युग की अखण्ड अहिसा विशेषकर दो ही कारणों से विभक्त होती गई। प्रथम कारण था, अपवाद-संयोजन और दूसरा कारण था, प्रवृत्ति-प्रधान और लौकिक एषणा-प्रधान विचारों को आध्यात्मिक रूप मिलना।

वैदिक परम्परा में अपवाद-संयोजन

वैदिक परम्परा में तो अपवाद बाहुल्य चिरपोषित था ही। एक ओर अहिसा का निर्देशन था—अहिंसा ही परम धर्म है।[2] इस जगत में ऐसे सूक्ष्म जन्तु है, जिनका अस्तित्व नेत्रगम्य नहीं, केवल तर्कगम्य है। पलकों के निपात मात्र में न

---

१. अध्यात्म विचारणा पृ० १३१-३२

२. अहिंसा परमो धर्मः।

—महाभारत अ० ११. १३

जाने ऐसे कितने जीवों का नाश हो जाता है।[1] शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, शीत और उष्ण में, सुख और दुःख में जो सम है, जो अनासक्त है वह मेरा प्रिय है।[2] दूसरी ओर कहा गया—सदैव क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता और सदैव क्षमा करना भी। पंडितजनों ने क्षमा के नाना अपवाद माने हैं।[3] आततायी होकर जो मनुष्य सामने आ रहा है, उसे तत्काल मार देना चाहिए; इस बात का विचार न किए बिना कि वह गुरु है, वृद्ध है, बालक है या बहुश्रुत ब्राह्मण।[4] वैदिक परम्परा में यही स्थिति सत्य, अचौर्य आदि आदर्शों की रही है। एक ओर कहा गया—सारी सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ऋत और सत्य पैदा हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंच महाभूत स्थिर हैं।[5] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[6] जो लोग इस संसार में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या विनोद में भी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्गगामी होते हैं।[7] दूसरी ओर मनुस्मृति

---

१. सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः।।
—महाभारत शान्तिपर्व १५. २६

२. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।
—गीता—१२. १८

३. न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता।।
—महाभारत वनपर्व २८. ६, ८

४. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।
—मनुस्मृति ८. ३५०

५. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।
सत्येनोत्तमिता भूमिः।
—ऋ० १०. ८५. १

६. नास्ति सत्यात्परो धर्मः।
—महाभारत शान्तिपर्व १६२. २४

७. आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा प्रवदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः।।
—महाभारत अनुशासनपर्व १४४. १९

और महाभारत जैसे ग्रन्थों में बताया गया—हंसी में स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब अपने जीवन पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन प्रसंगों पर असत्य बोलने में पाप नहीं होता।[1] एक ओर कहा गया—धर्माचरण भी छद्म-पूर्वक नहीं करना चाहिए।[2] दूसरी ओर कहा—बधिक आकर पूछे बध्य कहां है और तुम जानते हो तो तुम्हे वहां गूगा बन जाना चाहिए। हूं हां करके बात टाल देनी चाहिए।[3] इससे भी काम न चले तो झूठ बोल देना चाहिए।[4] विश्वामित्र मुनि ने दुर्भिक्ष में क्षुधातुर होकर श्वपच के घर से कुत्ते का मांस चुराया और अपनी प्राण-रक्षा में प्रवृत्त हुए। श्वपच ने जब उन्हें शास्त्र-बोध देना प्रारम्भ किया तो वे कहने लगे—चुप रह, मरने से तो जीना श्रेयस्कर ही है। जीवित रहकर तो व्यक्ति और भी धर्माचरण कर सकता है।[5] इस प्रकार वैदिक परम्परा में और भी अनेकों आदर्श अपवाद-संयोजन से निर्बल और निष्प्राण हुए हैं।

जैन परम्परा में अपवाद-संयोजन

अहिंसा के विषय में सर्वाधिक कठोर रुख अपनाने वाली जैन परम्परा में भी देश, काल और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाते-बिठाते उसका अहिंसा का विचार कहां से कहां तक पहुंच गया। भगवान् श्री महावीर का सन्देश प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री रखना था।[6] उसमें सज्जन या दुर्जन का कोई अपवाद नही माना जा सकता। व्यक्ति और समूह का ऐहिक या पारत्रिक हित हिंसा-साध्य नहीं हो सकता। लेकिन काल-क्रम के साथ साधु-संघ के आचार विषयक नियमों

---

१. न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥
—महाभारत अ० ८२. १६ और शान्तिपर्व १०९ तथा मनु० ८. ११०

२. न व्याजेन चरेद्धर्मं।
—महाभारत अ० २१५-३४

३. जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।

४. अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
—महाभारत शान्तिपर्व १०६. १६

५. जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्।
—महाभारत शान्तिपर्व १४१

६. मेत्तिं भएसु कप्पए।

को लेकर, धर्म-प्रभावना को लेकर या धर्म और धर्म-संघ के संरक्षण को लेकर सूक्ष्म और स्थूल हिंसाएं भी अहिंसा की कोटि में आ गईं। फलाहार हिंसापरक होने के कारण जैन मुमुक्षु के लिए वर्जित है। असंस्कारित आम्रफल का भक्षण करने वाला मुमुक्षु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त पाता है,[1] यह शास्त्रीय विधान है। आगे चलकर उसके साथ यह अपवाद जुड़ जाता है—रोगापनयन के लिए व क्षुधा-शान्ति के लिए साधु सचित्त आम्रफल का भक्षण भी करे तो अहिंसा का ही आचरण करता है, हिंसा का नहीं।[2] सचित्त वृक्ष पर चढ़ना साधु के लिए वर्जित है।[3] पर आगे चलकर ग्लान की औषधि के लिए, मार्ग में क्षुधा-निवर्तक फलों के लिए, जल-प्रवाह से बचने के लिए, चोर, राजा, सिंह, हाथी आदि के भय से बचने के लिए वृक्ष पर चढ़ना निर्दोष मान लिया जाता है।[4]

आधाकर्म दूषित आहार व मांस

एषणा समिति भी आपवादिक स्थितियों में यहां तक मुक्त कर दी गई कि

---

१. जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ, भुंजंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १५ सू० ५

२. बितियपदमणप्पज्झे, भुंजे अविकोविए व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, गिलाण अद्धाण ओमे वा॥
खित्तादिगो अणप्पज्झो वा भुंजति, सेहो अविकोवियत्तणओ अजाणंतो, रोगोवसमणिमित्तं वेज्जुवदेसितो गिलाणो वा भुंजे, अद्धाणोमेसु वा असंथरंता भुंजंता विसुद्धा॥

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १५ गाथा ४६६५

३. जे भिक्खू सच्चित्तरुक्खं दुरुहइ, दुरुहंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १२ सूत्र ६

४. बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाण ओम उदए य।
उवही सरीर तेणग, सणप्फए जड्डमादीसु॥
खेत्तादिया अणप्पज्झ दुरुहेज्ज, गेलण्णे ओसधट्ठा, अद्धाणोमे असंथरंता पलंबट्ठा, उदगपूरे आयरक्खट्ठा, उवधिसरीरतेणगेसु रायबोधिगादिभएसु वा दुरूहित। णिलुक्कंति, सीहादिसणप्फए जड्डमि वा वधाय आवतंते आयर-क्खलट्ठा दुरूहंति। तत्थ पुव्वं अचित्ते, ततो परित्तमीसे, ततो अणंतमीसे, ततो परित्तसचित्ते, ततो अणंतसचित्ते, एवं कारणा जयणाए ण दोसा।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १२ गाथा ४०४१

जहां के लोगो को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मांस नहीं लेते', वहां आधाकर्म दूषित (साधु के लिए बनाया गया) आहार लेने में कम दोष है और मांस लेने में अधिक दोष है, क्योंकि परिचित जनों के यहां से मांस लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहां के लोगों को यह ज्ञात नही कि जैन श्रमण मास नही खाते, वहां मास का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म दूषित आहार लेना अधिक दोषावह है। क्योंकि आधाकर्मिक आहार लेने में जीव-घात है। अतएव ऐसे प्रसंग में सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवों का मांस ले, उसके अभाव में क्रमशः त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय मे स्वीकृत साधु-वेष में ही लेना या वेष बदलकर; इसकी भी चर्चा है।[1] इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है, अहिंसा के संस्कार बद्धमूल होने के कारण आपवादिक स्थिति में भी अनुद्दिष्ट अर्थात् सहज रूप से उपलब्ध निर्जीव मांस को ग्रहण करके भी उद्दिष्ट हिंसा-जन्य आधाकर्मी आहार ग्रहण से बचने के लिए कहा गया है, पर इससे अहिंसा के प्रति होने वाले क्रमिक शैथिल्य का ही आभास मिलता है। दो अवांछनीय प्रवृत्तियों में से प्रथम एक को अपनाया गया और फिर दूसरी को भी। रोगादि विशेष स्थितियो में आधाकर्मी आहार ग्रहण करने के भी विधि-विधान देखे जाते है।[2]

हंस तेल की भी ग्राह्यता

लगता है मुमुक्षु लोग आत्मधर्मी न रहकर शरीरधर्मी हो गये थे। रोगावस्था में चोरी से या मन्त्र-प्रयोग से अपेक्षित औषधि प्राप्त करना उचित मानने लगे थे।[3] औषधि में हंस तेल जैसी वस्तु लेना भी अनुचित नहीं माना गया।[4] चूर्णि-

---

१. जत्थ णज्जंति जहा—'एते समणा मंसं ण खायंति' तत्थ सलिंगेण पिसिते घेप्पमाणे उड्डाहो भवति, अतो वरं अहोकम्मं ण पिसियं तु।...जत्थ पुणो ण णज्जंति तत्थ वरं पिसितं,...एवं पिसियग्गहणे विट्ठ पुव्वं बेइंदियपिसितं घेतव्वं, तस्सासति तेइंदियाण, एवं असतीते—जाव पंचेदियाण पिसितं ताव णेयव्वं।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४३७-३८

२. सद्धर्ममण्डन पृ० ४८८

३. एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमादीसुपढमतो गिण्हे।
अभियोगासति ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४७

४. एमेव य ओमंमि वि रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिवव्वं कल्लाणग-हंसतेल्लादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४८

कार ने हंस तेल बनाने की विधि का उल्लेख किया है—हंस को चीरकर, मल-मूत्रादि निकालकर, उस प्रकार के पदार्थों से भरकर उसकी सिलाई कर दी जाती है। फिर उसे पकाकर जो तेल तैयार किया जाता है, वह हंस तेल होता है।[1] भले ही साधु ऐसी पाक-क्रिया स्वयं न करते हों, पर रोग-मुक्ति के लिए चौर्य आदि प्रयत्नों से भी उस प्रकार से निर्मित औषधि को प्राप्त करना भयंकर देह-ममता का सूचक है। इस प्रकार की अनन्तानुबन्धी जैसी ममता में क्या सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र टिक सकते थे?

विरोधी को अप्रत्यक्ष मृत्यु दण्ड

प्राणीमात्र की अहिंसा में विश्वास रखने वाले साधकों ने नाना ज्वलन्त हिंसाओं को किस प्रकार अहिंसा में ला दिया था; उसके भी ज्वलन्त उदाहरण आगम-अतिरिक्त साहित्य में मिलते है। धर्म-रक्षा के लिए अर्थात् साधु-संघ या चैत्य की रक्षा के लिए विरोधी व्यक्ति का पुतला बनाकर, उसे अभिमंत्रित कर यदि खंडित किया जाए तो वह हिंसा हिंसा नहीं है।[2] वह मन्त्रवाद का युग था। यह माना जाता था, उक्त प्रकार से अभिमंत्रित पुतले पर मर्माघात करने से शत्रु पर मर्माघात होता है और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से ही मारा जा सकता है।

कोई आततायी, दुराचारी या पश्यतोहर किसी आचार्य, संघ आदि का बध करना चाहता है, किसी साध्वी का अपहरण करना चाहता है या चैत्य आदि की सम्पति को लूटना चाहता है, ऐसे आततायी व दुराचारी का साधु स्वयं बध भी

---

१. हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जंति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हंसतेल्लं भण्णति। आदि सद्दातो सतपाग-सहस्सपागा य तेल्ला घेप्पन्ति। एवमादियाए दव्वाए आभिओगादी पूर्वक्रमेण ग्रहणं कर्तव्यमिति।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पूर्व पीठिका गाथा ३४८

२. जावतिया उवउज्जति पमाण-गहणे व जाव पज्जत्तं।
मंतेऊण व विंधइ पुत्तल्लगमादि पडिणीए॥
जो साहु-संघ-चेतित-पडिणीतो तस्स पडिमा मिम्मया णामंकिता कज्जति, सा मंतेणाभिमंतिऊणं मंमदेसे विज्झति, ततो तस्स वेयणा भवति मरति वा, एतेण कारणेणं पुत्तलगं पि पडिणीय-मद्दण-णिमित्तं कज्जति, वंडिय-वशीकरण-णिमित्तं वा कज्जति।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका पीठिका गाथा १६७

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नहीं है।[1]

कोंकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहों की हिंसा

एक बार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु-संघ को भीषण जंगल में प्रवास करना पड़ा। संघ में एक कोंकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को संघ की रक्षा का भार उसे सौंपा गया। उसने आचार्य से पूछा, हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए या कष्ट पहुंचा करके भी ? आचार्य ने कहा, यथासम्भव बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए, पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात में उस कोंकण देशीय साधु को तीन सिंह मार ही देने पड़े। प्रातः उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

---

१. आयरियं कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति, सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं पि कुज्जा। एवं गच्छघाए वि। बोहिगतेणे यत्ति जे मेच्छा, माणुसाणि हरंति ते बोहिगतेणा भण्णंति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। च सद्दातो कोति संजति बला घेत्तुमिच्छति, चेति-याण वा चेतियदव्वस्स वा विणासं करेइ। एवं ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं णित्थारणं कायव्वं एवं करेंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८९

२. एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ संज्झकालसमये बहुसावयं अडविं पवण्णो। तंमि य गच्छे एगो दढसंघयणी कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं—कहं अज्जो ! जं एत्थ दुट्ठसावयं किं वि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोंकणगसाहूणा भणियं—कहं ? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं ? गुरुणा भणियं—'जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो'। ततो तेण कोंकणगेण लवियं 'सुवय वीसत्था, अहं भे रक्खिस्सामि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं। तेण हुडि त्ति जंपियं ण गतो, ततो पच्छा उट्ठाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परिता-विओ। पुणो आगतं पेच्छति, तेण चिंतियं ण सुट्ठु परिताविओ, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता राती। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छंति सीहं

ब्राह्मणों का सामूहिक वध

एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा, सभी जैन साधु ब्राह्मणों के चरणों लगें। नहीं तो वे देश से निकल जाएं। सारा संघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सबको आह्वान किया—कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना बढ़ा सके तो बढ़ाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा में गया और राजा से बोला, आप सब ब्राह्मणों को एकत्रित कर लीजिए। हम उन्हें नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कणेर की लता को अभिमन्त्रित कर सब ब्राह्मणों का सर काट डाला। संघ-हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन में भाष्यकार और चूर्णिकारों का योग

भाष्य और चूर्णियों में इस प्रकार अहिंसा-धर्म सम्बन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपंथे मयं, पुणो अदूरे पेच्छंति बितियं, पुणो अदूरंते ततियं। जो सो दूरे सो पढमं सणियं आहओ, जो वि मज्झे सो बितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मतो। तेण कोंकणएण आलोइयमारियाणं, सुद्धो। एवं आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८६

१. एगेण रातिणा साधवो भणिता 'धिज्जाइयाण पादेसु पडह'। सो य अणुसट्ठिमादीहिं ण ट्ठाति। ताहे संघसमवातो कतो। कत्थ भणियं 'जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो तं सावज्जं वा असावज्जं वा पउंजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणियं—'अहं पयुंजामि'। गतो संघो रातोणो समीवं, भणीओ य राया 'जेसिं धिज्जाइयाणं अम्हेहिं पाएसु पाडियव्वं तेसिं समवातं देहि तेसिं सयराहं अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स'। तेण रण्णा तहा कयं। संघो एगपासे ट्ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलयं गहेऊण अभिमंतेऊणं य तेसिं धिज्जाइयाणं सुहासणत्थाणं तं कणवीरलयं चुडलयं व चुडलिवंदणागारेण भमाडेतो। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाणं सिराणि णिवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाणं भणति 'भो दुरात्मन्! जति ण ट्ठ सि तो एवं ते सबलवाहणं चुण्णेमि' सो राया भीतो संघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य। जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णतो। एवं पवयणत्थे पडिसेवंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

मार्ग मिलते हैं। यह ठीक है, आगमों की अक्षरशः व्याख्या पर समग्र आचार-व्यवहार प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। व्याख्याओं, स्पष्टीकरणों एवं विवेचनों की अपेक्षा होती है, किन्तु उन सबका यह तात्पर्य नही होता कि हम मूल को छोड़कर कहां-के-कहां चले जाएं। यह स्पष्ट है कि भाष्यकारों व चूर्णिकारों ने इस अर्थ में बहुत ही स्वैराचार बरता है। कहां भगवान् महावीर की क्षमा, तितिक्षा व मैत्री-प्रधान जीवन-चर्या और कहां ये रोमांचित कर देने वाले हिंसापरक उदाहरण। संगम देव ने आकर भगवान् श्री महावीर को बीस[2] मारणान्तिक परिषह दिए। छद्मस्थावस्था में अनार्य और म्लेच्छ लोगो ने नाना यातनाएं दीं। गोशालक ने उनके देखते-देखते सर्वानुभूति और सुनक्षत्रमुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला। स्वयं भगवान् श्री महावीर को तेजोलेश्या से परिक्लान्त किया।[1] क्या भगवान् महावीर ने कभी उन प्रत्यर्थियो की हिंसा के लिए भी किसी अपवाद मार्ग का विधान किया? चण्डकौशिक के मर्माघात और ग्राम्यजनों द्वारा किये गये कर्णगत-कीलिका-रोपण पर क्या भगवान् में एक क्षण के लिए भी प्रतिहिंसा जागृत हुई? कहां वह क्षमा और तितिक्षा-प्रधान जैन-सस्कृति जिसमें गजसुकुमाल, खंधक, मेतार्य प्रभृति मुनियों के शान्त व सौम्य आधार और कहा ये प्रतिशोध मूलक विधि-विधान? सच बात तो यदि है कि वह युग जैनधर्म के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बनकर रहा है। समय-समय पर होने वाले वैदिकों और बौद्धों के हिंसक आक्रमणों मे, जैनधर्म विरोधी राजाओं के कठोर शासन में, प्रलम्बतर और भयंकर दुर्भिक्षो में, अरण्य-प्रधान और अनार्य-प्रधान देशों के पाद-विहारों में जैनधर्म और जैन श्रमण-संघ को बचाए रखना अवश्य एक दुष्कर अनुष्ठान था। लगता है, सम्प्रदाय-प्रतिस्पर्धा के उस वातावरण में ही इस प्रकार के विधि-विधानों का निर्माण हुआ है। आज की परिस्थितियों मे उक्त विधि-विधान जितने अभद्र लगते हैं, उन परिस्थितियों में सम्भवतः वे वैसे न लगे हों। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा, अहिंसा-सिद्धान्त के साथ यह न्याय नहीं हुआ है।

अब्रह्म-सेवन व प्रायश्चित्त विधान

छद्मस्थ मुनि परिस्थितिवश नाना दोषों का सेवन कर लेता है। भगवान् श्री महावीर ने मूल निशीथसूत्र में इसके लिए नाना प्रायश्चित्त बतलाए हैं। यदि यहां भी ऐसा ही माना गया होता तो अहिंसा-सिद्धान्त की निर्मम हत्या नही

---

१. कल्पसूत्र व्याख्या
२. भगवतीसूत्र शतक १५

होती। हिंसा करना और उसे अहिंसा मानना, यह दोहरा पाप है। चूर्णिकारों और भाष्यकारों ने इस विषय में चिन्तन ही न किया हो, ऐसी बात नहीं है। अपवाद मार्ग में हिंसा-सेवन की तरह अब्रह्म-सेवन का विचार भी चला है। ब्रह्मचारी साधुओं के सम्मुख ऐसे प्रश्न आए होंगे या आने सम्भावित माने गए होंगे कि राजा के अन्तःपुर में पुत्रेच्छा से किसी साधु को अब्रह्म-सेवन के लिए विवश किया जाए और उसे यह बताया जाए, तुम अब्रह्म का सेवन करके ही सकुल यहां से जा सकते हो; नहीं तो तुम्हें प्राणदण्ड भोगना होगा। ऐसी परिस्थिति में साधु वहां अब्रह्मचर्य का सेवन करता है। दूसरा प्रसंग तरुण साधु शीलभंग करना भी नहीं चाहता और वासना पर विजय पा लेना भी सम्भव नहीं मानता, ऐसी स्थिति में कम-से-कम दोष लगाकर वह अपने संयम का निर्वाह सोचता है। तथा-प्रकार के मुमुक्षु प्रायश्चित्त के भागी हैं या नहीं; यह विषय भी बहुत प्रकार से भाष्य और चूर्णियों में सोचा गया है। उस चिन्तन का अन्तिम निष्कर्ष यह होता है कि हिंसा आदि का सेवन राग और द्वेष से रहित रहकर भी किया जा सकता है, परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन रागादि रहित स्थिति में सम्भव नहीं है; इसलिए अब्रह्म का सेवन कैसी ही परिस्थिति में हो, उसकी कितनी ही यत्नापूर्ण प्रतिसेवना हो, शुद्धि के लिए न्यूनाधिक प्रायश्चित्त तो लेना ही होगा।[1] यह जितना यथार्थ है कि अब्रह्मचर्य का सेवन रागादिभाव लाए बिना सम्भव नहीं है, उतना ही द्वेषा-दिभाव लाए बिना किसी मनुष्य या हिंस्र पशु के वध में प्रवृत्त होना, यह भी सम्भव नहीं है, पर तात्कालीन आचार्यों के चिन्तन में यह क्यों नहीं आया, अवश्य एक आश्चर्य है। हो सकता है, महत् पुण्य का प्रलोभन हुए बिना मुमुक्षु लोग तथा-कथित हिंसाजन्य शासन-प्रभावनाओं के लिए प्रस्तुत न होते हों और वैसे अवसर अधिक आते हों; अपेक्षाकृत अब्रह्म-सेवन की विवशताओं के। इसलिए प्रायश्चित्त की अनिवार्यता अब्रह्म के प्रसंग से आवश्यक मानी गई हो और हिंसादि आस्रवों के प्रसंग से आवश्यक नहीं मानी गई हो। इस प्रकार भगवान् श्री महावीर से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों में आचार्यों और साधुओं ने अप-

१. क—गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणंमि णिद्दोसो।
एगेसि गीत कडो, अरत्तऽदुट्ठो उ जतणाए॥
जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु, अप्पतरं होति पच्छित्तं॥
—निशीथसूत्र भाष्य गाथा ३६६-६७

ख—बृहत्कल्प भाष्य गाथा ४६४६-४७

वादों के नाम पर अहिंसा को केवल कलेवर मात्र बना दिया। जब हम बड़े-बड़े अपवादों की चर्चा कर आए हैं तो साध्वाचार के सामान्य नियमों में अपवादों के नाम पर कितना शैथिल्य आया होगा, यह सहज ही कल्पना में आ सकता है। वहां भी अहिंसा कितनी जर्जरित हुई होगी, यह वर्णन का विषय नहीं रह जाता।

आचारांग सूत्र में भगवान् श्री महावीर कहते है—धर्म के लिए हिंसा करने में कोई दोष नही है, यह अनार्य-वचन है।[1] प्रतिमा के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालों को उन्होंने मन्द बुद्धि कहा[2], तब धर्म प्रभावना के नाम पर होने वाले सूक्ष्म या स्थूल हिंसाजन्य कार्य भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के अंग हो सकते है, यह सोचा ही नही जा सकता।

अहिंसा विभक्ति का दूसरा कारण

पुण्य-मान्यता का हेतु

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा उग्रतम निवृत्ति-प्रधान थी। उसमें केवल अपना और दूसरे का आत्महित-चिन्तन ही प्रमुख था। आत्मा के उन्नयन और आत्मा के ऊर्ध्व संचार की ही वहां चिन्ता थी और आत्मगत कषायादि क्लेशों से रहित होना और रहित करना ही मोक्ष था। लौकिक अभ्युदय पुण्य-प्रधान होने से धर्मानुगत था, पर धर्माचरण का उद्देश्य नहीं। भगवान् श्री महावीर के पश्चात् गीता का कर्मयोग और बौद्ध महायानो का सामुदायिक मोक्षवाद आदि ज्यों ही जोरों से फैले, जैन-परम्परा भी उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रहती? भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना और दु:खियों के दु:ख को दूर करना यह एक ऐसा विचार था, जो सामाजिक अपेक्षाओं का भी मुख्य अंग था और जब इसे मोक्षाराधन का स्वरूप भी मिल गया तो उसका समाज के द्वारा व्यापक रूप से अपनाना सहज ही था। वह युग अध्यात्म चर्चा का था। विभिन्न धर्मों में व्यवस्थित शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हरेक धर्म के लोग अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट बताते। बहुत सम्भव है, जैनधर्म को न्यून बतलाने का उसी युग में मोक्ष-चिन्ता और लोकैषणा का यह भेद ही प्रमुख उद्घोष बन गया हो। इसी विवशता

---

१. आचारांगसूत्र

२ प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम अध्ययन

में जैनाचार्यों को लोकैषणा और शिवैषणा को जोड़ने के लिए पुण्यरूप कड़ी का आविष्कार करना पड़ा हो। जैन-शास्त्रों ने यह अवकाश नहीं रख छोड़ा था कि उन्हें शिरोधार्य करते हुए सामाजिक और व्यवहारिक क्रिया-कलापों को सीधे-सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैनतत्त्व-निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सहभावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्यबन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती है, यह धारणा जैन-परम्परा मे नहीं थी, परन्तु इस युग-प्रवाह के साथ संगत होने के लिए आगे चलकर आई। 'अणुकम्पादाणं पुण जिणेहिं न कयाई पडिसिद्धं'[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कही निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है—अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग-प्रवर्तन-रूप भाव।[3] व्यवहारिक अनुकम्पा को आचार-संगत करने के विषय में मतभेदमूलक चर्चाएं भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा—दीन, अनाथ व्यक्ति असंयत है, इसलिए उन्हें दान देना दोष-पोषक होने से असंगत[4] है, अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नहीं है। उत्तरपक्ष का यह आग्रह रहा—साधारणतया यह यथार्थ है कि असंयति-दान मोक्ष तथा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं बनता, किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभाशय का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य-निष्पत्ति के कारण

उत्तर पक्ष के विषय में यह निस्संकोच कहा जा सकता है, यह तात्कालिक लोक-प्रवाह का अनुगमनमात्र ही था। जैन-आगम इस विषय में स्वयं स्पष्ट हैं। वहां पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते हैं, वे या तो पुण्य को निर्जरा का

---

१. तच्च धर्माविनाभावि। सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्ध:, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्यं धर्मः, अतएव धान्याविनाभावि बुसवत् तद् धर्मं बिना न भवति।
—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४

२. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका २७

३ सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्यां द्विधा द्रव्यतः अन्नादि दानेन, भावतः धर्ममार्ग-प्रवर्तनेन।
—धर्मरत्न प्रकरण

४. दीनानामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानम्।
—पंचाशक ६

सहभावी सिद्ध करते हैं या उसी सत्प्रवृत्तिजन्य। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता, जहां निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति न हो और केवल पुण्य-निष्पन्न हुआ हो। अठारह पापों का सेवन न करने से कल्याणकारी कर्मों (पुण्य) का बन्ध होता है।[1] गुरु-वन्दन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है और उच्च गोत्र-कर्म का बन्ध होता है।[2] धर्म-कथा से निर्जरा होती है, धर्म-प्रभावना होती है और उससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[3] आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधु तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन करता है।[4] प्राण-हिंसा न करने से, असत्य न बोलने से व शुद्ध साधु को दान करने से शुभ दीर्घ आयुष्य का बन्धन होता है।[5] बहुत सारे

---

१. कहण्णं भंते ! जीवाणं कल्लाण कम्मा कज्जंति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थाली पाप सुद्धं अट्ठारस वंजणा उलं ओसह मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ तओपच्छा परिणममाणे२ सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्सणं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाण कम्मा जाव कज्जंति।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १०

२. वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गंच णं अपडिहयं आणा फलं निवत्तेइ दाहिणा भावं च णं जणयइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

३. धम्म कहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म कहाएणं निज्जरं जणयइ। धम्म कहाएणं पवयणं पभावेइ ; पवयण पभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

४. वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयर णाम गोत्तं कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

५. कहणं भंते ! जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्मं पकरंति ? गोयमा ! नो पाणेअइवाएत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता जाव पज्जु-

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को दुःख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, विलापात न कराने से, अश्रुपात न कराने से, तर्जन न करने से, परिताप न पहुंचाने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[1] उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, असंयति प्राणियों की अनुकम्पा के सम्बन्ध से जो पुण्य-बन्ध का विधान है; वह अनुकम्पा दुःख न देने रूप है। वहां केवल आत्म-संयमरूप शुभयोग की प्रवृत्ति है। जहां वन्दन, वैयावृत्ति आदि प्रवृत्तियां हैं, उनका सम्बन्ध आचार्य आदि संयति आत्माओं से है।

अनुकम्पा दान व धर्म दान

दस प्रकार के दानों में एक अनुकम्पादान भी है।[2] पर उसमें धर्म या पुण्य होने का कोई उल्लेख शास्त्रों में नहीं है। यह दान की दसों संज्ञाओं से स्वतः प्रतिभासित होता है। वहां केवल दानमात्र के दस हेतुओं को बताया गया है। वेश्या आदि को दिया जाने वाला अधर्म दान और लज्जा दान, भय दान आदि भी उन दस भेदों में है। धर्म दान के तीन भेद किये गए हैं—अभय दान, बोधि दान, सुपात्र दान। दस दानों में पारमार्थिक दान केवल धर्म दान है, शेष लौकिक हैं। धर्म व पुण्य के हेतु नही हैं। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है—आहार पुण्य, पानी पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मनः पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।[3]

वासेत्ता अण्णयरेणं मणुण्णेणं पीइकारएणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभित्ता एवं खलु जीवा जाव पकरंति।

—भगवतीसूत्र शतक ५, उ० ६

१. पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टिणयाए अपरियावणयाए।

—भगवतीसूत्र शतक ७ उ० ६

२. अणुकंपा संगहे चेव भया कालुणि एत्तिय।
लज्जाए गारवेणं च अधम्मेय पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते काहिइय कयन्तिय॥

—ठाणांग सूत्र ठा० १०

३. नव विहे पुण्णे पन्नते तंजहा अण्णपुण्णे पाणपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्ण वत्थपुण्णे मणपुण्णे वयपुण्णे कायपुण्णे णमोक्कारपुण्णे।

—ठाणांग सूत्र ठाणा ९

नौ प्रकार के पुण्यों की यह शब्द-संकलना स्वयं बोलती है, संयमी पात्र को दिया गया दान ही पुण्य-बन्ध का हेतु है। नहीं तो इस शब्द-संकलना में गौदान[1] पुण्य, अश्वदान पुण्य आदि अनेकों पुण्यों को स्थान दिया गया होता, किन्तु यह न होकर केवल संयति के द्वारा ग्राह्य होने वाले आहार, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र में असंयति दान को एकान्त[2] पाप का कारण तथा संयति दान को एकान्त निर्जरा[3] का हेतु बतलाया गया है।

कुछ भी हो, इन सारे शास्त्रीय विधानों की उपेक्षा करके भी प्रवृत्तिमूलक धारणाएं जैन-परम्परा मे आगे बढ़ीं और आज भी वे अधिकांश जैन शाखाओं में मान्य हो रही है। जैन-परम्परा के इस इतिहास में उल्लेखनीय बात तो यह रही है कि वह परम अध्यात्ममूलक होने के कारण तथाप्रकार की लोकोपकारक प्रवृत्तियों को दो सहस्र वर्षो के प्रतिकूल प्रवाह में बहकर भी, विशुद्ध धर्म और विशुद्ध अध्यात्म के अन्तर्गत मानने के लिए तैयार नहीं हुई। पुण्य कहकर तो उसने उक्त प्रवृत्तियों को श्रेय की ओर जाने वाले पथिक के लिए स्वर्ण-शृंखलारूप बन्धन ही

---

१. साधू बिन जो अन्य प्रते, दीधां पुण्य जो होय।
तो गाय पुण्य किम नवि कह्यो, भेंस पुण्य पिण जोय।।
सुवरण पुण्य रूपो पुण्य, हीरो पुण्य उदार।
मोती ने माणिक पुण्य, खेति पुण्य विचार।।
इत्यादिक मुनिवर भणी, नहीं कल्पे जे बोल।
सूत्र विषे ते नवि कह्या, देखोजी दिल खोल।।

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध दानाधिकार दुहा १५२ से ५४

२. समणोवासगस्सणं भंते! तहारूवं असंजयं अविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण० जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ।

—भगवतीसूत्र शतक ८ उ० ६

३. समणोवासगस्सणं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

माना।[1] यह किसी भी जन-शाखा ने नहीं माना कि संसारस्थ प्राणियों का भौतिक साधन-प्रसाधनों से दैहिक दुःख-मोचन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

जैनाचार्यों द्वारा लोक-प्रवाह को मोड़

लोक-प्रवाह के साथ जैन-परम्पराएं अवश्य चल पड़ीं, किन्तु समय-समय पर चिन्तनशील आचार्य अपने उद्‌गारों में तत्सम्बन्धी यथार्थ स्थिति को भी प्रकट करते रहे हैं। दिगम्बर आचार्य अमितगति कहते हैं—"जो असंयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकांक्षा करता है, वह जलती आग में बीज फेंककर धान पैदा करना चाहता है।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—"यह असि, मसि, कृषि आदि व्यवस्था का प्रवर्तन सावद्य—सपाप है, फिर भी स्वामी ऋषभदेव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया।"[3]

अभयदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—मन से, वचन से और कर्म से जीव-हिंसा न करना, न कराना और न उसका अनुमोदन करना, जीवों के जीवन पर्याय का नाश न करना, उन्हें दुःख या संक्लेश न देना अभयदान है।[4]

माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध से कहा गया है—निश्चय नय की दृष्टि से माता-पिता आदि का विनय करने रूप सतताभ्यास में सम्यग् दर्शन आदि की

---

१. शुद्धा योगा रे ! यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभकर्माणि।
कांचननिगडांस्तान्यपि जानीयाद्धतनिर्वृत्तिशर्माणि॥
—शान्तसुधारस आस्रवभावना गाथा ७

२. वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम्॥
—अमितगति श्रावकाचार ११वां परिच्छेद

३. एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, १।२।९७१

४. भवत्यभयदानं तु जीवानां वधवर्जनम्।
मनोवाक्कायैः करण-कारणानुमतैरपि॥
तत्पर्यायक्षयाद् दुःखोत्पादात् संक्लेशतस्त्रिधा।
वधस्य वर्जनं तेऽभयदानं तदुच्यते॥
—ऋषभ चरित्र १५७-१६६

आराधना नहीं होती, इसलिए वह धर्म का अनुष्ठान नहीं है। व्यवहार नय, स्थूल दृष्टि या लोक दृष्टि से वह युक्त है।[1]

लोंकाशाह द्वारा मोक्षाभिमुख अहिंसा पर बल

इस प्रकार समय-समय पर होने वाले स्फुट उद्‌गारों से वह लोकाभिमुख प्रवाह जरा भी रुका हो, ऐसा नहीं लगता; प्रत्युत प्रकाश की ये चिनगारियां क्षणिक आभास के साथ विलीन ही होती गई। अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण के लगभग इक्कीस सौ वर्ष पश्चात् जैन-परम्परा में लोंकाशाह ने फिर से मोक्षाभिमुख अहिंसा और धर्म का उद्‌घोष उठाया। आगमिक आधारों पर उन्होंने स्पष्टरूप से कहा—साता देने से साता होती है, ऐसा कहने वाले आर्य मार्ग से पृथक् हैं, समाधि-मार्ग से दूर हैं, जिन-मार्ग की निन्दा करने वाले हैं, अमोक्ष के कारण हैं, तुच्छ सुखों के लिए बहुत सुखों को गमाने वाले हैं और भविष्य में लोह वणिक् की तरह पश्चाताप करने वाले होंगे।[2]

जिस क्रिया में किंचित् भी हिंसा नहीं है, वही ज्ञान का सार है।[3] इन्द्रिय-भोगों का धर्म बुरा होता है। जिस प्रकार तालपुट जहर खा लेने से, अविधि से शस्त्र-ग्रहण करने से, कुविधि से मन्त्र-जाप करने से मनुष्य मृत्यु-प्राप्त करता है; वैसे ही इन्द्रियज विषयों को धर्म कहने वाला जन्म और मृत्यु के परिभ्रमण को बढ़ाता है।[4]

---

१. निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्राहि विनयस्वभावे सतताभ्यासे सम्यक्-दर्शनाऽऽद्यनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव।
—धर्म अधिकरण

२. कोई इम कहै साता दियां साता होय, तिण ऊपर भगवान छव बोल प्ररूप्या—१. आर्य-मार्ग से बेगलो, २. समाधि-मार्ग से न्यारो, ३. जिन धर्म री हेलणा रो करणहार, ४. अमोक्ष रो कारण, ५. थोड़ा सुखां रे कारणे घणा सुखां रो हारणहार, ६. लोह वाणिया नी परे घणो झूरसी। सा० सू० सूयगडांग अ० ३ उद्देशो ४ गाथा ६।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल ४७वां

३. जिस करणी में किंचित मात्र हिंसा नहीं ते करणी ज्ञान री सार कही। सा० सू० प्र० सूयगडांग अध्ययन १ उ० ४ गाथा १०वीं।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल २२वां

४. विषय सहित धर्म बुरो, जिम तालपुट जहर खायां, कुरीति से हाथ में शस्त्र लियां, कुविधि मन्त्र जपियां मरण पामें, तिम इन्द्रिय-विषय

उनहत्तर बोलों की लोंकाशाह की हुण्डी जिसमें हरएक बोल के साथ आगम-पाठ का प्रमाण दिया गया है, उनकी मान्यता का आधार बनती है। लोंकाशाह की मान्यता के आधार पर नूतन श्रमण-संघ गठित हुआ और अध्यात्मपरायण धारणाओं को सुस्थिर करने के लिए लोक-प्रवाह के सामने खड़ा रहा, किन्तु यह क्रान्ति चिरस्थायी नहीं हो सकी और अनुयायी शाखाएं उसी लोक-प्रवाह में जा पड़ीं। यह विशेषता की बात है, लोंकाशाह तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके मत को अपने-अपने प्रकारों से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य मानते हैं।

अहिंसा-स्वरूप का विकास या विपर्यास ?

साहित्य में रागात्मक तत्त्वों का आविर्भाव

उपनिषदों, आगमों एवं त्रिपिटकों की निवृत्तिप्रधान और मोक्षाभिमुख मौलिक धारणाओं से होने वाला यह विपर्यास इतना स्पष्ट था कि उससे सभी क्षेत्र प्रभावित हुए। इसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही न रहकर साहित्य के क्षेत्र मे भी आया और रागात्मक तत्त्वों के आविर्भाव से साहित्य-उपवन सरस समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में बताया गया है—इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-साहित्य में उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियों के साथ सुन्दर सामंजस्य हुआ। अभी तक हिन्दी का साहित्य अधिकांशतः प्रशस्तिगान तथा परम्परागत काव्य-रूढ़ियों पर ही आधारित था, परन्तु सन्त परम्परा के उद्भव से साहित्य में एक नये लक्ष्य व नये जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

कर्म के साथ ज्ञान का सामंजस्य करने के लिए वेदान्त का सहारा लिया गया।[1] लोकोत्तर-प्रधान धर्म में लौकिक चिन्ता का उद्भव मानव-स्वभाव के किन रागात्मक हेतुओं से हुआ, इसका भी व्यवस्थित चिन्तन हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिलता है। "ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में व्याप्त अमूर्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तियों को भौतिक संघर्ष से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में सर्वथा

सहित धर्म प्ररूपे ते घणा जन्म मरण बधावे। सा० सू० उत्तराध्ययन अ० २० गाथा ४४

—लोंकेजी की हुण्डी बोल ३६वां

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४२

असफल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं, असम्भव था। निर्गुण-साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका, क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्त्वों का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओ के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहां वह अपने मन का अवसाद उडेल सके, जिसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामंजस्य हो सकता है, पर तादातम्य नहीं। निर्गुण पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यही वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियो को जो लौकिक जीवन में अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया, जिसके द्वारा भौतिक विषयो की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान् मे लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरजक रूप का अंकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र में

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप विपर्यय का अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की चहल-पहल में सहयोगी होकर यही विपर्यय विकास का खिताब पा गया। महात्मा गांधी विशेष रूप से श्रेयोभाग् बने। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का कहना है—गांधीजी पर कुछ लोगों का यह आक्षेप एक तरह से गलत नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग से विमुख कर संसार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज में अहिंसा उतने ही प्रमाण में टिक सकती है, जितने प्रमाण में प्रवर्तक धर्म अर्थात् समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवर्तक धर्म से समाज की बुराइयां दूर की जा सकती हैं, परन्तु उनमें अच्छाइयों की वृद्धि नही हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवर्तक धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया।...अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है।...गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहां चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गांधी ने कभी अहिंसा की कोटि में नहीं लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गांधी की दृष्टि से उसमें सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमें यहां इस चर्चा में नहीं उतरना है कि महात्मा गांधी ने कहीं हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नहीं। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही रहेगी।[5] अतः यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गांधी की दृष्टि में हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहां तक बैठ सकता है ? कुछ भी हो उक्त विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान कर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रों में एक विकास के रूप में ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार में समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ अपांगों के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढ़ने से सामाजिक जीवन सरस हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओं के साथ

---

१. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ९-१०

२. खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हूं अहिंसा मां कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।

—अहिंसा पृ० १३६

३. खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

—गांधीजी--खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

४. मंगल प्रभात पृ० ८१

५. अहिंसा पृ० २०-२१

यथार्थता का निर्वाह हुआ या नहीं ? किसी कर्म का उपयोगी हो जाना एक बात है और यथार्थ होना दूसरी बात। धर्म और अहिंसा का सम्बन्ध दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है। दर्शन के क्षेत्र में आत्मा, पुण्य, पाप और मोक्ष सम्बन्धी धारणाएं ज्यों की त्यों बनी रहें और धर्म के स्वरूप को सामाजिक उपयोगिता के लिए चाहे ज्यों विस्तृत करते रहें, यह संगत नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनों ने यह मान लिया होता कि जगत के प्रत्यक्ष स्वरूप की श्रेष्ठता ही इष्ट और काम्य है तो फिर भी समाज की लोकोत्तर विमुखता यथार्थ मानी जा सकती थी। लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण माना है; भले ही उसके बाह्य स्वरूप में विभिन्नता रही हो। उसके हार्द में लगभग सभी दर्शन एकमत हैं। वह जीवन का परम लक्ष्य होता है। वहां आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में पहुंचती है। भव-परम्परा के बीज राग और द्वेष यहां नहीं रह जाते। महायान सम्प्रदाय प्रभृति कुछ एक विचार-परम्पराओं को छोड़कर लगभग सभी दर्शन परम्पराएं इसमें सहमत हैं कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय व्यक्तिगत हैं। पिता, पुत्र, समाज, राष्ट्र और विश्व के एक साथ मोक्ष-गमन की चर्चा कहीं नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति ही अपनी अनवद्य साधना से कर्म-मल रहित होकर मोक्ष पहुंचते हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्म और अहिंसा के आधारभूत दर्शन की उपेक्षा कर समाज को एकान्तरूप से लोकाभिमुख ही बनाने का विचार कैसे यथार्थ माना जा सकता है और यह निर्हेतुक विपर्यास कैसे अहिंसा धर्म का विकास ही माना जा सकता है।

अहिंसा और धर्म का प्रयोजन

हमें यह भी भूलना नहीं चाहिए कि अहिंसा और धर्म का परम उद्देश्य व्यक्ति को उसकी मंजिल तक पहुंचाने का है। यह ठीक है कि अहिंसा और धर्म के व्यापक बहुमुखी प्रभावों से वर्तमान जीवन भी अलौकिक होता है। समाज-व्यवस्थाएं और अन्य विश्वोपक्रम सुसम्पन्न होते हैं, यह उनका गौण परिणाम ही होता है। अहिंसा प्राणीमात्र की जिजीविषा के लिए कही जाती है। भगवान् श्री महावीर के सूक्तों में भी यह बात बहुत प्रकारों से दुहराई गई है। प्राणीमात्र जीना चाहते हैं, इसलिए निर्ग्रन्थ उनकी हिंसा न करें। वास्तव में यह एक उपदेश-विधि ही है। इस स्थूलता के नीचे अहिंसा का स्वरूप और प्रयोजन तो इस प्रकार है—

आत्मा में रागादि भावों का अप्रादुर्भाव ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का प्रादुर्भाव ही हिंसा है।[1]

---

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

संयत मुनि के रागादि आवेश रहित आचरण से किसी प्राणी का प्राण-व्यपरोपण हो जाने पर भी वह हिंसा नहीं है।[1]

रागादि आवेशों के वश होने वाले असंयत आचरण से किसी जीव का प्राण-व्यपरोपण हो अथवा न भी हो, उस व्यक्ति के लिए तो वह निश्चितरूप से हिंसा है ही।[2]

तत्त्वार्थ यह है, व्यक्ति कषायज भावों से लिप्त होकर हिंसा करता हुआ सर्वप्रथम अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अन्य प्राणियों की हिंसा हो या न हो, यह तो आगे की बात है।[3]

योगों की प्रमत्तता के कारण हिंसा से विरक्त न होना और हिंसा करना दोनों ही हिंसा के अन्तर्गत है।[4]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी परनिमित्तक नहीं होती, तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए प्राण-व्यपरोपणादि हिंसायतनों से व्यक्ति को निवृत्त होना चाहिए।[5]

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने द्वारा या अन्य किसी द्वारा होने वाली हिंसा को बचाने के लिए आत्मोपदेश या परोपदेश में प्रवृत्त होता है, हिंसा टले या न टले,

---

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४४

१. युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४५

२. व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४६

३. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४७

४. हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४८

५. सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४९

वह अपनी सत्प्रवृत्ति के कारण अहिंसा व अनुकम्पा का ही आचरण करता है। अस्तु, अहिंसा का पारमार्थिक लक्ष्य आत्म-शुद्धि और उसका मार्ग कषाय-विजिगीषा है।

क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु

भगवान् श्री महावीर के लगभग तेईससौ वर्ष पश्चात् अहिंसा के क्षेत्र में क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु का अमिट चरण-विन्यास हुआ। दो सहस्राब्दियों के इतिहास में अहिंसा का वह अपूर्व परिच्छेद बना। अहिंसा जहां लोकैषणाप्रधान तत्त्वों के आघात-प्रघातों से जर्जरित हो उठी थी, उसे पूर्ण पुनरुज्जीवन मिला। बौद्ध वाङ्मय की शैली मे आचार्य भिक्षु का वह उपक्रम "जैसे उलटे को सीधा करदे, ढके को उभार दे, भटके को राह दिखा दे, अन्धियारे में दीप जला दे,[1] की शब्द गरिमा से श्लाघनीय था। धर्म-संरक्षण के नाम पर, जीवन की अनिवार्यता के नाम पर, मानव-श्रेष्ठता के नाम पर, दया, दान और लोक-सेवा के नाम पर अहिंसा हिंसा के द्वारा, त्याग भोग के द्वारा, निवृत्ति-प्रवृत्ति के द्वारा निगली जा रही थी। महाप्राण आचार्य भिक्षु ने प्रतिस्रोत मे अपने चरण थाम कर सचमुच ही गेहूं और कंकरों को, दूध और पानी को अपनी हंस-मनीषा से पृथक्-पृथक् कर दिया था। उनकी सफलताएं उनके साथ ही विलीन नहीं हुई थीं। उनका यह तेरापंथ प्रतिष्ठान लाखों-लाखों लोगों द्वारा आज भी पूजित हो रहा है। भविष्य की सहस्राब्दियों में भी यह अमृत-प्रवाह बहता रहेगा, यह आशा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा की एक प्रतिमूर्ति थे। उनके विचारों में अहिंसा थी, उनकी वाणी में अहिंसा थी और उनके आचरण में अहिंसा थी। वे अहिंसा के गूढ़ विचारक थे, अनुपम उपदेशक थे और अनन्य उपासक थे। शास्त्रों के विलोड़न और अपनी प्रतिभा के प्रस्फोटन से अहिंसा का जो नवनीत उन्हें मिला, स्वयं उन्होंने खाया, जी भर दूसरों को खिलाया और आने वाली सन्तति के लिए उसे ग्रन्थ-मंजूषाओं में संजोकर रखा।

निष्ठा और परिभाषा

उनके हृदय में अहिंसा की अपार निष्ठा थी। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप में विश्वास रखते थे। उनका कहना था—अन्य वस्तुएं परस्पर मिल सकती हैं, परन्तु अहिंसा (दया) में हिंसा नहीं मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के

१. संयुत्तनिकाय ब्रहर सुत्त ३-१-१

रास्ते कभी एक नहीं हो सकते।[1] धर्म की नींव अहिंसा (दया) के ऊपर है। हिंसा-प्रवृत्ति से धर्म होगा तो जल-मन्थन से भी घृत का आविर्भाव हो जाएगा।[2] धूप और छाया की तरह हिंसा और दया की उपादान क्रियाएं भी अत्यन्त भिन्न होंगी।[3] रक्त से संश्लिष्ट पीताम्बर रक्त-प्रक्षालन से शुद्ध नहीं होता तो हिंसा-प्रवृत्ति से मलिन हुई आत्मा, हिंसा-धर्म से ही कैसे शुद्ध होगी ?[4] सूई के धागा पिरोने के छिद्र में कोई मोटा रस्सा पिरोने बैठे तो वह आगे कैसे चलेगा ? त्यों हिंसा में परूपा गया धर्म गले कैसे उतरेगा ?[5] सर्वभूत खेमंकरी अहिंसा अल्प जीवों के लिए या बहुत जीवों के लिए नहीं, वह समस्त जीवों के लिए है। षट्कायिक जीवों को मन, वचन और शरीर से न हनन करना, न हनन करवाना और न हनन करते हुए का अनमोदन करना अहिंसा है।[6]

धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम

श्रद्धा के बिना जीवन एकनिष्ठ नहीं बनता और एकनिष्ठ बने बिना सिद्धि

---

१. और वसत में भेल हुवे पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूर्व ने पिछम रो मारग, किण विध खाये मेलो जी॥
—अनुकम्पा चौपाई ढाल ६ गाथा ७१

२. जिण मारग री नींव दया पर, खोजी हुवे ते पावे जी।
जो हिंसा मांहें धर्म हुवे तो, जल मथीयां घी आवे जी॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ६ गाथा ७४

३. हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नांहीं जी।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावडो ने छांही जी॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ६ गाथा ७०

४. लोही खरड्यो जो पितम्बर, लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कियां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥
—विरत इविरत की चौपई ढाल १ गाथा ३६

५. सूई नाके सिंघर पोवै, कहो किम आगे पेसै।
ज्यूं हिंसा मांहे धर्म परूपे, ते सालोसाल न बेसै रे॥
—आचार री चौपई ढाल ६ गाथा २८

६. छ काय हणावे नहीं, हणीयां भलो न जाणें ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ८ दोहा ३

नहीं मिलती। तर्क सत्यावाप्ति का एक साधन है, पर बुद्धि की तरतमता में उसका कोई एक रूप स्थिर नहीं होता। इसीलिए कर्मयोगी कृष्ण ने कहा है—'मामेकं शरणं व्रज—मेरा ही शरण ग्रहण करें'।[१] गौतम बुद्ध ने कहा—'यदि कोई किसी को सचमुच सम्यग् कहे, तो वह मुझको ही कह सकता है। मैंने ही उस अनुत्तर पूर्ण बुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।[२] भगवान श्री महावीर की शालीन भाषा थी, 'आणाए मामगो धम्मो' आज्ञा मे ही मेरा धर्म है'।[३] आचार्य श्री भिक्षु भगवान श्री महावीर के अनुयायी थे। उन्होंने उस आदेश को श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया और साथ-ही-साथ तर्क और युक्ति पर भी कसा। फलित रहा—भगवान् की आज्ञा कहां है, जहां संयम और सत् प्रवृत्ति की वृद्धि है।[४] ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का सरक्षण है।[५] असंयम और असत् प्रवृत्ति के लिए भगवान् का कहीं इंगित नही है। भगवान् की आज्ञा वहां है, जहां ध्यान, लेश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय प्रशस्त हैं।[६] भगवान् की आज्ञा वहां है. जहां धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ज्योति[७] जलती है, व्रत-बीज अंकुरित, पुष्पित और फलित होता है। स्वार्थ मिटता है और परमार्थ जुटता है।

---

१. गीता अध्याय १८ श्लोक ६६

२. संयुत्तनिकाय बहर सुत्त ३।१।१

३. आचारांग सूत्र अध्ययन ६ उ० २

४. सर्व मूल गुण उत्तर गुण, देस मूल उत्तर गुण दोय रे।
यां दोनूं गुणां में जिण आगना, आगना बारै गुण नहीं कोय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १८

५. ग्यांन दर्शण चारित नें तप, ए तो मोख रा मारग च्यार रे।
यां च्यारां में जिणजी री आगना, यां बिना नहीं धर्म लिगार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० २

६. नंदी उत्तरे त्यांरो ध्यांन कीसो छै, किसी लेश्या किसा परिणाम रे।
जोग किसा अधवसाय किसा छै, भला भूंडां री करो पिछाण रे॥
ए पांचूं भला छै तो जिण आगना छै, माठा में जिण आग्या न कोय रे।
ए पांचूं माठा सूं पाप लागे छै, भलां सूं पाप न होय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल ३ गा० १६-२०

७. धर्म ने सुकल दोनूं ध्यांन में, जिण आग्या दीधी बारूंबार रे।
आरत रुद्र ध्यांन माठा बेहूं, यांने ध्यावै ते आग्या बार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १२

भगवान् की आज्ञा वहां है जहां सावद्य कर्म टलता है, निरवद्य कर्म पलता है।[1] ऐसा एक भी कार्य नहीं है जो धर्म और अहिंसारूप हो और वह आज्ञा-सम्मत न हो। न ऐसा ही कोई कार्य अवशेष रह जाता है, जो आज्ञा-सम्मत हो और अहिंसा व संयम प्रधान न हो। इस प्रकार आज्ञा और तर्क को अपनी बुद्धि के तराजू पर तोल कर आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम को कहा। आगमवादियों से वे कहते, जो व्यक्ति यह कहता है, यह धर्म है, पर आज्ञा सम्मत नहीं है; वह सचमुच ही कहता है—मैं पुत्र हूं पर मेरी माता बन्ध्या[2] है। वे तर्कनिष्ठ लोगों से बतलाते—असंयति जीवों की जीवन-कामना राग है, मरण-कामना द्वेष है और उनके लिए की गई भव-तितीर्षा धर्म है।[3]

अविभक्त अहिंसा

अहिंसा सम्बन्धी सभी शास्त्रों में अहिंसा की परिभाषा लगभग समान ही मिलती है। ज्यों-ज्यों वह जीवन के व्यवहारिक प्रसंगों पर उतारी जाती है, वहां वह परिभाषा विभक्त होती देखी जाती है। प्रवर्तक व विचारक उन परिभाषाओं को तोड़-मोड़कर वर्तमान जीवन के साथ संगत करते है। जैन-शास्त्र कहते हैं, साधु अपने संयम निर्वाह के लिए अचित्त, प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करे। आवश्यक निर्युक्ति में बताया जाता है—साधु रोगादि विशेष परिस्थिति में सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का उपयोग करे। अचित्त की अनुपलब्धि में वह सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि गृहस्थ के यहां से लाए, वहां न मिले तो वह खान, सरोवर, अटवी आदि स्थानों में जहां सुलभ हो वहां से लाए।[4] रोगादि प्रसंगों से तथा संघ-संरक्षण, चैत्य-रक्षण आदि प्रसंगों से वैध मानी गई हिंसा के

---

१. दोय करणी संसार में, सावद निरवद जाण।
निरवद करणी में आगन्यां, तिणसूं पामें पद निरवाण॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल १२ दु० २

२. कोई कहे मांहरी मा तो छे बांझड़ी, तिणरो हूं छूं आतम जात।
ज्यूं मूर्ख कहे जिण आगना बिना, करणी कीधा धर्म साख्यात॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल २ गा० ११

३. असंयति जीव रो जीवणो बांछे ते राग, मरणो बांछे ते धेष, तिरणो बांछे ते वीतराग प्रभु रो मारग छे।
—जयाचार्य कृत हाजरी

४. आवश्यक निर्युक्ति, परिष्ठापना समिति

और भी अनेकों रोम-हर्षक उदन्त पिछले प्रकरणों में बताए जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण दृढ और न्यायोचित रहा है। उनका अभिप्राय था—राग और द्वेष से मुक्त तीर्थंकर द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि का उल्लेख करते है, वह उनके अधिकार की बात है। राग-द्वेष मुक्त सर्वज्ञों की तरह साधारण छद्मस्थ भी यदि अहिंसा धर्म में अपवाद जोडते चलें तो वह न्याय नहीं है। अवीतराग के निर्णय में राग और द्वेष की स्फुरणा सम्भावित है; अतः उनका इस ओर प्रवृत्त होना संगत नहीं। एक के बाद एक अपवाद जोड़े जाकर अहिंसा मिट ही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्तिकारी घोष था; टीका, भाष्य, चूर्णियां आदि स्वतः प्रमाण नहीं है। जैसे उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा विहित अपवादों को हेय बताया, वे स्वय भी अपनी धारणा पर अत्यन्त सुदृढ़ रहे। उन्होंने एक धर्म-सघ का प्रवर्तन किया। सहस्रों प्रश्न और परिस्थितियां उनके सामने आती रहीं, तथापि एक भी अपवाद जोड़कर उन्होने अहिंसा को विभक्त नहीं किया। दया, दान, लोकोपकार, साध्वाचार आदि की जो व्याख्याएं उन्होंने दी, उनमें अहिंसा और संयम को सर्वत्र अविभक्त बनाए रखा। छद्मस्थ-अवस्था में भगवान् श्री महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह अवीतराग दशा की भूल थी।[1] लोकमत प्रतिकूल हुआ। दया के उत्थापक, दान के विध्वसक के खिताब मिले, पर उन्होने हिंसा के हाथों अहिंसा को नहीं जाने दिया। उनका विश्वास था—मेरा उपास्य अहिंसा है न कि लोक-समुदाय।

परम कारुणिक

स्थूल मेधावालो की धारणा मे आचार्य भिक्षु जितने करुणा-शून्य थे, तत्त्वदर्शियों की दृष्टि मे वे उतने ही अधिक कारुणिक थे। धनी और निर्धन, बलवान् और निर्बल, स्थावर और जंगम उनकी दृष्टि मे समान थे। एक के लिए दूसरे का बलिदान उन्हें स्वीकार नहीं था। वे प्राणीमात्र की समानता मे विश्वास रखते थे। मनुष्य संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसकी अपेक्षाओं के लिए अन्य प्राणियों का विनाश आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता। यही बात स्थावरों का प्राण-

---

१. तिणनें वीर बचायो बलतो जांण नै रे, लबद फोड़वे सीतल लेस्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरे रे, छदमस्थ गया तिण काले चूक रे॥
—अनुकम्पा चौपई गीति १० गाथा ७

वियोजन कर जंगमों के संरक्षण में थी।[1] आचार्य भिक्षु का तत्त्व-चिन्तन था, प्राणीमात्र जीना चाहते हैं। व्याघ्र को मार कर मनुष्य की रक्षा एक समाज-नीति हो सकती है, पर अध्यात्म नहीं। आदर्श आत्मवत् सर्वभूतेषु—प्राणीमात्र को अपने समान समझने का है। व्यवहारिक जीवन में मनुष्य उस आदर्श में तरतमता स्थिर करता है। पशुओं की अपेक्षा में वह मनुष्य को प्रमुखता देता है; मनुष्य मनुष्य में वह अपनी जाति और देश के मनुष्य को और उसकी भी अपेक्षा में अपने पारिवारिक को और अन्त में वह स्वयं को। ये मनुष्य की ममता परक सीमाएं हैं। इन अपेक्षाओं मे परमार्थ नहीं खोजा जा सकता।

तो एकेन्द्रिय जीवों ने कब कहा था ?

आचार्य भिक्षु से किसी एक ने कहा—एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय जीव का पोषण करने में धर्म है। आचार्य भिक्षु बोले—यदि कोई तुम्हारा अंगोछा छीनकर किसी ब्राह्मण को दे दे तो उसमें धर्म होगा कि नही ? प्रश्नकर्ता ने कहा—नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—इसी प्रकार कोई किसी के धान से भरे कोठे को अपने आप खोलकर सारा धान गरीबों को बांट दे, तो उसमें धर्म होगा या नही ? प्रश्नकर्ता ने कहा—उक्त दोनों कार्य मालिक की इच्छा बिना किए गए है, अतः इनमे धर्म नही होगा। आचार्य भिक्षु स्मित भाव से बोले—तो एकेन्द्रिय जीवों ने कब कहा था, हमारे प्राण पंचेन्द्रिय जीवों के लिए ले लो।[2]

मात्स्य न्याय

सामाजिक प्राणी के जीवन-निर्वाह में पृथ्वी, जल वनस्पति आदि की हिंसा अवश्यम्भावी हो जाती है। एक मत्स्य दूसरे मत्स्य को खाकर जीता है और अन्य उससे भी बड़ा मत्स्य उसे खाकर जीता है। यह 'मात्स्य न्याय' लोक में चलता ही रहता है। एक दूसरे का भक्षण कर अपनी-अपनी जिजीविषा पूरी करते हैं। उसमें

---

१. केई कहे म्हे हणां एकेन्द्री, पंचेन्द्री जीवां रै तांई जी।
एकेन्द्री मार पंचेन्द्री पोष्यां, धर्म घणों तिण माहीं जी॥
एकेन्द्री थी पंचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेन्द्री मार पंचेंद्री पोष्यां, म्हांने पाप न लागे लिगारी जी॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ६ गाथा १६-२०

२. भिक्खु दृष्टान्त संख्या २६४

भी लोक धर्म कहते है, यह आश्चर्य है।[1] आचार्य भिक्षु के मन में निर्बल जीवों के प्रति होने वाली इस निर्ममता के प्रति एक करुणा है। वे कहते हैं—निर्बल स्थावर प्राणियों को मारकर सबल जंगम प्राणियों का पोषण करते हैं और उसमें धर्म कहते हैं, सचमुच ही यह विपरीत बात है। ऐसे लोग बेचारे स्थावर जीवों के लिए शत्रु खड़े हुए है।[2] जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना सांसारिक मार्ग है। इसमें धर्म बतानेवाले अज्ञ है।[3]

आचार्य भिक्षु ने स्थावर जीवो के प्रति अहिंसा का विवेक दिया। वे यह जानते थे, सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जकड़ा हुआ है और वे इस हिंसा से बहुत अधिक ऊपर नही उठ सकते। आचार्य भिक्षु के मन में दो प्रेरणाएं बलवती थी—स्थावर जीवों को साधारण या नगण्य समझकर मारा ही न जाए; श्रावक भी अपने सद्विवेक से यथासम्भव उनके प्रति अहिंसक बनें। दूसरी प्रेरणा—व्यक्तिगत या सामाजिक अपेक्षाओं से उनकी हिंसा भी की जाए और धर्म भी माना जाए, यह उचित नहीं।

सामाजिक जीवन की अपेक्षा में

सामाजिक जीवन की अपेक्षाओं मे आचार्य भिक्षु का विवेक पूर्ण जागरूक था। अपने बारह व्रत की चौपई मे वे श्रावक की भाषा में बोलते हैं—मैं गृहस्थाश्रम में बसता हूं। नाना कार्यों मे स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। आरम्भ किए बिना उदर नही भरता और आरम्भ में हिंसा हुए बिना नही रहती। इसलिए स्थावर जीवों की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हूं। जंगम प्राणियों के विषय में निरपराध प्राणी की हिंसा का त्याग करूंगा, अपराधी प्राणी की हिंसा का नहीं। मैं खेती करते हुए हल चलाता हूं, जमीन पोली करता हूं, घास आदि काटता हूं, निरपराध जीव भी उसमें मरते हैं। अतः निरपराध जीवों को भी मैं

---

१. मछ गलागल लोक में, सबला ते निबलां ने खाय।
तिण में धर्म परूपीयो, कुगुरा कुबुध चलाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ दोहा १

२. रांकां ने मार धींगाने पोषे, आ तो बात दीसै घणी गेरी।
ईण मांहीं दुष्टी धर्म परूपै, तो रांक जीवांरा उठ्या बेरी॥
—ज्ञानप्रकाश पृष्ठ ६८

३. जीवां ने मारे जीवां ने पोषै, ते तो मारग संसार नो जाणों जी।
तिण मांहें साध धर्म बतावै, ते तो पूरा छै मूढ अयाणो जी॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ६ गाथा २५

संकल्परूप से मारने का ही त्याग करता हूं।[1]

स्थावर-अहिंसा का विवेक

आचार्य भिक्षु ने स्थावर अहिंसा पर जो विवेक दिया, वह अवश्य निराला है। उनके अहिंसा-चिन्तन का वह एक प्रमुख भाग कहा जा सकता है। धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा के निरूपण में उन्होने स्थावर जीवों को कही भुलाया नहीं है। महात्मा गांधी के अहिंसा-चिन्तन में भी स्थावर जीवों के अस्तित्व और अहिंसा-विवेक की एक झांकी मिलती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वनस्पति में भी प्राण हैं; परन्तु वनस्पति का उपयोग किए बिना भी हम नहीं रह सकते। यह जीवन के नाश से किसी तरह कम नहीं है।[2] अग्नि को प्रगट करने में हिंसा होती है। फिर उस अग्नि में सूखी या हरी वस्तु का होम करना विशेष हिंसा है।[3] जिस तरह मनुष्य ईश्वर की कृति है उसी तरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति हैं। अतः वे भी एक कुटुम्ब रूप है, इसलिए उनके प्रति भी हमें सद्भावना रखनी चाहिए। मिट्टी या पत्थर का भी दुरुपयोग नही करना चाहिए।[4]

---

१. वसतां गृहस्थावास, हिंसा हुवै जास।
आरम्भ विण करीये ए, पेट किम भरीये ए ॥३॥
करूं तस तणा पचखांण, थावर नों परमाण।
भेद तस तणां ए, ग्यानी कह्या घणा ए ॥४॥
कोई मोंने घाले घात, माहरो अपराधी साख्यात।
खमतां दोहिलो ए, नहीं मोंनें सोहिलो ए ॥५॥
विण अपराधी होय, तिणरी हिंसा दोय।
मारे जांणतां ए, बले अजांणतां ए ॥७॥
म्हारे धान जोखण रो काम, गाड़ी चढ़ जाऊं गाम।
खेती हल खड़ूं ए, सूर निंनांण करूं ए ॥८॥
तिहां बहू जीव हणाय, किम पालूं मुनीराय।
नहीं सझे एसो ए, ग्रहवासे फस्यो ए ॥९॥
आकुटी ने साम, जीव मारण रे काम।
व्रत छै जांणतां ए, नहीं अजांणतां ए ॥१०॥
—बारह व्रत री चोपई गीति १

२. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा–प्रथम भाग पृष्ठ २३
३. व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३०८
४. गांधी और गांधीवाद पृ० २७३-७४

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने सुन्दर सगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस लोक को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गांधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द-विन्यास से देखा है। वे कहते है—अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली मे फंसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसा के बिना जी नही सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है—जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष; इन भेदों को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य आदि भेद-प्रभेदों को यथार्थ नही जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग : एक समस्या

कार्यों की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। मीमांसकों ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए—ऋत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म, युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत, उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

१. युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५

२. प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

—गीता अध्याय १८

नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ये भी सब कर्मों के भेद हैं।[1] जैन-आगमों की भाषा में पाप-आगमन के हेतुरूप कर्म अशुभ योग आश्रव हैं, पाप-निरोधक कर्म संवर हैं, पाप-मोचक कर्म निर्जरा हैं, पुण्य-निमित्तक कर्म शुभ योग आश्रव हैं। आचार्य भिक्षु ने इन्हीं हेयोपादेय भेद-प्रभेदों को सावद्य-निर्वद्य, व्रत-अव्रत, प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग-भोग, आज्ञा-अनाज्ञा आदि भेदों से अभिहित किया।

वैदिक परम्परा मे समाजस्थ प्राणियों के सभी करणीय और अकरणीय कर्म धर्म और अधर्म शब्दों से कहे जाने लगे। कार्यों की करणीयता और अकरणीयता विविध अपेक्षाओं पर आधारित थी। धर्म शब्द में उन सबका समावेश बहुत ही भ्रामक हो गया। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ आत्म-शुद्धि का साधन है, पर जब वह नीति, कर्तव्य और नाना सामाजिक नियमनों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा तो सामान्य लोगों में वे सभी कर्म मोक्ष साधक धर्म के अन्तर्गत समझे जाने लगे। विद्वान् और विचारक उन शब्द-प्रयोगों मे भले ही स्वयं न उलझे हों, परन्तु उनके विभिन्न अपेक्षाओ से किए गए वे धर्म शब्द के प्रयोग समाज की धर्म सम्बन्धी धारणाओं में एक समस्या बन गए।

महात्मा गांधी के शब्द-प्रयोग

महात्मा गांधी के शब्द-प्रयोगो को देखें। वे कहते हैं—बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गए हैं, उस जगह उनको मारने में जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।[2] एक अन्य प्रसग से वे कहते हैं—जब अकाल सामने हो। तब अहिंसा के नाम पर फसल को उजडने देना में तो पाप ही समझता हू।[3] इसी प्रकार एक प्रसंग से वे लिखते है—मछली या मांस खाने वाले को ये चीजें खाने देने में जो हिसा होती है, उसे मै हिंसा नहीं मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हूं।[4] इन्हीं विषयों पर वे प्रसंगान्तर से दूसरी ही भाव-भाषा में अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं—बन्दर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमे अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही गिनी जाएगी। उसमे बन्दर के हित का विचार नही है, किन्तु आश्रय के ही हित का विचार है।[5] किसान जो हिंसा करता है, वह हिंसा अनिवार्य होकर

१. कर्मयोग शास्त्र पृ० ५६-५७
२. हरिजन ता० २६-४-४६
३. हरिजन बन्धु ता० २६-५-४३
४. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० २०
५. अहिंसा (गुजराती) पृ० ५०-५२

क्षम्य हो सकती है, परन्तु अहिंसा नहीं हो सकती।[1] प्लेग के चूहे और चींचड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।[2] इन परस्पर विरोधी उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, बन्दर आदि की हत्या में धर्म कहते समय उनकी बुद्धि एक सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर रही है और उन्हीं कार्यों को हिंसापरक तथा दोषपूर्ण बताते समय उनका चिन्तन प्राणीमात्र की समानता और आत्म-धर्म की यथार्थता पर रहा है।[3]

तिलक और धर्म का उभयात्मक स्वरूप

कर्मयोग के असाधारण विवेचक लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक के सामने धर्म शब्द का यह व्यापक प्रयोग कठिनाई होकर आया है। गीता-रहस्य के अनेकों पृष्ठों मे धर्म के उभयात्मक रूप को उन्हें स्पष्ट करना पड़ा है। वे लिखते है— धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते है। नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग पारलौकिक सुख का मार्ग इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि तेरा कौन-सा धर्म है? तब उससे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलना है और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधन-भूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयो की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्म-सूत्रो मे भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है; परन्तु धर्म शब्द का इतना ही सकुचित अर्थ नही है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनो को भी धर्म कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थो को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं।[4] इसी प्रकरण में वे आगे लिखते हैं—जो कर्म हमारे मोक्ष, हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हों वही पुण्य है, वही धर्म है और वही शुद्ध कर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल है वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है।[5]

१. अहिंसा (गुजराती) पृ० १३६
२. व्यापक धर्म भावना पृ० ६-१०
३. विशेष विवरण—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० १७-२६
४. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ६७-६८
५. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७०

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म की इतनी स्पष्ट धारणा होते हुए भी लोकमान्य तिलक ने विषय के उपसंहार में यही कहा है—क्या संस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमों के बारे में किया है, जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए हैं। इसलिए उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ मे किया है।[1]

मोक्ष-धर्म और व्यवहारिक धर्म विषयक अपनी धारणा को यदि लोकमान्य तिलक अपने सहस्र पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ गीता-रहस्य में आदि से अन्त तक उसी शब्द-भेद के साथ निभाते तो गीता-दर्शन एक नया ही रूप ले लेता। वह इस पहलू पर एक वैसी ही क्रान्ति होती, जैसी जैन-परम्परा में आचार्य श्री भिक्षु ने की है। पर वर्तमान गीता-रहस्य तो लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिलाकर चलने वाली प्राचीन परम्परा का ही पोषक ग्रन्थ बन गया है। शब्द-प्रयोग का प्रारम्भ में किया जानेवाला मात्र स्पष्टीकरण सामान्य पाठको के साथ बहुत आगे तक नहीं चल पाता।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की विभक्ति

आचार्य श्री भिक्षु लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिला देने के नितान्त विरोधी थे। उनकी धारणा थी, दोनों धर्मों को एक ही मानकर चलने में उद्देश्य-हानि के कारण दोनों ही अपना स्वरूप खो सकते हैं। एक वणिक् घृत और तम्बाकू इन दो चीजों का व्यापार करता था। एक दिन अपनी दुकान लड़के को सम्भला-कर स्वय किसी दूसरे गांव को चला गया। लडका वस्तु-विवेक से रहित था। उसने सोचा, पिताजी दोनों वस्तुओं का भाव तो एक ही बतला कर गए हैं और इधर आधा बर्तन तम्बाकू से भरा है और इधर आधा घृत से। क्यों नहीं मैं दोनों को एक ही बर्तन में डालकर एक बर्तन खाली करके ही रख दूं? वैसे ही किया। कोई भी ग्राहक आता—घृत या तम्बाकू का तो वह उसे घृत-तम्बाकू-स्वाथ दिखलाता और कहता दोनों चीज एक ही भाव की हैं। ले जाइये। ग्राहक उसकी मूर्खता पर हंसकर वापिस लौट जाते। सायंकाल पिता दुकान पर आया। लड़के की बुद्धिमानी देखी। हैरान रहा। बोला, ऐसा करके तो तू ने दोनों ही वस्तुओं का सत्यानाश कर दिया।[2] यही बात आचार्य भिक्षु मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म को

---

१. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७२

२. जिम कोइ घ्रत तंबाखू विरणजै, पिण वासण विगत न पाडै रे।
घ्रत लेई तंबाखू में घालै, ते दोनूंई वसत बिगाडै रे॥
—व्रताव्रत चोपई गीतिका ४ गाथा १

एक कर देने के विषय में माना करते थे। उनका कथन था, अपने-अपने स्थान पर दोनों वस्तुए उपयोगी और मूल्यवान् हैं। पर दोनों का इस प्रकार का मेल दोनों के लिए ही घातक होता है। सर्वसाधारण को विविध उदाहरणों से उन्होंने आधिभौतिक और आध्यात्मिक धर्मों का बोध दिया है। वे कहते हैं—कोई व्यक्ति अग्नि से जल रहा है या कुएं मे गिर रहा है, उसे किसी ने बचाया; यह लौकिक उपकार है।[1]

किसी ने किसी व्यक्ति को बोध-दान कर पाप-मुक्त किया और वह पाप-मुक्त व्यक्ति भव-कूप मे गिरने से बचा और भव-दावाग्नि से जलते-जलते बचा; यह लोकोत्तर उपकार है और मोक्ष-मार्ग है।[2]

कोई किसी मरणासन्न रोगी को औषधादि उपचार से स्वस्थ कर मरने से बचा लेता है; यह सांसारिक उपकार है।[3]

किसी व्यक्ति ने मरणासन्न व्यक्ति को चार शरण दिए, नानाविध त्याग कराए, सासारिक आसक्ति से मोह-मुक्त किया, यावत् आमरण अनशन (संथारा) करा दिया; यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[4]

किसी व्यक्ति ने किसी को तालाब मे डूबने से बचाया या ऊपर से गिरते हुए को बचाया; यह उपकार सांसारिक है।[5]

---

१. कोइ द्रवे लाय सू बलतो राखै, द्रवे कूवो पड़ता नें झाल बचायो।
ओ तो उपगार कीयो इण भव रो, जो विवेक विकल त्यांने खबर न कांयो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा २

२. घट में ग्यांन घाल नें पाप पचखावै, तिण पड़तो राख्यो भव कूआ मांह्यो।
भावे लाय सू बलता नें काढ़े रिषेश्वर, ते पिण गेहलां भेद न पायो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३

३. कोइ मरता जीव नें जीवां बचावै, झाड़ा झपटा करै ओषध देइ तांम।
बले अनेक उपाय करै नें तिणनै, मरतो राख्यो साजो कीयो तमांम॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ८

४. कोइ मरता जीव नें सूस करावै, च्यारूं सरणा देइ नें करावै संथारो।
ग्यांन ध्यांन मांहें परिणांम चढ़ावै, न्यातीलां सू देवें मोह उतारो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ६

५. कोइ लाय सूं बलतां नें काढ़ बचायो, बले कूए पड़तां नें झाल बचायो।
तलाब मांहे डूबा नें बारै काढ़ै, बले उंचा थी पड़तां नें झालै लीयो ताह्यो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १२

किसी ने किसी व्यक्ति को संसार-समुद्र में डूबने से बचाया या नरकादि निम्न गतियों में पड़ने से बचाया; यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[1]

किसी के घर में आग लगी है। छोटे-बड़े सभी लपेट में आ गए है। किसी ने आग बुझाकर उन सबको बचा लिया है; यह सासारिक उपकार है।[2]

किसी व्यक्ति के घट में तृष्णा की होली जल रही है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण उसमें जल रहे है। किसी ने धर्मोपदेश कर वह तृष्णा की आग बुझा दी, उसके हृदय में शान्ति का मेघ बरसा दिया; यह उपकार आध्यात्मिक है।[3]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र का लालन-पालन करता है, उसका विवाह करता है, उसके लिए भोगोपभोग की सभी सामग्री जुटाता है; यह उपकार सांसारिक है।[4]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र को प्रारम्भ से आध्यात्मिक प्रशिक्षण देता है, संसार की अनित्यता बताता है, विषय-सुखों को दुःख-मूल बताता है और त्याग-मार्ग पर अग्रसर कर देता है; यह उपकार आध्यात्मिक है।[5]

कोई व्यक्ति माता-पिता को कावड़ में लिए चलता है, यथासमय उन्हें यथा-रुचि भोजन कराता है, यह सेवा सांसारिक है।[6]

---

१. जनम मरण री लाय थी बारै काढ़ै, भव कूआ मांहि थी काढ़ बारे।
नरकादिक नीची गति मांहें पड़तां नें राखै, संसार समुद्र थी बारै काढ़ उधारै॥
—अनुकम्पा चौपाई गीति ११ गाथा १३

२. किणरै लाय लागी घर बलै छै, तिणमें नांन्हा मोटा जीव बलै लाय मांहि।
कोइ लाय बुझाय त्यांनै बारै काढ़ै, घणांरै साता कीधी लाय बुझाई॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १४

३. किणरे तिसणा लाय लागी घट भितर, ग्यांनादिक गुण बलै तिण मांय।
उपदेस देइ तिणरी लाय बुझावै, रूंम रूंम में साता दीधी वपराय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १५

४. कोइ टाबर पालै नें मोटा करै छै, आछी आछी वस्त तिणनें खवाय।
बले मोटे मंडाण करै परणावै, बले धन माल देवै कमाय कमाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

५. कोई बेटा नें रूडी रीत समझाए, धन माल सगलोइ देवै छोड़ाय।
कांम भोग अस्त्रीयादिक खावो नें पीवो, भली भांति सू त्याग करावै ताय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १७

६. माता पिता री सेवा करै दिन रात, बले मनमान्यां भोजन त्यांनें खवावै।
बले कावड़ कांधे लीयां फिरै त्यांरी, बले बेहूं टकां रो सिनान करावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १८

कोई व्यक्ति वृद्धावस्था में माता-पिता को धार्मिक स्वाध्याय कराता है, शब्दादि विषयो में अरुचि उत्पन्न कराता है और ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणों में लीन करता है; यह सेवा पारमार्थिक है।[1]

जंगल में राह भूले व्यक्ति को कोई राह बता देता है या उसे कन्धों पर बिठाकर उसके घर पहुचा देता है; यह आधिभौतिक उपकार है।[2]

ससाररूप अटवी में भटकते हुए मनुष्य को कोई ज्ञान-मार्ग बता देता है, उसका पाप-भार दूर कर देता है और उसे आनन्दपूर्वक मुक्ति पहुंचा देता है; यह धार्मिक उपकार है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित मार्ग

आचार्य भिक्षु की धर्म के विषय में जिस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उभय स्वरूपात्मक व्याख्या रही इसी प्रकार दया, दान, सेवा आदि सभी व्यापक शब्दो को लौकिक और लोकोत्तर भेदों में बांट देने की मीमासा रही। उन्होंने मुनि-जीवन को निकेवल अध्यात्म साधक माना और गृही-जीवन को निवृत्ति और प्रवृत्ति का एक समन्वित मार्ग।

गृही-जीवन के उभयात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बहुत ही सरल और भावबोधक उदाहरण दिया। किसी नगर मे एक धनवान् सेठ रहता था। उसके दो पत्निया थी। दोनों की ही सेठ के प्रति अत्यन्त आत्मीयता थी। दो पत्नियां होकर भी सेठ का दाम्पतिक जीवन सुख-पूर्ण था। उन दोनों में एक आध्यात्मिक दृष्टि को समझनेवाली थी और दूसरी इससे सर्वथा अनभिज्ञा थी। अकस्मात् सेठ का शरीरान्त हो गया। घर में कोलाहल मचा। पारिवारिक लोग एकत्रित हुए। प्रथम स्त्री धर्म-मर्मज्ञा थी। उसने सोचा, यह संसार की नश्वरता है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दिवंगत आत्मा के प्रति मोह, आसक्ति और आर्त्त-

---

१. कोइ मात पिता नें रूडी रीते, भिन भिन कर नें धर्म सुणावें।
ग्यांन दरसण चारित त्यांनें पमावें, कांम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावें ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

२. गृहस्थ भूलो उज्जड़ वन में, अटवी नें बले उजाड़ जावें।
तिणनें मारग बताय नें घरे पोंहचावें, बले थाको हुवें तो कांधे वेसावें ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २४

३. संसार रूपणी अटवी में भूला नें, ग्यांनादिक सुध मारग बतावें।
सावद्य भार नें अलगो मेलाए, सुखे सुखे सिवपुर में पोंहचावें ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २५

ध्यान करके मैं क्यों अपनी आत्मा को बन्धन में डालूं। मुझे अपनी राग-वृत्ति पर विजय पानी चाहिए। वह स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि में लीन हो गई। दूसरी स्त्री ने अपने अनुराग का और सांसारिकता का मुक्त प्रदर्शन होने दिया। शर पीटना, छाती कूटना, हृदय द्रावक शब्दों में विलापात करना आदि सब किए। आने वाले लोग परस्पर यही चर्चा करते घर से वापिस होते देखे गए—सही पति-भक्ता तो यही है। इसीको अपार कष्ट हुआ है। उसके तो मानो, वह कुछ लगता ही नहीं था। वह तो अपने स्वार्थ की पतिभक्ता थी। किसी एक तत्त्वज्ञ ने यह भी कहा, उसका विवेक, उसकी साधना बहुत ऊंची है। उसने दर्शन और धर्म के अध्ययन से जीवन की नश्वरता का जो पाठ पढ़ा है, उसे जीवन में भी उतारा है। रोने-पीटनेवाली तो सहस्रों स्त्रिया मिलेगी, इस प्रकार की मर्मविद् तो कोई बिरली ही मिलती है। आचार्य भिक्षु कहते हैं, यह लोक-दृष्टि और लोकोत्तर दृष्टि का भेद है।[1]

धर्म के दो विभाग

सुप्रसिद्ध गान्धीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में धर्म के दो विभाग माने गए हैं—मोक्ष धर्म और व्यवहार या संसार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था, समाजोन्नति सम्बन्धी सांसारिक विभाग को संसार-धर्म कहा गया है।[2] इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—एक धर्म वह है, जो परम सत्य तक पहुचने का साधन है। जैसे—प्राणीमात्र के प्रति आत्म-भाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन करना। एक धर्म है, कर्तव्य—जैसे माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है। पड़ोसी की और दीन-दुःखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्य का धर्म है।[3]

जीवन का परम उद्देश्य सुख है। सुख को दो भागों में विभक्त करते हुए वे कहते हैं—धन, वैभव, राज्य, पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि सुख शारीरिक, भौतिक, ऐहिक तथा मानसिक हैं।

मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान आदि सुख पारमार्थिक या

---

१. भिक्षुजसरसायन गीति २२ व भिक्खु दृष्टान्त सं० १३०

२. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६३

३. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६२

आध्यात्मिक हैं।[1]

द्वेष और राग की परख

चिन्तन के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु की मान्यता जरा भी अपूर्व या अनघड़ नहीं है। अतीत और वर्तमान के अनेकों विद्वानों एवं विचारकों ने उसी क्रम से सोचा, माना और लिखा है। आचार्य भिक्षु को इस यथार्थ और सर्वसम्मत जैसी मान्यता के निरूपण में अनेकों विरोध सहने पड़े। इसका कारण लोगों का साम्प्रदायिक अभिनिवेश था। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में राग को समझने की क्षमता थी। उन्होंने कहा—किसी व्यक्ति ने किसी एक बालक के शर मे चपेटा मारा। देखनेवालों ने कहा—भले मानस! यह क्या करते हो? किसी एक व्यक्ति ने बालक के हाथ में मोदक या मूला दे दिया। देखनेवालों ने टोका नहीं, प्रत्युत वे खुश हुए। इस प्रकार द्वेष को परखना बहुत सहज है, पर राग की यथार्थता को परख लेना कठिन है।

गृहस्थ सब कुछ आध्यात्मिक ही करे और समाजोपयोगी या लौकिक कार्य करे ही नहीं, यह आचार्य भिक्षु का आग्रह नहीं था। उनका कथन था, वणिग् अपनी दुकान पर बैठकर नामे और जमा का हिसाब बराबर नहीं समझेगा और नहीं रखेगा तो उसकी दुकान नहीं चलेगी। जीवन भी एक व्यापार है। उसमें हरएक व्यक्ति के पास विवेक-चक्षु होना चाहिए कि वह लौकिक और लोकोत्तर के संतुलन व वैषम्य को समझकर अपने आपको सम्भालता रहे।

एक सन्तुलित जीवन-दर्शन

तर्क और चिन्तन के राजपथ पर

महाशास्ता गौतम ने कहा—भिक्षुओ, मैं जो कुछ कहता हूं, वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है ऐसा मानकर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना, हमारे शास्ता का कहा हुआ है यह मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हों उसे ही सत्य मानना।[2]

महाकवि कालिदास ने कहा—सब कुछ प्राचीन ही यथार्थ नहीं है। न सब-कुछ नवीन ही यथार्थ है। विज्ञजन अपने परीक्षा-बल से यथार्थ को ग्रहण करते है।

---

१. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६४ पर किए गए विवेचन से
२. अंगुत्तर निकाय—कालाम सुत्त

अज्ञजन ही केवल इतर विश्वासों के अनुयायी होते हैं।[1]

वर्तमान युग का एक स्वस्थ विचारक इस बात को और भी बलपूर्वक कहेगा—यथार्थता की अन्तिम कसौटी हमारा अपना विवेक ही हो सकता है।

विवेचन की परिपाटी

शास्त्रों ने अमुक विषय में क्या कहा, दूसरे विचारक और विद्वान् इस विषय में क्या कह रहे हैं, विवेचन की इस परिपाटी को मान्यता इसलिए दी जाती है कि वह हमारे नए चिन्तन की प्रेरक भूमिका बनती है। यदि ऐसा न होता तो एक पचवर्षीय बालक भी किसी विषय पर इतना ही प्रशस्त सोच लेता, जितना कि एक पारंगत पण्डित। पर ऐसा इसलिए नहीं होता कि उस बालक के मस्तिष्क में तत्सम्बन्धी अध्ययन की वह भूमिका नहीं है, जिस पर वह अपना नया चिन्तन अंकुरित कर सके। वर्तमान पीढ़ी यदि अतीत की पीढ़ियों से कुछ भी नहीं लेती होती तो ज्ञान-विकास की दृष्टि से प्राक्तन और चिरन्तन पीढ़ी में ज्ञान-विकास की कोई तरतमता ही नहीं बनती। स्वतन्त्र और तर्क-प्रधान चिन्तन का अर्थ सिमिट कर केवल इतना ही रह जाता है—जिस विषय में अब तक जितना सोचा जा चुका है, उसके साथ अपनी बुद्धि का नवीन मेल वह और बिठा दे। आधुनिक विज्ञान भी इसी क्रम से विकसित होता रहा है। न्यूटन और गेलेलियो की ज्ञान-भूमि पर खड़े होकर ही आईस्टीन ने अपनी बुद्धि-संयोजन से विश्वमान्य सापेक्षवाद को जन्म दिया है। यह ठीक है, स्वस्थ सिद्धान्त निकेवल वही है, जो बिना किसी पर-आलम्बन के अपने बूते पर खड़ा रह सके; उतना ही सत्य यह है—दो विचार पारस्परिक सगति पाकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। दीप वह है, जो अपनी वर्ती और तेल के सहारे पर जलता है और प्रकाश देता है। किसी विशेष हेतु से यदि इधर-उधर बिखरे दीपों को कोई सावधान व्यक्ति एक ही आलय विशेष में संजोकर रख दे तो क्या वह आलय अधिकाधिक नहीं जगमगा उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अब तक हम उन शास्त्राधार और व्यक्ति वैशिष्ट्य के दृष्टि-कोणों से शोध करते रहे हैं। अब हमें इसी विषय को निरपेक्ष चिन्तन की कसौटी पर कसना है।

जीवन : सराय का बसेरा

कुछ एक विचारक कहते हैं, जीवन को लौकिक और लोकोत्तर आदि भागों

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

में विभक्त करना उचित नहीं। जीवन के मूल में नाना अपेक्षाएं शाश्वत हैं ही। जीवनगत समीक्षा में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ की यह उक्ति यथार्थ है—यदिदं स्वयंमर्थानां रोचते तत्र के वयम्[1]—यदि सापेक्ष स्थिति स्वय पदार्थों को अभीष्ट है तो हम उन्हे निरपेक्ष स्थिति में बताने वाले कौन? भारतीय दर्शन की यह सुस्थिर मान्यता है—मनुष्य-जीवन एक सराय का बसेरा है। उसका परम लक्ष्य तो चौरासी लक्ष जीवयोनि के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है। मंजिल और सराय एक नही हो सकते। पथिक को दोनों की अपेक्षाएं समझकर बरतना होगा। सराय मे ठहरा पथिक दिनों और पहरों की अवधि के लिए एकत्रित जन-समुदाय का एक अग होगा। वहां की व्यवस्था का वह पूर्ण पालक होगा। एकत्रित लोगों से भाईचारा निभाएगा। वहा की व्यवस्था को और अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेगा। एक विवेकशील बटोही अपने इन कर्तव्यों से चुकेगा नही। साथ-साथ अपने आपको वहा वह इतना भी समर्पित नहीं कर देगा कि उसकी मजिल जहां-की-तहां धरी रह जाए। अपनी शक्ति और अपनी सम्पत्ति का सन्तुलित उपयोग वह अपने सराय के बसेरे को सुविधापूर्ण बनाने के लिए करेगा। शेष शक्ति व सम्पत्ति को मजिल तक पहुचने के लिए बचा रखेगा। पथिक का यह मान लेना भ्रम ही होगा कि मेरी अन्तिम मजिल यह सराय ही है, और मुझे यहा की सुख-सुविधा के लिए ही न्योछावर हो जाना है।

नये जीवन-दर्शन का ज्वलन्त प्रश्न

युग बदला है। स्थितिया बदली है। मनुष्य के विश्वास बदले है। परिणाम-स्वरूप समाज व्यवस्था भी नई करवटे ले रही है। जीवन के नये मूल्य स्थापित किए जा रहे है। भारतवर्ष निकट भूत मे स्वतन्त्र हुआ है। जीवन की नूतन व्यवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतीय जनता के सामने नये जीवन-दर्शन की सृष्टि का ज्वलन्त प्रश्न है। ऐसे सामुदायिक और समताप्रधान समाज-दर्शन भी इस युग के आकर्षक बन रहे है, जिनमें साधन की हेयोपादेयता पर कोई विचार नहीं है। साध्य ही जहा केवल आंखों से दिखनेवाला पार्थिव जगत है। आत्मा और चैतन्य दो विरोधी जड़ों के गुणात्मक परिवर्तन के परिणाम हैं।[2]

भारतीय मानस चेतन की शाश्वतता का विश्वास नहीं खो सकता। क्षितिज के उस ओर को भूलाकर न ही वह इस छोटे-से घेरे में चेतन की अथ से इति मान सकता है। क्षण स्थायी वर्तमान के लिए अनन्त भविष्य को भुला देना, वह बराबर घाटे का सौदा समझेगा। साथ-साथ उस दूरवर्ती विश्व की चिन्ता में इस प्रत्यक्ष

---

१. धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक २-२०९
२. विशेष विवेचन के लिए देखें—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

विश्व के लिए वह नितान्त निष्क्रिय और अपेक्षाशील होकर बैठे, यह भी विचारकता नही होगी। अध्यात्मपरायण जनता के लिए ऐसे जीवन-दर्शन की अपेक्षा है, जिसमें वर्तमान और भविष्य में एक के लिए दूसरे का विघटन न हो। प्रत्युत दोनों पक्षों को आलोकित करनेवाला वह जीवन-दर्शन 'देहली दीपक' हो। वह जीवन-दर्शन सामुदायिक हो या विकेन्द्रित; उसका मूल आत्मवाद और अहिंसा पर तो टिका ही होगा।

समाज-धारण के आधार सूत्र

अहिंसा और धर्म श्रेयोभिगमन के हेतु हैं। हिंसा और अधर्म आत्मा के अधोगमन के हेतु हैं। इन दो पक्षों के बीच में समाज-व्यवस्था का प्रश्न है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए उसके स्वास्थ्य, भोग और शान्ति की अभिवृद्धि के लिए कुछ आचरण अहिंसा और धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र से अपनाये जाते हैं और कुछ आचरण हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक पक्ष से। उन समाज-सम्मत आचरणों को नीति कहा जाता है। समाज-शास्त्री उसे ही अपने समाज-शास्त्र का मेरुदण्ड मानकर चलते हैं। लोगों का पारस्परिक व्यवहार नैतिक हो, उनकी प्रवृत्तियों में संकीर्ण स्वार्थ न हो, उनके विचारों में विश्व-बन्धुत्व हो, वे सदाचारी हों, ये समाज-व्यवस्था को शान्त और प्रसन्न बनाए रखने के वे सूत्र हैं जो आत्म-साधना के क्षेत्र से आए है और उन्हे आध्यात्मिक मान्यताओं के साथ सामाजिक मान्यताएं भी मिली हैं। फसल उजड़ न जाए और लोगों को भूखों न मरना पड़े, इसलिए टिड्डियों को मारा जाता है। जन-जीवन की रक्षा के लिए हिंस्र पशुओं और चोर-डाकू आदि असामाजिक तत्त्वों को दण्डित और पीड़ित किया जाता है, समय-समय पर उठने वाले आतंक को दबाने के लिए आरक्षक गोली चलाते हैं, देश की सुरक्षा के लिए बड़ी-से-बड़ी सेना रखी जाती है, आवश्यकतावश वह सहस्रों शत्रुओं को मौत के घाट लंघाती है; ये वे व्यवस्थाएं हैं, जो हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक क्षेत्र से आती हैं और समाज में मान्यताएं प्राप्त कर एक नीति का रूप लेती हैं। हिंसा और अहिंसा के, धर्म और अधर्म के इस योग से एक समाज-व्यवस्था बनती है। समाज-व्यवस्था के इन हिंसापूर्ण व्यवहारों को चलाने में व्यक्ति निष्काम और अनासक्त जितना भी रह सके, अच्छा है। पर इस निष्कामता और अनासक्ति से हिंसा मिटकर अहिंसा नहीं बन जाती, अधर्म मिटकर धर्म नहीं बन जाता। हिंसा में सर्वभूत हित कभी नहीं निभ सकता। स्थावर या जंगम जिन जीवों को मरना पड़ रहा है, उन्होंने अपने प्राण समाज हित के लिए कब न्यौछावर किए थे। भले ही व्यवहार-संचालकों के मन में व्यक्तिगत स्वार्थ

की बात न हो, परन्तु किसी एक प्राणी को मारकर दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाने की बात प्रत्यक्ष स्वार्थपूर्ण ही है। अनासक्ति और निष्कामता का यथार्थ निर्वाह भी तथा प्रकार की हिंसाओं मे यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। कुछ को मारकर कुछ के संरक्षण में रागात्मक कामना और आसक्ति तो है ही।

यह प्रश्न तो उचित हो सकता है कि उक्त प्रकार की अनिवार्य हिंसाओं के बिना समाज का धारण कैसे हो सकता है ? शासन-मुक्त समाज की परिकल्पना भी विकसित हुई है, जिसमें समाज-धारणा की बहुत सारी हिंसाएं विघटित हो जाती है। पर यह एक बहुत दूर की बात है। जन-जीवन के वर्तमान स्तर में जो हिंसाए अपेक्षित है, समाज-शास्त्र की दृष्टि मे उन्हे तो एक नीति का अग मानना ही पड़ता है। उस सामाजिक जीवन में हिंसा और अहिंसा की तरह त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, स्वार्थ और परमार्थ साथ-साथ चलते है। व्यक्ति अपने समाज और मोक्ष के उद्देश्य युग्म को साधता भी जाता है और एक के लिए दूसरे की स्वरूप-हानि भी नही करता। वह समाज मे रहकर भी स्वतन्त्र रूप से मोक्षा-राधना करता है, पर उससे सामाजिक सहजीवन मे कोई विक्षोभ या विघटन नही आने देता। सामाजिक मर्यादाओं का वह इसलिए पालन करेगा कि उसने अपने आपको समाज का एक अग माना है। वह हिंसा परक और अहिंसा परक सामाजिक नियमनो का कर्तव्य-भाव से पालन करता ही रहेगा। कर्तव्य-भावना से वह सेवा, परोपकार, दान, करुणा आदि के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को यथावत् समझता भी रहेगा और दोनों अपेक्षाओं मे सम्बद्ध होने के कारण उन्हे करता भी रहेगा। धर्म और समाज का यही सम्बन्ध यौक्तिक और यथार्थ लगता है।

निर्हेतुक भय

कुछ लोगों को भय है, समाज-धारण सम्बन्धी प्रवृत्ति-प्रधान कार्यों को धर्म के अन्तर्गत न रखने से लोग सामाजिक अपेक्षाओं से विमुख हो जाएगे और समाज दिन प्रतिदिन विशृंखल और दु खमय बनता जाएगा। समाज सुखी बने या नहीं, यह एक पृथक् चिन्ता है और प्रवृत्ति जन्य कार्य अध्यात्म कोटि में आते हैं या नहीं यह एक पृथक् प्रश्न है। असाधन को साधन मानकर चलना उचित नहीं। धर्म यदि समाज की समस्त अपेक्षाओं का पूरक साधन है ही नही तो उसे उस रूप में जोड़ लेना यथार्थ भी नहीं और श्रेयस्कर भी नही। आख की दवा आख में और जीभ की दवा

जीभ पर ही यथार्थ होती है।[1] लोग समाजोपयोगी कार्यों से विमुख हो जाएंगे, यह आशंका भी सगत नहीं है। जिन देशों में धर्म समाज-व्यवस्था का या परलोक-सिद्धि का अंग माना ही नहीं गया है, उन देशों में भी लोग कर्तव्य-भावना से समाज हित के सभी कार्य करते हैं और वर्तमान भारतीयों से कहीं अधिक निष्ठा के साथ।

सामाजिक परिणाम भी असुन्दर

सामाजिक अभिसिद्धियों के लिए भारतवर्ष में धर्म का उपयोग होता रहा है। निष्कर्ष रूप में इसके लौकिक परिणाम भी सुन्दर नहीं रहे हैं। हिन्दू धर्म में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के समस्त क्रिया-कांडों को धर्म का अंग बना दिया गया। आज उसका परिणाम यह है कि नाना रूढ़ियां, नाना अन्धविश्वास और नाना असामाजिक प्रथाएं भी धर्म के नाम पर पल रही है। देश, काल के अनुसार लोग अपने जीवन-क्रम में थोड़ा भी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक नहीं देखे जाते।

मानव जीवन व्यष्टिपरक से समष्टिपरक बना। परिवार, ग्राम, समाज और देश बने। अनाथ, अगहीन व अकर्मण्य लोगों की संख्या बढी। हल निकाला गया—दान करो, गरीबों पर दया करो। परोपकार ही अष्टादश पुराणों का सार है। यही सर्वोत्तम पुण्य कर्म है।[2] समाज में भीखमगी बढ़ी, अकर्मण्यता बढी और उदरपूर्ति के ढोंग बढ़े। स्थिति यहां तक पहुंच गई, तथारूप प्रत्येक राष्ट्र के लिए भीख-मंगी एक ज्वलन्त समस्या बन गई। नाना नियमनों के निर्धारण में भी उसका नियमन दुष्कर हो रहा है।

करुणा और सेवा

करुणा का पूरक सेवा शब्द समाज में आया। उपकारक को अपना अहं समझने का अवसर मिला। सेवा भावी संस्थाएं बनी। जीवन-दानी समाज-सेवक बने। वे जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित अनिवार्य अपेक्षाओं के जुटाने में लगे। महात्मा ईसा ने कहा था, सूई की नोक से ऊंट निकल सकता है, पर धन-

---

१. जीभ री ओषद आंख्यां में घाल्यो, आंख्यां री ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण री आंखई फूटी नें जीभई फाटी, दोनूंइ इन्द्री खोय चाल्यो रे॥
—व्रतावत चौपई गीति ४० गाथा ४

२. अष्टादश पुराणानां, सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥

वान् को स्वर्ग नहीं मिल सकता। यहां दान, करुणा और सेवा के आवरण में धनिकों को तीनों मंगल मिले। आदि मंगल—समाज में प्रतिष्ठा, मध्य मंगल—संग्रह और शोषण की अवधि का विस्तार हो जाना, अन्त मंगल—स्वर्ग में भी ऊंचा स्थान प्राप्त कर लेना।

सेवा और दान की अपेक्षा नहीं

दया, दान आदि के विचार सामाजिक अपेक्षाओं पर खड़े थे, पर आज के परिवर्तनशील युग मे वे अपेक्षाएं बदल चुकी है। पिछले युग ने दानियों को उच्चता की अनुभूति से ऊपर उठने का विवेक दिया। दया, दान और परोपकार के बदले जन-जन का सेवक होकर रहने की बात कही। वर्तमान युग ने मनुष्य को वह बोध दिया है, जिसमे वह किसी के द्वारा सेवा लेकर उपकृत होने की बात से हीनता की अनुभूति करने लगा है। समानता व स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगा है। वह अपने जीवनयापन के लिए सेवा कराना और दान नहीं चाहता। वह अपने सामाजिक अधिकार की भूमि पर ही अपने जीवन की गाड़ी को खींचना चाहता है। जन-मानस की उद्दीप्त प्रेरणा ने सारा समाज-शास्त्र बदल डाला है। "कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने काम से इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण भोज व जातीय भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है, जैसा कीचड़ मे पाव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालो को दान-पुण्य आदि की चिन्ता मे नही पड़ना चाहिए। उनका काम ही यज्ञ रूप है।"[1]

महात्मा गांधी कहते है—बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहां मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न-छत्र बन्द करा दूं।[2]

आचार्य विनोबा भावे कहते है—दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को जो ईश्वर भक्ति के रंग में रंगा हुआ है—ऐसे संन्यासी को ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर में देखने से यह भले ही मालूम पड़ता हो कि यह कुछ नहीं करता, पर अनेकों दूसरी बातों से वह समाज की सेवा करता है। ऐसे संन्यासी को छोड़कर किसी

१ सर्वोदय दैनिक जीवन में पृ० ४०

२. सर्वोदय दिसम्बर ३८, गान्धीवाणी पृ० १५३

को अकर्मण्य रहने का अधिकार नहीं है।[1]

आधुनिक समाज-शास्त्र में

आधुनिक समाज-शास्त्र मानता है—समाज-सेवा का अर्थ अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्था में मान्यता प्राप्त दान-पुण्य नहीं है। दान-प्रवृत्ति का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सर्वदा दुःखित और पीड़ित की सहानुभूति में पैदा होती है। जब मानव-वेदनाएं नष्ट हो जाएंगी, तब दया और दान के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा हो जाना अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं मे कभी सम्भव नहीं है। प्राचीन समाज-व्यवस्था मे जाति और वर्ग के भेद मूलभूत हैं। वहां निम्न वर्ग होता ही है और वही दया और दान का भाव जागृत करता है। उस समाज-व्यवस्था में दान एक अनिवार्य गुण हो जाता है और वह मनुष्य के दुःखों पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। रामायण की एक घटना वस्तु-स्थिति पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाल देती है। "राम लंका-विजय कर सीता को लेकर जब अयोध्या आए, तब एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। राम ने एक-एक करके सभी वीरों को बुलाया और उन्हें यथोचित रूप से सत्कृत किया। आश्चर्य की बात यह रही कि राम ने सर्वोत्कृष्ट भक्त हनुमान को अपने सम्मुख नहीं बुलाया किसी सभासद के याद दिलाने पर राम मुस्कराये और हनुमान को बुलाया। सभी सभासदो की आखें राम और हनुमान पर टिक गई। राम ने कहा—बोलो, क्या चाहते हो? हनुमान बोले, बस यही कि सदा की भांति आपकी सेवा करता रहूं। राम बोले—हे हरि! जो कुछ भी तैंने मेरे लिए किया है, वह मेरे साथ ही समूल नष्ट हो जाने दे। जो व्यक्ति दूसरे का भला करना चाहता है, वह उसका दुःख चाहता है।

दान-पुण्य और जनतन्त्र व्यवस्था

"दान-पुण्य जनतन्त्र-व्यवस्था के प्रतिकूल है, क्योंकि वह दया पर आधारित है। दया के भाव तभी जागृत होते हैं, जबकि दूसरों को अपने से हीन या निम्न समझा जाता है। जनतन्त्र में कोई ऊंचा या नीचा नहीं होता। प्राचीन अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं में सम्पन्न लोगों को दरिद्र लोगों पर दया करना और अपनी कमाई में से थोड़ा-सा भाग उनके लिए रख लेना, सिखलाया जाता है, जबकि दयापात्र दरिद्र लोगों को दूसरे जन्म में सुखपूर्ण जीवन का आश्वासन दिया जाता है। 'आशीर्वाद प्राप्त वे हैं, जो कि यहां शोकग्रस्त हैं, क्योंकि वे अग्रिम जन्म में

---

१. विनोबा भावे के विचार पृ० १२०

लाभान्वित किए जाने वाले हैं।' 'यहां जो अन्तिम है, वह अगले जन्म में प्रथम होगा और यहां जो प्रथम है, वह वहां अन्तिम होगा।' प्राचीन समाज-व्यवस्था जो कि समता और स्वतन्त्रता से रहित है, उसकी नीति और दर्शन के अनुसार जो उपदेश दिया जाता है वह कोई समाज-सेवा नही है। जनतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यांकन में एक दूसरे के समान है, इसलिए कल्याण का अर्थ है—सभी का समान मात्रा मे कल्याण। गलियों का स्वच्छ रहना स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो सभी गलियों को स्वच्छ रखना होगा, न कि केवल उन गलियों को जिनमें नगरपालिका के सदस्य रहते है। यदि चिकित्सा निशुल्क है तो वह सभी के लिए निशुल्क है।

"इस भावना को चरितार्थ करने के लिए विशेष सस्थानों की अपेक्षा है। दुनिया के कुछ विशेष भागों में तत्सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग हुए है—स्वास्थ्य प्रवृत्तियां इस प्रकार से चलाई गई है, जिनमें रोगी के प्रति दया, आभार या वैषम्य नही बरता जाता है।

दान और मनुष्य का स्वाभिमान

"दान एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो मनुष्य के स्वाभिमान को नीचा करती है। वह पराश्रितो की सख्या बढ़ाती है। हम देखते है—रास्तों पर भिखारी, अपांग, रोगी सहायता के लिए चिल्लाते है। उनमे से अधिकाश ऐसे लोग है, जो ढोंग रचकर दान प्राप्त करने में निष्णात हो चुके है। ऐसी स्थितियां उस समाज मे बनती है, जिसमें दान को पुण्य माना जाता है और परिणामस्वरूप पराश्रितता को बढावा दिया जाता है। मान लिया जाए—हमारे समाज में हरेक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए कमाना होता है, पराश्रितता मान्य नही है। समाज के सामूहिक प्रयत्न से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य और आजीविका मिल जाती है, तो वहां दान का क्या स्थान होगा? यह क्यों आवश्यक है, एक व्यक्ति दूसरे के पास दानार्थी हो? इससे तो असमानता पनपती है, जो कि जनतन्त्र को स्वीकार नहीं है।

समाज-कल्याण का अर्थ

"दान कष्टों का नाश नही करता। वह दुःखी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण मे हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल अन्त करना है; क्योंकि यहां सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख-निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया; अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

मनुष्य का स्वाभिमान उस समाज में सुरक्षित नहीं रह सकता, जिस समाज में दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊंचा मूल्य माना गया है। मनुष्य का स्वाभिमान केवल उस समाज में सुरक्षित रह सकता है, जहां मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक और सहयौगिक प्रयत्नों द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाज का आधार है और उस जन-तन्त्र में यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।

इस प्रकार जनतन्त्र मे समाज-कल्याण का अर्थ होता है–बिना किसी आभार, दया, अनुकम्पा और ऐसे किसी शास्त्रोक्त पुण्य के सामुदायिक प्रयत्नों द्वारा सामुदायिक कल्याण।[1]

समाजोपयोगिता और अध्यात्म

दान, दया और सेवा आदि समाजोपयोगी है, केवल इसीलिए इन्हे धर्म और अध्यात्म की कोटि मे ले लेना लोक-वंचना है। करुणा प्रधान होने से ये समस्त व्यवहार आध्यात्मिक है, इसलिए इन्हे समाज में अधिक-से-अधिक फैलाया जाए, यह दृष्टि भी सदोष है। वर्तमान समाज-व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए व एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिए आभारी और अधीन बनाकर नहीं छोड देना चाहती। हीनता और उच्चता के पोषक समस्त व्यवहारों को वह समूल मिटा देना चाहती है। अध्यात्म का स्वरूप व्यापक है। सामाजिक लोगों को उसका पाठ देने में यह अवश्य देखना होता है, अमुक पहलू आध्यात्मिक होते हुए भी नितान्त समाज-विरोधी तो नही है। पिता के प्रति पुत्र का मोह और पुत्र के प्रति पिता का मोह अनाध्यात्मिक तो है ही, पर पुत्र-पालन व पितृ-सेवा मत करो, यह उप-देश तो किसी धर्म या सम्प्रदाय ने जोरों से नहीं उठाया है, इसीलिए न कि उक्त व्यवहार वर्तमान परिवार-व्यवस्था के मेरुदण्ड है। सुदूर भविष्य मे यदि समाज किसी ऐसी व्यवस्था को अपना ले, जिसमें पारिवारिकता अपेक्षित न हो तो अध्यात्मवादियों के लिए भी दृढ़तापूर्वक यह कहने का समुचित अवसर बन जाएगा कि पितृ-राग और सन्तति-राग मिटा ही देना चाहिए।

धर्मोपदेशकों की जागरूकता

धर्म यद्यपि व्यक्ति को समस्त राग-बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष तक पहुंचा देना चाहता है, पर मेघ शील धर्म-प्रवर्तक और धर्मोपदेशक समाज और मोक्ष के सम्बन्धो में सदा जागरूक रहे है। भगवान महावीर ने धर्म का आगार-धर्म और अनगार-

1. The Psychological Foundations of the State. p. 19.

धर्म, इन दो भागों में उपदेश किया है। अनगार-धर्म अध्यात्म साधना की परा-काष्ठा का जीवन है। वह साधना मुख्यतः व्यक्तिगत है। कुछ ही व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर अपने ध्येय में लीन होते हैं। उनकी माधुकरी जीवन-चर्या समाज में कोई असन्तुलन या विक्षोभ पैदा नहीं करती। भगवान् महावीर ने तो इस व्यक्तिगत साधना को सामाजिक रूप दिया। साधु अरण्यवासी होकर सर्वथा समाज निरपेक्ष नही होते। वे समाज के बीच में रहकर अपने आचरणों व उपदेशों से समाज को लाभान्वित करते है। समाज से बहुत अल्प लेते हैं और उसे बहुत अधिक देते हैं। आगार-धर्म गृहस्थों का है। उनका द्वादश व्रत रूप धर्म जितना आध्यात्मिक है, उतना समाजोपयोगी भी। इस प्रकार धर्म समाज से पृथक् होकर भी उसकी सद्व्यवस्था में एक आधारभूत नीति का रूप ले लेता है। नीति के रूप में मान्यता प्राप्त हिंसाएं क्रमशः मिटती जाएं और अहिंसा अधिकाधिक विकास पाती रहे, यही समाज और धर्म के सन्तुलित जीवन-दर्शन का एक स्वरूप है।

रक्षा और उसका विवेक

रक्षा शब्द अधिकांशतः प्राण-रक्षा के अर्थ में प्रचलित हो चला है। जीवन और मरण संसारी आत्मा के सहज स्वभाव है। जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है, आत्मा उसी प्रकार जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन गति में नवीन शरीर धारण करती है।[1] भारतीय दर्शन मे जीवन और मरण का यह लेखा-जोखा है। आत्मा अविनाशी है। उसी के ऊर्ध्व संचरण की चिन्ता यहां प्रमुख है। कसाई बकरे को मारने जा रहा है। दर्शक के हृदय मे बकरे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वह करुणाराधक दर्शक आततायी को मार-पीटकर या प्रलो-भन आदि देकर बकरे को छुडाता है और समझता है, मैंने अपनी करुणा का निर्वाह किया है। तत्त्व-दृष्टि में वह यथार्थ करुणा या अनुकम्पा नही है, मार-पीट, बलात्कार है। आचार्य भिक्षु के शब्दो में—एक को चपेटा मारना और एक को पुचकारना स्पष्ट रूप से राग और द्वेष है।[2] धनादि देकर बकरे को बचाना अध्यात्म तो क्या लौकिक न्याय भी नही है। कसाई का हृदय तो बदलता नही, प्रत्युत वह

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
—गीता अध्याय २ श्लोक २२

२. एकण रे देरे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक संभालो ॥
—अनुकम्पा चोपई गीति २ गाथा १७

एक के बदले दो बकरों को खरीदने और मारने का शरन्जाम हो जाता है।

दया का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप

दया के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना तो कठिन है ही, सर्वसाधारण के लिए उसके लौकिक स्वरूप को समझ लेना भी सहज नहीं है। महात्मा गांधी कहा करते थे—बहुत-से लोग चीटियों को आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है, मानो आजकल की जीव-दया में जान ही नहीं रही। धर्म के नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।[1]

प्राण-रक्षा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने साधन-शुद्धि पर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—यह तो कहीं नहीं लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।[2]

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की पीठ में छुरा भोंक रहा है, ऐसे प्रसंग पर महात्मा गांधी कहते हैं, "तो क्या हमें भी अपराधी की पीठ में छुरा निकालकर भोंक देना चाहिए? मैं समझता हूं यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करने वाले से कहें कि वह निर्दोष रक्त से हाथ न रगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वय उसके कोप-भाजन बन जाएं तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए।"[3]

साध्य और साधन का विचार

यहां साधन का विचार है, पर जिस व्यक्ति को बचाया जा रहा है, उस साध्य का नहीं। आचार्य भिक्षु के मन्तव्यानुसार उस प्राण-रक्षा को परम विशुद्ध और आध्यात्मिक रखने के लिए रक्षणीय पात्र का भी विवेक परम अपेक्षित होता है। जिसे हम बचा रहे हैं, वह संयति है या असंयति, व्रती है या अव्रती, त्यागी है या भोगी इन तथ्यों के आधार से ही की गई प्राण-रक्षा की लौकिकता और लोकोत्तरता आंकी जा सकती है। दान देते समय दाता और देय वस्तु की विशुद्धता भी जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार पात्र की विशुद्धता भी। प्राण-रक्षा के सम्बन्ध में रक्षक की अभिप्राय-शुद्धता व साधन की अहिंसात्मकता जिस प्रकार अपेक्षित है,उसी

---

१. हरिजन बन्धु ता० २९-५-४३

२. हिन्द स्वराज्य पृ० ७९

३. हिन्दुस्तान दैनिक

प्रकार रक्षित पात्र की संयमशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात् जंगम, स्थावर प्राणियों के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका सरक्षण या पोषण अध्यात्म-गत कैसे हो सकता है? गृहस्थ के जीवन मे त्याग की अनिवार्यता नहीं, भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असंयत प्राणी के सरक्षण मे योग देना असयम मे ही योग देना है।

महात्मा गांधी कहते है—जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों मे अहिसा की दृष्टि से कोई भेद नही दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता है, तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलो की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नही रह सकता।[2] महात्मा गांधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है, इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन-व्यवहार की सूक्ष्मता में प्रकट हुआ है, अतः सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नहीं होता। परन्तु असयमी पुरुष के जीने में योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य में योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण हैं।

दो मर्यादाएं

साधारण दृष्टि मे यह अवश्य आता है, आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते-चलते रुक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नही रह गया है। प्राण-रक्षा अहिंसात्मक साधनों से हो, सयति पुरुष की हो; ये दो ऐसी संकीर्ण मर्यादाएं हैं, जिनके बीच से इने-गिने लोग ही गुजर सकते हैं। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

१. सूत्र भगवती ने विषे, सप्तम सतके भेव।
प्रथम उद्देशा नें विषे, दाख्यो श्री जिनदेव ॥
सामायक मांहें कही, श्रावक नो संपेख।
आतम ते अधिकरण इम, प्रगट पाठ में लेख ॥
शस्त्र जे षट्काय नो, अधिकरण कहिवाय।
तसु तोखो कीधां छतां, धर्म पुण्य किम थाय ॥
—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध अ० २१, दुहा ६७-६९

२. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

ऐसा मार्ग पकड़ लेती है, जो पूर्ण यौक्तिक, पूर्ण यथार्थ और सर्वाधिक व्यापक है। उनका मन्तव्य है—एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है; सही करुणा तो उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होनी चाहिए। उसकी दुर्वृत्ति से आक्रान्त होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही बच जाता है, जबकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस आत्म-हनन से बचा लेते है। कसाई बकरे को मारता है। बकरे का प्राण-घात होता है, पर आत्म-पतन नहीं। वह यहां से मरकर और किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर बधिक का अधोगमन तो निश्चित है ही। इस स्थिति में हमारा प्रथम करुणा-पात्र तो बधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से बचा लेने में बध्य का बच जाना तो सहज है ही। इस करुणा में बध्य का हित विघटित नहीं होता और बधक की करुणा हो जाती है। जन-संस्कार सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। 'बचाओ और रक्षा करो' का ही उद्घोष सर्वोपरि हो रहा है। बधक की करुणा से 'मत मारो' का उद्घोष प्रस्फुटित होता है। 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की बात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। 'बचाओ' को ध्येय मानने में, 'मारते रहो' का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी-बध परम्परा मिटती नही। समाज में दो वर्ग हो जाते है, एक मारनेवाला, दूसरा बचानेवाला। 'मत मारो' के उद्घोष को व्यापक करने में समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिंसा और धर्म व्यक्ति को पापाचारण से बचाने में सफल होते हैं। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय में बहुत यथार्थ है।[1]

१. एक दुकान के एक भाग में साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार में चोर आए। धनवान् की तिजोरियों पर छापा मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओं की नींद टूटी। देखा, चोर धन लिए जा रहे हैं। साधु दरवाजे पर आ खड़े हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष है, इनसे हमें कष्ट नहीं होना है। साधुओं ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उपदेश श्रवण में लीन हो गए। समय की बात थी। तीर खाली नहीं गया। धन की नश्वरता, पर-पीड़न के दुःखावह परिणामों को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य में कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सबेरा होते-होते धनवान् अपनी दुकान पर पहुंचा। सारा हाल देखकर अवाक् रह गया। चोरों ने कहा—सेठजी, डरने की

---

१. अनुकम्पा गीति ५ गाथा १-१०

बात नहीं है। साधुजी ने हमें और आपको; दोनों को बचा लिया है, आपकी धन-क्षति बची है और हमारा आत्म-पतन बचा है। सेठ साधुजनों के चरणों में गिर पड़ा और अपनी हार्दिक कृतज्ञताएं व्यक्त करने लगा।

यहां साधुओं की प्रवृत्ति से दो परिणाम निष्पन्न हुए हैं—चोरों की आत्मा पापाचरण से बची है और सेठ का धन चोरी होने से बचा है। धर्म क्या है, पहला परिणाम या दूसरा ?

२. एक कसाई कुछ बकरों को साथ लिए कसाईखाने की ओर जा रहा था। संयोगवश साधुओं से साक्षात्कार हो गया। साधुओं ने उपदेश दिया—तुम्हारा प्राण-वियोजन तुम्हें जैसा लगता है, इन बकरों को भी अपना प्राण-वियोजन वैसा ही लगता है। क्यों इस तुच्छ जीवन के लिए निरपराध प्राणियों की हत्या से अपने हाथ रगते हो। और भी तो अनेकों आजीविकाएं हुआ करती हैं। कसाई को बात लग गई। जीवन-भर के लिए तथारूप निर्मम हत्या का प्रत्याख्यान कर लिया।

यहां भी कसाई की आत्मा पापाचरण से बची और बकरे अपने प्राण-वियोजन से।

साधारणतया लोग कहेंगे, चोरों और कसाई की आत्मा बची, वह भी धर्म और धन और बकरे सुरक्षित रहे यह भी धर्म। इस लोकमत को अयथार्थ प्रमाणित करने के लिए तीसरा उदाहरण दिया गया है।

३. राजमार्ग पर अवस्थित किसी एक दुकान पर साधु ठहरे थे। रात्रि के सन्नाटे में कुछ लोग उन्मत्त गति से चले जा रहे थे। साधुओं ने समझ लिया, वेश्यागामी लोग हैं। अकस्मात् उनकी दृष्टि भी उन पर पड़ी। सबने प्रणाम किया। साधुओं ने अवसर पाकर वर्तालाप प्रारम्भ कर दिया। बात वही निकली जो साधुओं की कल्पना मे थी। धर्मोपदेश लगा। सबकी आंखें खुल गईं। अपने प्रति ग्लानि हुई। सदा के लिए व्यभिचार का परित्याग कर लिया। प्रतीक्षा में बैठी हुई वेश्या ऊब गई। वह उनके रास्ते पर चल पड़ी। जहां सब लोग थे, वहां पहुच गई। उसके प्रेमी प्रणबद्ध हो चुके थे। उसे अत्यन्त निराशा हुई। साधुओं पर और अपने प्रेमियों पर झल्लाती हुई पास के एक कुएं में जा गिरी।

यहां भी साधुओं के उपक्रम से दो फलित निकले। विषयी लोगों की आत्मा उन्नत हुई और प्रेमिका कुएं में जा गिरी। धन का बच जाना और बकरे का बच जाना यदि धर्म है तो प्रेमिका का मर जाना क्या साधुओं के लिए पाप-बन्ध का हेतु होगा ? सारांश; चोर कसाई और व्यभिचारी लोगों का आत्म-उत्थान धर्म है। शेष परिणाम उपदेश प्रवृत्ति के अवान्तर फलित रूप हैं। उनसे उपदेशक पुण्यभाक् या पापभाक् नहीं बनता।

साधुओं की प्रवृत्ति पापोन्मुख व्यक्तियों को इस भवसिन्धु से तारने की थी, न कि धनादि बचाने की या वेश्या को मारने की। जीवों का सहज जीना और मरना दया या हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति से व्यक्ति हिंसक होता है और नहीं मारने की प्रवृत्ति से दयाशील।[1] कोई आम, नीम आदि वृक्षों को काट गिराने का त्याग ले लेता है, यह धर्म है, पर वे वृक्ष खड़े रह जाते हैं, वह धर्म नहीं है।[2] कोई लड्डू, घेवर आदि खाने का त्याग ले लेता है, यह संयम है, धर्म है, पर वे मिष्टान्न बचे रहे, वह धर्म नहीं है।[3]

आचार्य श्री भिक्षु के हृदय में लोक-अज्ञान के प्रति एक व्यथा थी। उनका कहना था—दया-दया सभी कहते हैं और दयाधर्म उत्तम भी है, पर मोक्षोन्मुख वे ही लोग हैं, जिन्होने दया के हार्द को पा लिया है।[4] अनुकम्पा के नाम में ही केवल नही भटक जाना चाहिए, उसकी अन्तर्दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।[5] गाय और भैंस का भी दूध होता है और आक व थोहर का भी। आक और थोहर के दूध को पीने से मृत्यु ही होती है। इसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा कर्म-बन्ध का कारण ही होता है।[6]

---

१. जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते दया गुणखाण।।
—अनुकम्पा चोपई गीति ५ गाथा ११

२. निम्ब अम्बादिक विरख नो, किण ही किधो हो वाढ़ण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव तणी, वृक्ष उभो हो तिणरो धर्म केम।।
—अनुकम्पा चोपई, गीति ५ गाथा १२

३. लाडू घेवर आदि पकवान नें, खाणा छोड़्या हो आतम आणी तिण ठाय।
वैराग बढ्यो तिण जीव रे, लाडू रह्यो हो तिण रो धर्म न थाय।।
—अनुकम्पा चोपई गीति ५ गाथा १४

४. दया-दया सहु को कहे दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यांरे मुगत नजीक।।
—अनुकम्पा चोपई गीति ८ दुहा १

५. भोलेई मत भूलज्यो अनुकम्पा रे नाम।
कीजो अन्तर पारखा ज्यूं सीझे आतम काम।।
—अनुकम्पा चोपई गीति १ दुहा ४

६. गाय भैंस आक थोहर नो ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणजो राखे मन में सूध।।
—अनुकम्पा चोपई गीति १ दुहा २

अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा

मिश्र धर्म का विचार

अहिंसा के क्षेत्र में मिश्र-धर्म का विचार भी बहुत चिन्तनीय है। सामाजिक मनुष्य की अनगिन प्रवृत्तियां तो ऐसी ही हैं, जिनमें हिंसा भी है और लोकोपकार भी। ऐसी प्रवृत्तियां सामान्य विचारक के मन में सहसा भ्रम पैदा कर देती है। उन्हें धर्म-कार्य कहने मे अहिंसा का सिद्धान्त टूटता है और पाप-कार्य कहने में करुणा और लोकोपकार का सिद्धान्त। जो लोग यह कहने के लिए तत्पर नहीं होते थे कि थोडी हिंसा में यदि अधिक लोगों का लाभ है तो वह पुण्य-कार्य ही है, उन्होने ऐसी प्रवृत्तियों को मिश्रधर्म के नाम से कहा। किसी क्षुधातुर व्यक्ति को मूला खिला देने मे वनस्पति के जीवों की हिंसा हुई, वह पाप है और व्यक्ति को सुख मिला, वह धर्म है।[1] कूप और वापी के निर्माण मे पृथ्वी, जल आदि के जीवों की हिंसा है और तृषातुर लोगों को जल-पान से सुख मिला, वह धर्म है।[2]

देखने में यह विचार कितना ही सगत लगे, पर अहिंसा के चिन्तन में अधिक स्थायी नही हो सकता। सिद्धान्त वह है, जो आदि मे अन्त तक खरा उतरे। मूला खिलाने और कुआ-बावड़ी बनाने के उदाहरण को यदि हम अन्य उदाहरणों के साथ परखे तो उसकी अयथार्थता स्वय स्पष्ट हो जाती है।

१. सौ व्यक्तियों को मूला, गाजर आदि खिलाकर बचाया।
२. सौ व्यक्तियों को सचित्त (सजीव) पानी पिलाकर बचाया।
३. सौ व्यक्तियों को अग्नि-ताप देकर बचाया।
४. सौ व्यक्तियों को हुक्का पिलाकर बचाया।
५. सौ व्यक्तियों को पशु-मांस खिलाकर बचाया।
६. सौ व्यक्तियों को पशुओ के मृत कलेवर खिलाकर बचाया।
७. सौ व्यक्तियों को 'ममाई' करके अर्थात् रक्तौषधि के उपचार विशेष से बचाया।[3]

---

१. पाप लागो मूलां तणो, धर्म हुओ हो खाधां बचीया एह।
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा १

२. कहे कुवा बाव खणाबविया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीये कुसले रह्या, साता पांमी हो तिणरो हुवा धर्म॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गा० २

३. अनुकम्पा चोपई गीत ७ गाथा ५-१०

हिंसा की उन्मुक्तता

अल्प हिंसा और अधिक रक्षा के विचार को यहां हिचकना पड़ता है। उक्त सभी कार्यों में धर्म कहने का साहस नहीं हो सकता। एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त-दान से सौ मनुष्यों को बचा लेने की बात अहिंसा और धर्म के क्षेत्र में तो लेशतो भी नहीं आ सकती। साध्य की विस्तृतता में यदि साधन को नगण्य और गौण न बनाते हैं तो जीवन-व्यवहार के कुछ एक प्रसंग उलझन भरे मालूम पड़ने लगते है, पर साध्य की विस्तृतता में साधन शुद्धि की बात को एक ओर छोड देने में तो अहिंसा का कोई स्वरूप ही नहीं टिकता। समाज में प्रयोजन-सिद्धि के लिए हिंसा मुक्त होकर खेलेगी और उसके साथ असत्य और असदाचार भी। आचार्य श्री भिक्षु कहते है—कुछ जीवों की हिंसाकर कुछ जीवों को बचाने में यदि पाप अल्प और धर्म अधिक है, तब तो हिंसा की तरह समग्र प्रकार के पाप कार्य भी इस धर्म के साधन रूप हो जाएगे।[1] कोई असत्य बोलकर जीव बचाएगा तो कोई चोरी करके। कोई अब्रह्मचर्य-सेवन से जीव बचाएगा तो कोई धनादि के प्रलोभन से।[2] दो वेश्याएं कसाईखाने पर गई। वहां होनेवाला जीव-संहार देखा। एक ने अपना समस्त गहना देकर सहस्र जीव बचाए। दूसरी ने अपना शील खोकर सहस्र जीव बचाए। अहिंसावादी और हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखनेवाला साधननिष्ठ व्यक्ति यहा क्या कहेगा?[3] अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा के विचार से तो सिह और कसाई जैसे हिंसकों को जहा देखे वही मारे, यह कोई बड़ा धर्म हो जाएगा।[2]

---

१. जो हिंसा करे जीव राखीयां, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेइ जांणजो, ए चरचा में हो बिरलो समझे कोय॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा २३

२. जीव मारे झुठ बोल नें, चोरी करने हो पर जीव बचाय!
वले करे अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा २१

३. दोय वेस्या कसाइवाड़े गइ, करता वेख्या हो जीवां रा संघार।
दोनूं जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोड़ाया इण विधे, एकां दोयां हो चोथो आश्रव सेवार॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा ५१-५२

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—इस एक ही जीव को मारने से बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नही करनी चाहिए ? और न बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवो को मारना चाहिए।[1]

महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रश्नों पर सोचा है। वे कहते हैं—मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए तो मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उसे मार डालू या उसके पैर पकड़कर उसे ऐसा न करने की प्रार्थना करूं। अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।[3]

सांप और पड़ोसी

एक बार महात्मा गांधी से यह पूछा गया—आदमी अपनी प्राण-रक्षा के लिए सर्प आदि हिंस्र प्राणियों को मारे, यह हिंसा हो सकती है, पर जो मनुष्य अनेक मूल्यवान् प्राणियो को बचाने के लिए सर्प आदि को मारे तो वह हिंसा नहीं मानी जानी चाहिए। क्योकि यदि उसे हम नही मारते है तो वह अनेकानेक प्राणियों के प्राण लेता ही रहता है।

महात्माजी ने इसके उत्तर में कहा—यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले सांप को नही मारूंगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियो और स्त्रियों की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे कर्तव्य का अंग नही कि मैं तमाम विषैले जन्तुओं को ढूढ़-ढूंढ़कर मारता फिरूं। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलने-वाले विषैले सांप को यदि मैं नही मारूंगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस सांप और मेरे पड़ोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिए। यदि मै अपने पडोसियों के साथ वैसा ही सलूक करूं, जैसे सलूक की आशा

---

१. कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्यां हो घणा जीव अनेक।
जो गिणें दोयां नें सारिषा, त्यांरी बिगड़ी हो सर धा बात ववेक॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २७

२. रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसा हिंस्रसत्वानाम्।
बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥

३. हिन्द स्वराजय पृ० ७६

मैं उनसे करता हूं। यदि मैं उनको किसी ऐसे बड़े खतरे में नहीं डालता, जिससे मैं हूं, तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया। इसलिए जैसा अक्सर किया जाता है, मैं उस सांप को अपने पड़ोसी के हाते में नहीं छोड़ूंगा। अधिक-से-अधिक यह मैं कर सकता हूं कि सांप को जितना एक तरफ छोड़ा जा सके उतना छोड़कर अपने पड़ोसियों को इस बात की सूचना कर दूं। मैं जानता हूं कि इससे मेरे पड़ोसियों को न तो कोई आराम मिलेगा न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुह में खड़े रहकर सत्य की राह ढूंढ़ रहे हैं।[1]

इन्द्रियवाद की मान्यता

हिंसा और अहिंसा के बीच में इन्द्रियवाद को भी लोगों ने एक मानदण्ड मान लिया है। एकेन्द्रिय आदि जीवों की पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा और भोगोपभोग के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा ही है; क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यशील और सृष्टि के ऊंचे प्राणी होते हैं।[2] अहिंसा के विवेक में यह विचार नितान्त मिथ्यात्व पूर्ण है। एक ओर प्राणीमात्र की समानता का यथार्थ आदर्श और दूसरी ओर इन्द्रियाधिक्य का यह भेद-निरूपण किसी प्रकार संगति नहीं पा सकते। अहिंसा सर्वभूत कल्याणकारी है।[3] उसके साम्राज्य में प्राणीमात्र समान हैं। स्थावर और जंगम, सूक्ष्म और बादर, एकेन्द्रिय और अधिकेन्द्रिय की उच्चावचता वहां मान्य नहीं है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, यह विचार भी लोकमत का विषय बन गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता इतर प्राणियों के बीच विभिन्न अपेक्षाओं से ही है, परन्तु जीवमात्र की जिजीविषा अपना स्वतन्त्र मूल्य रखती है; वहां एक के लिए दूसरे का बध मान्य नहीं हो सकता। अन्य प्राणियों की अपेक्षा में जिस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी अनेकों निकृष्ट और अनेकों श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हैं। इन्द्रियवाद की तरह यहां भी एक के बध और एक की रक्षा में यह तरतम-वाद मान्य करना होगा। ऊंचे लोगों के लिए निम्न लोगों की हिंसा भी अहिंसा बन जाएगी। बहुत बार दो में एक के बध की अनिवार्यता उपस्थित होने पर एक का

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८५-८६

२. केइ कहे म्हे हणां एकेंद्री, पंचेंद्री जीवां रे तांइ जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां, धर्म घणों तिण मांहि जी॥
एकेंद्री थी पंचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां म्हांने पाप न लागे लिगारी जी॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ९ गाथा १९-२०

३. अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी

बध स्वीकार किए बिना लोक-व्यवहार नहीं चलता। गर्भिणी स्त्री और गर्भ में एक की मृत्यु अनिवार्य होने पर डाक्टर और घर के लोग गर्भिणी की रक्षा को प्राथमिकता देते हैं। यह लोक नीति है। गर्भस्थ प्राणी अल्प वयस्क और अजनबी है। गर्भिणी परिवार की एक चिरन्तन सदस्या है। उसके रहते दूसरी सन्तान होने की भी आशा है, पर यह विचार अध्यात्म और अहिंसा का अंग तो नहीं बन सकता। यही लोक-नीति मनुष्य और इतर प्राणियो के बीच में बरती जाती है। अग्नि, पानी, वनस्पति आदि के स्थावर प्राणियों की हिंसा कर गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशुओं को पाला जाता है और मनुष्य की अपेक्षा पशु-बध को कर्तव्य कहा जाता है। अहिंसा में छोटे और बड़े का भेद नही होता और जहां इन्द्रिय, उपयोगिता आदि के भेद है, वहां अहिंसा टिक नही सकती।

अहिंसक का उद्देश्य

अहिंसक का उद्देश्य तो हिंसा से सर्वथा मुक्त होने का है, पर अपनी साधनावस्था में विभिन्न हिंसाओं में से वह कुछ हिंसाओं का चुनाव करता है। अध्यात्म वह है, जो उसमे अहिंसा का विकास हुआ है। हिंसामात्र मनुष्य की दुर्बलता है। गांधीजी ने अपने शब्दो में कहा है—हिंसा के बिना कोई देहधारी प्राणी जी नहीं सकता। जीने की इच्छा छूटनी ही नही है। अनशन करके छूटने की इच्छा मन को नही है। देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भ में खपेगा और आत्मा को अधिक बन्धन मे डालेगा। ऐसी दयावनी स्थिति मे जीने की इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाज ने कितनी ही हिंसाओ को अनिवार्य गिनकर व्यक्ति को विचार करने के भार से मुक्त किया। तो भी प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करने का प्रयत्न तो करना बाकी रहा ही है।[1]

मिश्र धर्म पर दो और उदाहरण

मिश्र धर्म पर आचार्य भिक्षु ने सिंह और कसाई के अतिरिक्त दो उदाहरण और दिए। भयंकर सर्प है, चूहों को खाता है, मनुष्यों को डसता है, बहुत सारे पक्षियों के घोंसले उजाड़ देता है, किसी व्यक्ति ने म्रियमाण जीवों की अनुकम्पा कर सर्प को मार डाला। क्या यह भी मिश्र धर्म होगा?[2]

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १०६

२. तीजो दृष्टान्त स्वामी दियो रे, उरपुर एक अजोगो।
घणा ऊंदरां रा गबका करे रे, मनुष्य पहुंचावै परलोको।

कोई पुरुष भयंकर जंगलों में आग लगा देता है, गांव-नगरों को उजाड़ देता है, अनेकानेक जीवों के प्राण लेता है, किसी ने यह सोचकर कि इस एक दुष्ट को मार देने से सबका बचाव होगा, उसे अचानक मार डाला। यदि मिश्र धर्म का सिद्धान्त यथार्थ है तो इस नर-हत्या को भी धर्म व पुण्य का हेतु मानना होगा।[1]

साधारण जीव-जन्तु और मनुष्य का भरण-पोषण

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा, साधारण जीव-जन्तु तो मनुष्य के भरण-पोषण के लिए ही सरजे गए हैं, इन्हें मारने में क्या दोष? आचार्य भिक्षु ने कहा, इसका अर्थ है—तुम भी किसी शेर के खाने के लिए बनाए गए हो। ऐसा मौका आ पडने पर तुम कोई प्रतिकार नहीं करोगे? बिना किसी ननुनच के सिंह के मुह में चले जाओगे?

व्यक्ति—ऐसा तो मैं नहीं करूंगा।

आचार्य भिक्षु—क्यों?

व्यक्ति—मुझे मरने का भय लगता है।

आचार्य भिक्षु—सभी जीवों को अपने जैसा ही समझ। मरना कोई नहीं

मनुष्य मार परलोक पहुंचावै, घणा पंख्यां ना अण्डा पिण खावै।
सर्प घणा जीवां सतावै, उत्कृष्टे धूमप्रभा लग जावै जी॥
किण ही विचार इसो कियो रे, सर्प घणा ने सतावै।
एक सर्प मारयां थकां रे, जीव घणा सुख पावै।
जीव घणा सुख पावै सुजाणी, अनुकम्पा बहु जीवारी जाणी।
सर्प मार बचाया बहुप्राणी, लाय बुझायां कहे मिश्र वाणी।

—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ७-८

१. चौथो दृष्टांत स्वामी दियो रे, कोई पुरुष नो एहवो आचारो।
बाप मुवां पहली कह्यो रे, काल करंतां तिणवारो॥
काल करतां सुत कही थी वाणीं,सुखे तुम्हारा निसरो प्राणो।
थां लारै अटव्यादिक बालस्यूं जाणो, घणा ग्राम नगर कर स्यूं घमसाणो जी।
मनुष्य ढांढा घणा मारस्यूं रे, बाप ने एहवो सुणायो।
पिता पहुंतो परलोक में रे, पछै करवा लागो सहु तायो॥
करवा लागो छै जीवां रो घमासाणो, किणहिक मन में बिचारयो जाणो।
एक मारयां सूं बच बहू प्राणो, इम चिन्तव ते पुरुष ने मारयो अचाणो जी॥

—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ६-१०

चाहता।[1]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर गांधीजी लिखते हैं—मुझे यह दलील नास्तिक-सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियों को इसलिए बनाया है कि मनष्य सहज आनन्द के लिए या अपने शरीर के पोषण के लिए उन्हें मारता रहे, जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है।[2]

हिंसा के बिना धर्म नहीं होता ?

आचार्य भिक्षु के पास लोक विचित्र प्रश्न घड़कर लाते। वे भी उनका घड़ा-घड़ाया उत्तर देते। किसी एक व्यक्ति ने कहा, हिंसा किए बिना धर्म भी नहीं बन पड़ता। मान लीजिए—दो श्रावक थे। एक को अग्नि समारम्भ का त्याग था, दूसरे को नही। दोनों ने चने खरीदे। एक ने उन्हे भूनकर भूगड़े बना लिए। एक के पास यों ही रखे थे। भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु आए। जिसके पास भूगड़े थे, उसे सुपात्र दान का योग मिला और तीव्र हर्ष से उसने तीर्थंकर गोत्र बाधा। जिसके पास कच्चे चने थे, वह यों ही देखता रहा। इसलिए यह सत्य है कि धर्म की निष्पत्ति में कुछ-न-कुछ हिंसा अपेक्षित होगी ही और वह धर्म हेतु हो जाने के कारण धर्म ही मानी जाएगी।

आचार्य भिक्षु ने तत्काल उत्तर दिया—मान लो, दो श्रावक थे। एक ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया, दूसरा यों ही रहा। अब्रह्मचर्य के सेवन से उसके पाच पत्र उत्पन्न हुए। साधु गाव में आए। उपदेश सुनकर दो बड़े पुत्रों को वैराग्य हुआ। पिता ने सहर्ष उन्हे संयम-ग्रहण की आज्ञा दी। उस हर्ष में उसने तीर्थंकर गोत्र बांधा। यहां अब्रह्मचर्य भी धर्म का कारण बना। यदि हिंसा धर्म होगी तो अब्रह्मचर्य भी धर्म होगा और निष्कर्ष रूप मे ब्रह्मचारी की अपेक्षा भोगी व सन्तानोत्पादक पुरुष श्रेष्ठ होगा ; क्या इस बात को कोई भी विचारक मानेगा ?[3]

राजाज्ञा और अहिंसा

'अमारीपड़ह'

राजा अपने राज्य में 'अमारीपड़ह' बजवाता है अर्थात् घोषणा करवाता है—राज्य में कोई पशु-बध मत करो। इस घोषणा का उल्लंघन करनेवाला सजा पाता

१. भिक्खु दृष्टान्त सं० २३६
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८६
३. भिक्खु दृष्टान्त सं० २१०

है। यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से रही है। यवन सम्राटों के इतिहास में भी धर्माचार्यों की प्रेरणाओं से ऐसी राजाज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक के द्वारा 'अमारीपड़ह' बजवाने का उल्लेख जैन आगमों में आता है।[1] आजकल भी भारतवर्ष में गोवध को अपराध घोषित करने का बृहत् आन्दोलन चल रहा है। ऐसी राजाज्ञाएं अहिंसा की कोटि में आ जाती हैं अथवा ये केवल लोकनीति का अंग बनकर ही रह जाती हैं; यह एक जिज्ञासाओं को उभारने वाला विषय है।

अहिंसा व्यक्ति की भावनाओं से प्रस्फुटित होती है। वहां विवशताएं लेशतोपि नहीं टिक सकतीं। राजाज्ञा बल-प्रयोग का एक ज्वलन्त अंग है। बल-प्रयोग में न अहिंसा है, न धर्म है। आचार्य भिक्षु कहते हैं—कोई व्यक्ति मूला, गाजर आदि अनन्तकायिक वनस्पति खा रहा है, सचित्त जल पी रहा है, कोई दूसरा व्यक्ति आया और उसने ये सारी वस्तुएं उससे छीन लीं। बिना मन के कराये गए त्याग, धर्म और अहिंसा के अन्तर्गत नहीं आते। भोगातुर व्यक्तियों के भोग-लाभ में अन्तराय देने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। यह दशाश्रुतस्कन्ध में स्पष्ट बताया है।[2]

महात्मा गांधी कहते हैं—मछली खानेवाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने में बहुत ज्यादा हिंसा है। जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म है।[3]

रेवती और मांस-भक्षण

राजाज्ञा के भंग में दंड का भय है। जहां भय होता है, वहां अहिंसा नहीं होती। वह स्फटिक की तरह पवित्र होती है। वह लोभ, ईर्ष्या, कालुष्य आदि किसी दुर्गुण के साथ नहीं ठहरती। वह स्वयं अभय है और दूसरो के लिए अभय है। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा में महाशतक श्रावक की मदविह्वला पत्नी रेवती ने छद्म-रीति से अपने ही गोवर्ग से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मरवाए और उनका

१. उपासकदशांगसूत्र अ० ८, प्रश्नव्याकरणसूत्र

२. मूला गाजर ने काचो पाणी, कोई जोरी दावे ले खोसी रे।
जे कोई वस्त छोड़ावं बिना मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगीना कोई भोगज रूंधे, बले पाड़े अन्तरायो रे।
महामोहणी कर्मज बान्धे दसाश्रुतखंध मांहि बतायो रे॥
—व्रताव्रत ढाल १ गाथा ३३-३४

३. हिन्दुस्तान

मांस खाया।[1] राज-भय से यदि वह ऐसा न भी करती तो क्या वह अहिंसा का पालन करती ? कायिक हिंसा भले ही न हो, मन से तो वह घोर हिंसा करती ही होती। उस राजकीय नियन्त्रण में रहकर भी व्यक्ति स्वयं के आचरण में अहिंसा की परिणति कर सकता है, यदि उसका विवेक प्रबुद्ध हो; वह उस नियन्त्रण को विवशता से ग्रहण नही करता। वह तो एक स्थूल निमित्त मात्र रह जाती है। वह अपनी अहिंसा-निष्ठा से और अपने जागृत विवेक से अहिसा का पालन करता है। उसके हृदय मे विवशता जैसी कोई अनुभूति ही नहीं होती, परन्तु राज्य-बल अर्थात् सैनिक बल पर आधारित आदेश आदेष्टा को अहिंसक नहीं होने देता, भले ही उसके राज्यांकुश के कारण कितने ही जीव बच गए हों। अमारी घोषणा, गोबध-निषेध आदि लोक-नीति के विषय है। जैसे बच्चे को डरा-धमकाकर भी क, ख सिखलाया जाता है और उसके भविष्य को सुधारा जाता है, इसी प्रकार ऐसे अधिनियमों से भविष्य मे हिंसा के संस्कार घटें, यह सोचा जाता है। पिता अपने पुत्र को मार-पीटकर भी और बन्धन में डालकर भी धूम्रपान, मद्यपान व वेश्या-गमन आदि से बचाता है। वह अहिंसा का आचरण तो नही, पर लोक-नीति का आचरण अवश्य कहा जा सकता है। 'अमारीपड़ह' का भी समाज मे यही औचित्य सोचा जा सकता है।

सम्राट् अशोक का शासन काल

अमारी घोषणा भी धर्म और अहिंसा का अंग हो सकती है, यदि वह मात्र धर्म प्रेरणा ही हो। उसका स्वरूप आदेशात्मक न होकर उपदेशात्मक ही हो। सम्राट् अशोक के शासन में उपदेशात्मक और नियन्त्रणात्मक दोनों ही प्रकार काम में लिए जाते थे—विक्रमीय संवत् पूर्व १८६ में उसने जीव-रक्षा के सम्बन्ध में बडे-बड़े नियम बनाए। यदि किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी मनुष्य इन नियमों को तोडता था तो उसे बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य में इन नियमों का प्रचार था। इन नियमों के अनुसार कई प्रकार के प्राणियों का बध बिल्कुल ही बन्द कर दिया गया था। जिन पशुओं का मांस खाने के काम में आता था, उनका बध यद्यपि बिल्कुल तो बन्द नही किया गया तथापि उनके सम्बन्ध में बहुत कड़े-कड़े नियम बना दिये गए, जिससे प्राणियों का अन्धाधुन्ध बध होना रुक गया। साल मे छप्पन दिन तो पशु-बध बिल्कुल ही मना था।[2]

सम्राट् अशोक के एतद्विषयक अधिनियमों का एक ब्यौरा इस प्रकार है—

---

१. उपासकदशांगसूत्र अध्ययन ८

२. अशोक के धर्म-लेख पृ० ५१

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते है—राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों को अवध्य कर दिया है, जैसे सुक, सारीका, अरुण, चक्रवाक, हंस, नन्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड़), अम्बाकपीलिका, दुड़ि (कच्छवी), अनस्थिक मत्स्य, जीवंजीवक, गंगाकुक्कुटक, शकुल मत्स्य, कमठ, साही, पर्णशस, बारहसींगा, सांड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गांव के कबूतर और अन्य सब प्रकार के चतुष्पद, जो न तो किसी प्रकार उपभोग में आते है और न खाए जाते है। गर्भिणी या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ और शूकरी तथा उनके बच्चों को जो छः महीने तक के हों न मारना चाहिए। कुर्कुट को बधित नहीं करना चाहिए। जीव सहित तुषों को नहीं जलाना चाहिए। अनर्थ के लिए या प्राणियों की हिंसा के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मार दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। तीनों चातुर्मासिक पूर्णिमाओं के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए। इन दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को तथा अन्य पशुओं को न दागना चाहिए।[1]

राज्याधिकारियों का दौरा

सम्राट् अशोक ने अपने राज्याधिकारियों को भी प्रचार कार्य मे लगाया था। वह कहता है—मेरे राज्य मे सब जगह युक्त (साधारण कर्मचारी), रज्जुक (आयुक्त) और प्रादेशिक (प्रान्तीय अधिकारी) पांच-पांच वर्षो से धर्मानुशासन तथा अन्य कार्यो के लिए, यह कहते हुए दौरा करे कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र परिचित सजातीय ब्राह्मण व श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।[2]

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार में राजनीति और धर्म का मिश्रण था। पंचम स्तम्भ लेख में बताए गए जीव-हिंसा सम्बन्धी अधिनियमों से सम्राट् की धर्म-भावना का एक परिचय मिलता है, पर दण्ड-विधान के साथ करवाई गई जीव-दया विशुद्ध अहिसा की कोटि मे तो नही आ सकती। आज की समाज-व्यवस्था में भी मद्यपान, पर-स्त्रीगमन, चोरी, झूठा तोल-माप, मिलावट, चोरबाजारी आदि को रोकने के नाना कानून हैं ही, पर उनका लागू होना राज-व्यवस्था का अंग है, न कि अध्यात्म का। पशुओं के प्रति क्रूरता न बरते जाने के आज भी

---

१. अशोक के धर्म-लेख (पंचम स्तम्भ लेख) पृ० ३४१-४६

२. अशोक के धर्म-लेख (तृतीय शिलालेख) पृ० १२२

अनेकों कानून हैं। शहरों में सवारी आदि के संख्या-परिमाण निश्चित हैं। सम्राट् अशोक ने भी ऐसा करके कोई अपूर्व काम किया हो, यह नही लगता। उसके शासन में राजनीति और धर्म कैसे मिले-जुले चलते थे, उसका एक उदाहरण चतुर्थ स्तम्भ लेख में मिलता है। सम्राट् अशोक कहता है—आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाए। इस अवधि में जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार मे रहने के समय भी दण्ड पाए हुए लोग परलोक का चिन्तन करें।[1] यहां एक ओर मृत्यु दण्ड की चर्चा है और दूसरी ओर धर्माचरण की। अशोक के मन में धर्म-विस्तार की उत्कट भावना थी, इसमें सन्देह नहीं। उसने अपने अभिमत को आगे बढाने मे कानून की अपेक्षा प्रचार का ही अधिक आश्रय लिया था। राजनीति और धर्म के उस मिले-जुले रूप मे से 'नीर-क्षीर' का विवेक ही अध्यात्म और राजनीति का पृथक्करण कर सकता है।

राजाओं का परम्परागत आचार

श्रेणिक राजा ने अबध घोषणा की, यह शास्त्रों में उल्लिखित है, पर उस घोषणा का स्पष्ट रूप क्या था, यह नहीं। महाशतक की पत्नी रेवती ने जिस प्रच्छन्न विधि से मांस प्राप्त किया, उसे देखते हुए राजपुरुष उस आज्ञा को बहुत ही कड़ाकड़ी से पलाते थे, ऐसा लगता है। उपासकदशांगसूत्र मे रेवती के प्रसंग विशेष मे अमारी घोषणा का उल्लेख मात्र किया गया है। इससे यह नही सिद्ध होता कि शास्त्रकारो का ध्येय उसकी श्लाघा का रहा है। आचार्य श्री भिक्षु का अभिमत है, पुत्र-जन्मोत्सव व किसी विशेष प्रसग पर ऐसी घोषणाओं की परम्परा राजा लोगों में रही होगी। यह राजाओं का परम्परागत आचार ही हो सकता है। यदि यह धर्म का अंग होता तो वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी इस सहज सम्भव धर्म से वंचित क्यो रहते ? यदि बल-प्रयोग मे धर्म होता तो वे यही धर्माचरण कर अधिक-से-अधिक धर्मी बन जाते।[2]

---

१. अशोक के धर्मलेख (चतुर्थ स्तभ-लेख) पृ० ३३६

२. श्रेणक राय फड़हो फेरावीयो, ए तो जाणों हो मोटा राजा री रीत।
भगवंत न सरायो तेहनें, तो किम आवै हो तिणरी परतीत॥
ए तो पुत्रादिक जायां परणीया, ओछवादिक हो ओरी सीतला जाएा।
एहवो कारण कोइ ऊपजे, श्रेणक राजा हो फेरी नगरी में आण॥

गांधीजी और अहिंसा

सत्याग्रह-विचार

आचार्य भिक्षु से लगभग सवासौ वर्ष पश्चात् महात्मा गांधी आए। अहिंसा के इतिहास में उन्होंने भी कुछ नये अध्याय जोड़े। अहिंसा की उन्होंने एक व्यवहारिक नीति के रूप में भी स्थापना की। सत्ता-परिवर्तन जैसे दुष्कर कार्य जो कि अब तक युद्ध से ही सम्भव माने जाते थे, उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग आदि अहिंसा प्रधान प्रयत्नों में भी उनकी सम्भवता मानी। व्यवहार दशा में सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन भले ही अहिंसा जैसे न लगते हों, पर महात्मा गांधी का प्रयत्न उनको अधिकाधिक अहिंसात्मक बनाने का ही रहा है। उनका कहना था—अग्रेज लोगों के प्रति हमारे मन में जब तक किंचित् भी कटुता और शेष है, तब तक हमारे ये प्रयत्न अहिंसात्मक नहीं कहे जा सकते। उनके सामने प्रश्न आया—क्या सत्याग्रही कतार बांधकर खड़े हो सकते है ? उन्होंने कहा—यह प्रश्न ऐसे प्रसंग पर पूछा जा रहा है, जहां कतार बांधकर खडे होने में प्रतिपक्षी के गमनागमन में एक अवरोध करने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यह तरीका कदापि अहिंसात्मक नहीं हो सकता।[1] इस प्रकार अनेकों सामाजिक व्यवहारों में अहिंसा को एक अनिवार्य नीति का रूप दिया और अनेकों समस्याओं पर उनके सफल प्रयोग भी कर दिखाए।

चीनी, खादी और चाय

गांधीजी ने अहिंसा को राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धों से ही परखा है, पर व्यक्तिगत जीवन-साधना के सम्बन्ध से भी उन्होंने बहुत सोचा और बहुत लिखा है। जीवन-व्यवहार के नगण्य कार्य और होनेवाली नगण्य हिंसा के विषय में भी उन्होंने अपने स्पष्ट मन्तव्य दिए हैं। अनेक स्थलों पर उनकी दृष्टि आचार्य भिक्षु की दृष्टि के साथ अद्भुत तादात्म्य रखती है। किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से तीन प्रश्न पूछे—

१. क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनी में हड्डियां तथा खून आदि अपवित्र चीजें डाली जाती हैं ? अहिंसा का पालन करनेवाला मनुष्य क्या विदेशी शक्कर खा सकता है ?

२. खादी पहनना अहिंसा का प्रश्न है या राजनीति का ?

फल फूल अनन्त काय ने, हिंसाविक हो अठारे पाप नें जाण।
जोरी दावे पैला नें मना कीयां, धर्म हुवे तो हो फेरे छः घंटे में आण ॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा ३७,४०,४६

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० २२३ के आधार से

३. अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला क्या चाय पी सकता है?

उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार से दिया—

विदेशी चीनी के अन्दर हड्डियां आदि नही रहती, पर हां ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करने मे किया जाता है। यह मानने का कोई कारण नही कि ऐसा प्रयोग देशी चीनी के लिए नही होता है। अहिसा की दृष्टि से सम्भवतः दोनों प्रकार की शक्कर त्याज्य है। यदि लेनी ही हो तो उसकी बनावट की जांच करना उचित है। विदेशी शक्कर का त्याग स्वदेशी के उत्तेजन के लिए ही संगत है। शक्कर मात्र के त्याग के लिए अहिसा की एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रिया में हिसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य-पदार्थ पर जितनी कम प्रक्रिया हो, उतना ही अच्छा है।

खादी पहनने मे अहिसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनों का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार खादी पर प्रक्रियाए कम होती है, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और नही भी पी सकता है। चाय मे भी प्राण हैं। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके लेने से होनेवाली हिसा अनिवार्य नहीं है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। व्यवहार मे हम इतनी बारीक बातों का ख्याल नही करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजों को अहिसा की दृष्टि से निर्दोष समझते है, उसी तरह चाय को भी मान सकते है।

माता का शिशु-प्रेम

तीनों प्रश्नो के उपसहार मे वे लिखते हैं—अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थिति को नही समझा है, वह चाहे कितनी ही चीजों का त्याग कर दे तो भी उसे उसका फल शायद ही मिले। रोगी रोग के लिए बहुत-सी चीजों से परहेज करता है, इससे उसके इस त्याग का फल रोग दूर करने के अतिरिक्त नहीं मिलता। दुष्काल पीड़ित को यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवास का फल नही मिलता। जिसका मन सयमी नहीं है, उसकी कृति मे चाहे संयम भले ही दिखाई दे, पर वह संयम नहीं है। जिस कार्य में जिस अंश तक दया है, उस कार्य में उसी अश तक अहिसा हो सकती है। इसलिए दया और ज्ञान की आवश्यकता है। अध-प्रेम को अहिसा नही कहते। अंधप्रेम के अधीन होकर जो माता अपने बालक को अनेक तरह दुलराती है, वह अहिसा नहीं अज्ञानजात हिंसा है। मैं चाहता हूं खाने-पीने की मर्यादाओं का पालन करते हुए भी लोग अहिंसा के विराट रूप को, उसकी सूक्ष्मता को, उसके धर्म को समझें।[1]

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १६

रामायण और महाभारत

आचार्य भिक्षु ने रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुराण ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण नहीं माना। उन्होंने जैन रामायण पर तो असंगत उदन्तों के लिए परिष्कारक प्रयत्न भी किया था।

महात्मा गांधी से एक बार पूछा गया—हिन्दू लोग राम के अवतार को धर्म का अवतार कहते है। राम ने रावण को मारा था, क्या यह बुरा किया ? राम ने बालि का बध किया यह कहकर कि—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हिं कुदृष्टि विलोकहिं जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

भगवद् गीता में अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों का बध करने के लिए तैयार नहीं होता है। भगवान् कृष्ण उसे युद्ध करके नाश करने का आग्रह करते हैं। आपका अहिंसा-मन्तव्य इस विषय में क्या कहता है ?

उत्तर में महात्मा गांधी लिखते हैं—तुलसीदास ने राम के मुह में कितनी बाते डाली हैं, जिनका मतलब मैं नहीं समझता। बालि सम्बन्धी सारा प्रसंग ही ऐसा है। तुलसीदास ने राम के मुह से कहलाई इन पंक्तियों के शब्दार्थ के अनुसार चलने से यदि कोई फांसी पर न चढ़ेगा तो बड़ी मुसीबत में जरूर फंस जाएगा। रामायण और महाभारत में हर महान् व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, सबको मैं शब्दशः नहीं ग्रहण करता हूं और न मैं इन ग्रन्थों को ऐतिहासिक संग्रह मानता हूं। उनमें भिन्न-भिन्न रूपों में आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्ण को अस्खलनशील—कभी गलती न करने वाले मानता हूं, जैसा कि इन दो महाकाव्यों में उनका चरित्र-चित्रण मिलता है। वे अपने युग के विचारों और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषों के चरित्र का यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्था में उनका आशय मात्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम दे सकता है। उनके अक्षर-अक्षर का अनुसरण करने से हमारा दम घुटने लगेगा और सब तरह की उन्नति रुक जाएगी। जहां तक गीता से सम्बन्ध है, मैं उसे कोई ऐतिहासिक संवाद नहीं मानता। आध्यात्मिक सिद्धान्त समझाने के लिए उसमें भौतिक उदाहरण लिए गए हैं। चचेरे भाइयों के दरम्यान हुए युद्ध का उसमें वर्णन है। 'अहिंसा परमो धर्मः' जीवन का एक उच्चतम सिद्धान्त है। उसके पालन से यदि जरा भी हम च्युत हों तो उसे हमारा पतन समझना चाहिए। भूमिति की सरल रेखा काले तख्ते पर चाहे न खींची जा सकती हो, परन्तु उस कार्य की

असम्भवता के कारण वह व्याख्या नही बदली जा सकती।[1]

मछली, वनस्पति और जल-जन्तु

अहिंसा के सम्बन्ध मे एक प्रश्न उनके सामने आया। मछली पकड़ना हिंसा है। शाक के लिए वनस्पतियों को उखाड़ना हिंसा है। जन्तु-नाशक द्रव्य पानी में डालना हिंसा है। अब बताइए दुनिया मे कैसे रहे ?

गाधीजी लिखते हैं—एक पौधे को उखाडना भी बुरा है। किसी खूबसूरत गुलाब के फूल को तोड़ते किसे वेदना नही होती ? किसी घास-पात को तोड़ते समय हमे वेदना नही होती, इससे कहीं सिद्धान्त में बाधा पड़ सकती है ? इससे यही सूचित होता है कि हमे पता नहीं है कि प्रकृति में घास-पात का क्या स्थान है। अतएव किसी भी प्रकार की हानि पहुचाना अहिंसा-सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। अहिंसा के पूर्ण पालन की अवस्था में अवश्य ही जीवन की स्थिति असम्भव हो जाती है। अतएव हम सब मर जाएं तो परवा नही, सत्य को कायम रहने देना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस सिद्धान्त को आखिरी मर्यादा तक पहुंचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोष है, एक जंजाल है। मोक्ष देहादि के परे की ऐसी अदेह सूक्ष्म अवस्था है, जहां न खाना है, न पीना है और इसीलिए जहां न दूध दुहने की आवश्यकता है और न घास-पात को तोड़ने की। सम्भव है इस तत्त्व को समझना या ग्रहण करना कठिन हो। सम्भव है कि पूर्णतः उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना असम्भव हो और है भी। फिर भी मुझको इस बात में कोई सन्देह नही है कि सत्य यही है और इसीलिए भलाई इस बात में है कि हम अपने जीवन को अपनी पूरी शक्ति भर उसके अनुकूल बनावें। यथार्थ ज्ञान हो जाना मानो आधी लड़ाई को जीत लेना है। इस भव्य सिद्धान्त का हम जितना ही पालन अपने जीवन में करते हैं, उतना ही वह जीवन रहने और प्रेम करने लायक होता है। क्योंकि उस अवस्था मे बजाय खुद सदा शरीर के वश में रहने के हम अपने शरीर को अपने वश में रखते है।[2]

शिशु के लिए सिंह-बध

केलिफोर्निया (अमरीका) से किसी एक व्यक्ति ने गाधीजी से पूछा—एक केनेडी अपनी पशुशाला में बैठा था। आंगन में उसकी पौत्री खेल रही थी। अचानक एक पहाड़ी सिंह पशुशाला में आया और लड़की पर झपटा। उस केनेडी ने अपनी राईफल उठाई और एक ही गोली में उस शेर को मार डाला। आप बतलाइए

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १९-२०
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २०-२१

उस केनेडी का क्या कर्तव्य था? वह अहिंसा-धर्म का पालन करते हुए यों ही बैठे रहता, यह ठीक था या जो उसने किया?

गांधीजी ने उत्तर दिया—यह बात बिल्कुल सच है कि अहिंसा की उच्चतम स्थिति पर पहुंचना बहुत ही थोड़े लोगों के लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य जाति आम तौर पर हमेशा सिंह और शेर को मारकर अपने बच्चे और पशुओं की रक्षा करती रहेगी। पर इससे मूल सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। साधु सन्तों का जंगल में निशस्त्र रहना और किसी भी जंगली पशु को दुःख न पहुंचाए बिना रहना, यह चमत्कार हिन्दुस्तान में अज्ञात नही है। पश्चिम मे भी इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।[1]

खटमल, मकड़ी का जाला व पतंगे आदि

प्रश्न—माना कि मैं संसारी हूं। बड़ा ख्याल रखने पर भी खटिया में खटमल हो गए है। उन्हे उठाकर रखने में भी कितने ही मर जाते है। घड़े के पानी में भी जीव पड़ गए हैं और उस पानी को फेंक देने पर भी उन छोटे-छोटे जीवों की हिंसा होतीहै। घर में मकड़ी ने जाले बनाए है। उन्हे साफ करने में भी हिंसा होती है। मान लो कि मैं एक व्यापारी हूं, माल की पेटी में जीव पड़ गए हैं। यदि उन जीवों को मैं दूर न करू तो माल का नुकसान होता है। मैं बाहर घूमने के लिए जाता हूं तो उस क्रिया मे भी पैरों के नीचे थोड़े-बहुत जीव आ जाते हैं। बत्ती जलाता हू तो यहां भी यही मुश्किल होती है। सिंहादि के विषय में पूछना ही क्या है? ऐसे दूसरे अनेक दृष्टांत मै दे सकता हूं। क्या आप उनका खुलासा कर सकेंगे? ऐसी स्थिति में अहिंसा धर्म का पालन कैसे किया जाए?

उत्तर—ऊपर कही गई सभी क्रियाओं में अवश्य हिंसा है, क्योंकि क्रियामात्र हिंसामय है और इसलिए सदोष है। भेद है तो सिर्फ कम व बेशी परिमाण का ही है। देह का और आत्मा का सम्बन्ध ही हिंसा के आधार पर रचा गया है। इसलिए देहधारी मनुष्य अहिंसा के आदर्श को दृष्टि के समीप रखकर जितना दूर जा सके, उतना दूर जाए। परन्तु अधिक-से-अधिक दूर जाने पर भी कुछ हिंसा का होना तो अनिवार्य ही होगा, जैसे श्वासोच्छ्वास लेने अथवा खाने इत्यादि में। अनाज के प्रत्येक कण में जीव है। इसलिए यदि हम मासाहार के बदले अन्नाहार करते हैं तो उसमें हम हिंसा से मुक्त नही गिने जा सकते हैं, परन्तु अन्नाहार में होने वाली हिंसा को अनिवार्य समझकर उसका आहार करते

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३३

हैं और इसीलिए तो भोग के लिए आहार सर्वथा त्याज्य है।[1]

प्रश्न—हिंसा की आवश्यकता प्रमाणित हो जाने पर भी क्या सैद्धान्तिक दृष्टि उसमें बाधक होती है ?

उत्तर—ऐसे अवसर पर भी जहां हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का समर्थन नहीं कर सकते। कार्य-साधकता की दृष्टि से उसका बचाव किया जा सकता है।[2]

व्यवसाय और खेती

प्रश्न—अन्य व्यवसायों की अपेक्षा क्या खेती अधिक हिंसा जन्य नहीं है ?

उत्तर—कार्यमात्र, प्रवृत्तिमात्र, उद्योगमात्र सदोष है। आवश्यक उद्यम मात्र में एक-सा दोष है। मोती के रोजगार में, रेशम के धन्धे में, सुनार के पेशे में खेती से बहुत अधिक दोष है। क्योंकि ये धन्धे आवश्यक नहीं हैं। उनमें हिंसा तो बहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नहीं सकते। रेशम का कीड़ा उबाला जाता है। सुनार जो आसमानी आग पैदा करता है, उसमें जलने वाले जन्तुओं से यदि पूछें और यदि वे जवाब दे सकें तो हमें उनके धन्धे की हिंसा का कुछ ख्याल हो सकता है।[3]

प्रश्न—किसी व्यक्ति या पशु को मारने वाला क्या उस बध्य को दुर्गति देने का पाप नहीं करता ?

उत्तर—एक मनुष्य दूसरे को मारकर उसे दुर्गति कैसे दे सकता है ? यह बात मेरी समझ के बाहर है। मनुष्य अपने ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है, दूसरे का नहीं। अहिंसा-धर्म का पालन अपने ही मोक्ष के लिए होता है।[4]

अहिंसा और उपयोगितावाद

प्रश्न—क्या आपका सिद्धान्त उपयोगितावाद पर आधारित नहीं है। उपयोगितावाद का अर्थ है—अधिकांश लोगों का अधिक लाभ। सामान्यतः वह अर्थ-सिद्धि के लिए हिंसा-अहिंसा में भेद नहीं मानता। आप अपना स्थिति स्पष्ट करें।

उत्तर—अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ४७
२. गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २६
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७५

'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में मर जाएगा। दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख के अन्दर अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है, इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, पर अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा, जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दशा में एक-दूसरे का विरोध भी करना पड़ेगा।

अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक पक्ष ने उपयोगिता के अपने विचार के अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर दिया है। उपयोगितावाद के सहारे जलियांवाला बाग-काण्ड को भी उसके करनेवालों ने न्याय-सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्क से अराजक भी अपनी हत्याओं का समर्थन करते हैं, किन्तु सर्वभूतहित-वाद के सिद्धान्त की कसौटी पर इनमें से किसी भी काम को समुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।[1]

भावना और कार्य

प्रश्न—मानव समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे, जबकि वह केवल समाज-हित की भावना से ही किया जाता है।

उत्तर—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया, किन्तु अकेली भावना से अहिंसा नहीं सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त में भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना-माप भी कार्य पर से ही निकालना पड़ता है और जहां स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलटे जो आदमी मन में वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारी से उसे काम में नहीं ला सकता, उसे वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है।[2]

ज्ञानपूर्वक दया

प्रश्न—मनुष्य-भक्षी जाति से मनुष्य-भक्षण छुड़ाना और पशु के मांस से

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८३-८४

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११५

अपना निर्वाह करने की बात कहना, मांस खानेवाले लोगों को फल, फूल वनस्पति से जीवन-निर्वाह करने की बात कहना क्या अहिंसा है ? अहिंसा की दृष्टि में जीवमात्र समान हैं।

उत्तर—सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है, तब उस हद तक वह अहिंसा-धर्म का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढि के कारण मास आदि नहीं खाता वह अच्छा तो करता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमे अहिसा का भाव है ही। जहां अहिसा है, वहां ज्ञान-पूर्वक दया होनी ही चाहिए।[1]

प्रश्न—आप दया और अनुकम्पा के स्थान पर जब तब अहिंसा शब्द का प्रयोग करते है, इससे भ्रान्ति पैदा होती है ?

उत्तर—अहिसा और दया मे उतना ही भेद है, जितना सोने और सोने के गहनो में, बीज मे और वृक्ष में। जहा दया नहीं, वहा अहिंसा नहीं। अत: यों कह सकते हैं कि उसमें जितनी दया है, उतनी ही अहिसा है। अपने पर आक्रमण करनेवालों को मैं न मारू, उसमे अहिंसा हो भी सकती है और नहीं भी। डरकर अगर उसे न मारू तो वह अहिसा नहीं हो सकती। दया-भाव से ज्ञानपूर्वक न मारने में ही अहिंसा है।[2]

महात्मा गाधी के अहिंसा चिन्तन में जैन अहिसा-दृष्टि का भी प्रभाव रहा है। गांधीजी ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्राचार्य, अमृत-चन्द्रसूरी प्रभृति आचार्यो के अहिसा सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्य,[3] पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय[4] आदि ग्रन्थ पढे है, ऐसा अनेक संदर्भो से स्पष्ट होता है।

तत्त्व-निरूपण और लोक-धारणा

अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण बहुधा लोक-धारणा और लोक-व्यवहार के साथ मेल नही खाते। इसीलिए तो आचार्य भिक्षु को, साले का सर काट दूंगा,[5] भिक्षु करोड़ कसाइयों से भी अधिक बुरा है,[6] जी करता है भिक्षुजी को कटारी से मार

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११७

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११६-१७

३. नवजीवन ता० १३-१-२८

४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७७

५. भिक्खु दृष्टान्त ६१

६. भिक्खु दृष्टान्त ८४

दूं[1] आदि बीभत्स वाक्य अपने कानों से सुनने पड़ते थे। एक चर्चावादी तो उनकी छाती में मुक्का मारकर ही चलता बना।[2] अपने निर्भीक निरूपण को लेकर उन्हें नाना लोक-यातनाओं का सामना करना पड़ा।

इस विषय में गांधीजी की स्थिति भी लगभग यही थी। उनके अहिंसा सम्बन्धी निरूपणों से बहुत बार लोग बौखला उठते और अपने कटु उद्गार उन तक पहुंचाते। गांधीजी ने स्वयं ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है। उनके शब्द हैं—कितनेक लोगों का कहना है, मेरा साठवां वर्ष बैठा है, इसलिए ही मेरी बुद्धि का नाश हुआ है। तो कितनेक लोग कहते हैं—ऐसा धर्म आपको अभी बुढ़ापे में सूझा है क्या? यदि पहले ही सूझा था तो इतने दिन मुंह में दही जमाए क्यों बैठे थे?[3] अब आपको अहिंसा के क्षेत्र से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।[4] आप महात्मा माने जाते हैं, इसलिए समाज के बहुत से लोग आपके रास्ते पर चलकर दुःखी और पामाल हो रहे हैं।[5]

सत्य-निरूपण में दोनों ही विचारक टलते नहीं थे। एक बार गांधीजी ने किसी प्रसंग से कहा था—मच्छरों, मक्खियों और चूहों को भी जीने का उतना ही अधिकार है, जितना कि मेरा। अमेरिका के पत्रों में इस बात का बहुत ही उपहास हुआ। वहां के एक हितैषी ने गांधीजी को लिखा—मै नही मानता, आपने ऐसी बेवकूफी भरी बातें कही होंगी; अतः आवश्यक है, आप एक प्रतिवाद लिखकर भेजें, जिसे मैं यहां समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर सकूं। गांधीजी ने उस पर लिखा—खेद है, मेरी बेवकूफी को मिटाने का श्रेय आपको मिलना सम्भव नहीं है।[6]

महात्मा गांधी इन आलोचनाओं में वेदनाशील भी होते देखे जाते हैं। प्रसंगवश वे लिखते हैं—मेरे नाम इस विषय में ढेरों पत्र आए है। इनमें से कोई मीठा, कोई तीखा और कोई कड़वा है। मेरे मित्र भी मेरा अभिप्राय नहीं समझ सके हैं। मेरे नसीब से मेरे जीवन में हमेशा ऐसा ही होता चला आया है।[7]

मैंने टीकाकारों का रोष बहुत बटोर लिया है। कोई गालियां देकर अपनी

---

१. भिक्खु दृष्टान्त ७४
२. भिक्खु दृष्टान्त ४७
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ६६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११
५. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग ४ पृ० ४३४
६. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८०-१८१
७. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ५६

अहिंसा की परीक्षा दे रहा है, कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसा की परीक्षा ले रहा है।[1]

आचार्य भिक्षु का उग्र सत्य

आचार्य श्री भिक्षु से उनके उत्तराधिकारी शिष्य भारमलजी स्वामी ने पूछा—आप छद्मस्थ भगवान् महावीर को चुका कहते है, यह लोगों को बहुत ही अप्रिय लगता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो मै कहता हूं, वह सत्य है या नहीं ?

भारमलजी—सत्य तो है ही।

आचार्य भिक्षु—फिर प्रिय और अप्रिय होने की चिन्ता मत करो।[2]

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—आपका उग्र निरूपण क्या वास्तव में निन्दा या हिंसा नहीं है ?

आचार्य भिक्षु—एक धनवान् अपने लड़के को सीख देता है, जिसका धन उधार लिया जाए, उसे यथासमय वापिस करना चाहिए, नही तो लोग दिवालिया कहते हैं।

पड़ोसी सचमुच ही दिवालिया था। उसे यह सीख चुभती और वह झल्लाकर कहता है, बेटे को ऐसी सीख न दिया करो, मेरी छाती जलती है।

आचार्य भिक्षु ने प्रश्नकर्ता से कहा—ठीक इसी प्रकार मै तो अपने शिष्यों को साध्वाचार सिखलाता हूं। शिथिलाचारी कुढ़ते है, यह तो उनका अपना ही दोष है।[3]

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में पाप की आलोचना असंगत नही पापी की आलोचना असंगत हो सकती है।

गांधीजी की स्पस्टवादिता

गांधीजी ने चीन में रहे पादरियों के धर्म-परिवर्तन कार्य की तीव्र आलोचना की। ईसाई जगत् में एक उद्वेलन आ गया। वरीष्ठ लोगो ने गांधीजी को लिखा—आपका हमेशा का स्वभाव तो विशिष्ट शान्ति, धैर्य व समय से बात करने का है। आप इस कठोरता को सहज ही टाल सकते थे। इस कठोरता में आपने पादरी-वर्ग के प्रति हिंसा की है।

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११

२. भिक्खु दृष्टान्त १७८

३. भिक्खु दृष्टान्त ६०

गांधीजी के विस्तृत उत्तर का अभिप्राय है—ईसामसीह ने अपने जमाने के कुछ लोगों को 'सापों की औलाद' कहा था। उनके शब्दों व कार्यों से लोगों को इतनी चोट पहुंची कि वे उनकी जान के गाहक बन गए। क्या ईसामसीह ने वचन द्वारा हिंसा की थी?

सत्य यदि कठोर हो सकता है तो उसे व्यक्त करने का नम्रतापूर्ण मार्ग ऐसा कौन-सा है, जिससे कि विरोधी को क्रोध आए ही नहीं। किसी चोर के कार्य को मैं चोरी कहकर ही व्यक्त करूं या 'द्रावड़ी प्राणायाम' जैसी भाषा में मैं उसके विषय में यह कहूं कि वह साहूकारी के चारों ओर की भूमि में भ्रमण करता है, हत्यारे के लिए कहूं कि वह निर्दोष खून करता है। इन प्रयोगों में भी क्या निश्चितता है कि दोषी का दिल दुःखेगा ही नहीं। मेरे मतानुसार कठोर सत्य विवेक और नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। पादरियों की प्रवृत्ति के विषय में मैंने जो वचन कहे हैं, वे किसी प्रकार हिंसक नहीं ठहरते।[1]

मत-विभिन्नता भी

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा मन्तव्यों में क्वचिद् अत्यन्त भिन्नताएं भी थीं। मरणशील को मृत्युदान[2] का विचार गांधीजी का अपना निराला था। आचार्य भिक्षु साधु-दीक्षा में थे। अतः जीवन-व्यवहार में हिंसा का अनुमोदन मात्र भी उनके लिए वर्जित था। गांधीजी एक लोकपुरुष थे। वे अपने सामाजिक दायित्व को समझते हुए समाज-धर्म के रूप में हिंसा का आदेश व अनुमोदन भी करते थे। सामाजिक लोग कहां तक हिंसा कर सकते है और कहां तक नहीं, इस तथ्य को तोलने की उनके पास अपनी तुला थी। एक ओर उन्होंने अहमदाबाद के प्रमुख उद्योगपति सेठ अम्बालाल द्वारा साठ पागल कुत्तों के मरवा डालने को यह कहकर कि इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था, अनुमोदित किया और सारे देश का रोष अपने ऊपर लिया; दूसरी ओर अंग्रेजों की हत्या के लिए उग्र युवकों के विषय में पुनः-पुनः वे कहते रहे—नौजवान मुझसे कहते हैं कि यदि मैं उनकी मदद नहीं कर सकता तो मैं चुप ही रहूं और उनके मार्ग में रोड़े न अटकाऊं। उन्हें मेरा यही उत्तर है कि यदि आप अंग्रेज अधिकारियों को मारना ही चाहते हैं तो उनके बजाय मुझे ही क्यों नहीं मार डालते? अपने ढंग से आपके मार्ग में रोड़े अटकाने के आपके आरोप का मैं अपने को अपराधी स्वीकार करता हूं। यह मेरा ध्येय है। मुझ पर दया न करो, मुझे सीधी राह ठिकाने लगा दो। लेकिन जब तक

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८३-१८४

२. विशेष विवरण के लिए देखें 'आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी'

मेरे अन्दर प्राण हैं, मैं अपने ढंग से आपका विरोध करूंगा ही। यदि आप मुझे छोड़ते हैं तो आप सरकारी नौकरों पर, चाहे वे बड़े हों या छोटे, हाथ न डालिए।

मुसलमानों द्वारा किए गए अभद्र व्यवहारों के बावजूद भी वे हिन्दुओं को अहिंसा से काम लेने की अपील ही करते रहे और उसी मे अपने प्राण दे दिए। अपने ऊपर बम फेंकनेवालो को भी उन्होंने क्षमा किया था। इस प्रकार आचार और विचार से समुद्भूत गाधी-अहिंसा इस युग का एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन बन गई है। सुप्रसिद्ध विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते है—महात्मा गांधी ने प्रत्येक विचारधारा को परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उसी सूक्ष्मता को पहुंची, जहा उसने एक नवीनवाद का सूत्रपात किया और उसे कह सकते है—गाधी-धर्म। श्रेष्ठता और सूक्ष्मता की दृष्टि मे जैन-धर्म और गाधी-धर्म सम हैं। महात्मा गाधी एक नये समन्वयात्मक धर्म के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं, जबकि आचार्य भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धर्म को नये सिरे से मान्यता देनेवाले थे। महात्मा गाधी ने गाधी-धर्म की सृष्टि की। आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की पुनर्जागरणा की। दोनो का तत्त्व-चिन्तन विभिन्न परिस्थितियों में होते हुई भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है।[1]

कथनी करनी में भेद

"अमृत सबके लिए समान है। वह किसी के लिए विष नही होता। अनुकम्पा भी सबके लिए समान है। वह एक (श्रावक) के लिए आचरणीय और एक (साधु) के लिए अनाचरणीय नही होती।"[2]

किसी एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कहा—तेरे शरीर में वायु की व्याधि है। सातवी मंजिल पर से नीचे गिर, तेरा रोग मिट जाएगा। उसने कहा तेरे भी तो यही रोग है? तू भी तो ऐसा कर। वह बोला, मैं ऐसा नही कर सकता। ऐसा करने मे मेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी। उसने कहा, यह कौन-सा न्याय है कि तेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी और मेरा रोग भी मिट जाएगा।[3]

अनुकम्पा की दृष्टि मे जैन परम्पराओं में एक बहुत बडा विपंवाद चलता

---

१. भूमिका—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

२. साध श्रावक दोनूं तणी, एक अनुकम्पा जाण।
इमरत सहु नें सारिषो, कूड़ी मत करो ताण॥

—अनुकम्पा चौपई गीति २ दोहा ३

३. भिक्खु दृष्टान्त ७२

है। कहा जाता है, अमुक प्रकार की अनुकम्पा हम साधु तो नहीं कर सकते, हमारे व्रत भंग होते हैं। तुम यदि करते हो तो धर्म-पुण्य ही होगा। वे देहपोषक दया और दान के लिए गृहस्थो को प्रेरणा देते है, पर उनके अपने पास कोई क्षुधातुर या तृषातुर चला आए, उनके पास भोजन और पानी वर्तमान हो तो भी आगन्तुक की भूख और प्यास नहीं बुझाते। कहते है, ऐसा करने में हमारे महाव्रत टूटते हैं। कोई शीत-पीड़ित व्यक्ति उनसे वस्त्र की याचना कर ले या कोई राह-भ्रष्ट पथिक उनसे मार्ग-जिज्ञासा कर ले तो न वे वस्त्र ही देते है और न वे मार्ग ही बतलाते हैं। कहने भर के लिए ही क्या वे जीव-रक्षा करते हैं ? सचमुच ही अहिंसा-चिन्तन में यह एक अक्षम्य विषंवाद है। साधु और गृहस्थ के धर्म में अणुव्रतों का और महा-व्रतों का अन्तर है। वह अन्तर केवल व्रत-परिमाण का है न कि अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के आधारभूत सिद्धान्तों का। अहिसा, सत्य आदि गृहस्थ के लिए अशतः उपास्य हैं तो साधु के लिए पूर्णतः। देहोपचायक दया भी यदि उपास्य धर्म है तो साधु के लिए वह पूर्णतः उपास्य धर्म होना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं माना जा सकता तो सोचना चाहिए, एतद्विषयक मूल धारणा में ही कही भूल है और वही भूल है जिसे आचार्य भिक्षु ने लौकिक दया और लोकोत्तर दया के भेद युग्म से सुधारा है। सिद्धान्त वह है जो सम स्थिति में सम प्रकार से चलता जाए।

दूसरा विषंवाद यह चलता रहा है, हम यह अनुकम्पा तो कर सकते हैं, यह नही। आचार्य भिक्षु ने ऐसी निर्मूल मान्यताओं पर तीव्र प्रहार किया। वे साधु कहते हैं—कोई पक्षी अपने घोंसले से अकस्मात् नीचे आ गिरा तो हम उसकी अनुकम्पा कर उसे पुनः घोंसले में संस्थापित कर देते हैं। बिल्ली चूहे पर झपट रही हो तो हम उस बिल्ली को भगाकर चूहे का बचा लेते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा,कोई तपस्वी श्रावक कायोत्सर्ग करके बैठा है। अचानक उसे मूर्च्छा आ गई। गिर पड़ने में गर्दन भी बुरी तरह से दब गई है। तब तुम क्या करोगे ? इस पर वे कहते है—हम तो साधु है। हम गृहस्थ की सार-सम्भाल नहीं कर सकते। आचार्य भिक्षु कहते हैं, जिनकी अनुकम्पा में इतना विरोधाभास है, उन्होंने अनुकम्पा के मूल को पकड़ा नहीं है। सौ श्रावकों का पेट दुःख रहा है। साधु अकस्मात् वहां पहुंच गए। श्रावकों ने कहा, हम लोग दर्द के मारे मर रहे हैं। आप हमारे पेट पर हाथ फिराते रहें। हमें बहुत शान्ति मिलेगी। स्यात् हम मरने से बच भी जाएंगे। वहां साधु क्या करें ? वे जीव-रक्षा के उपदेशक तब कहते है, गृहस्थ की परिचर्या करना साधु को कल्पता नहीं।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह कैसी जीव-दया है ?

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा २ से ५

एक ही जैसे प्रसंगों से एक को कल्प्य मानते हैं, एक को अकल्प्य। वे एक जैसी बात नहीं कहते। गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आकर मर रहा है। वे कहते हैं—हम उसे अवश्य बचाते है। गृहस्थ के भाजन से रह-रहकर तेल निकल रहा है। उस बहते तेल में अनेक जीव लपेट मे आ रहे है। वही तेल चीटियों की दरारों में से गुजर रहा है और आगे वह अग्नि में पहुच रहा है। तब कहते है—हमें यह सब बताना नहीं कल्पता।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह सब अनुकम्पा को हार्द न समझने का परिणाम है। मूर्ख बहू का पीपल को लाने जैसा प्रयत्न है।[2] घर में कोई मंगल प्रसंग था। सास ने पुत्रवधू से कहा—पास के चौराहे से पीपल ले आ। सास का अभिप्राय पीपल की टहनी तोडकर लाने से था। बहू नासमझ थी। वह पीपल के पास पहुचकर कहने लगी—पीपल! घर चलो, सास बुलाती है। बार-बार यह बात कहती रही। पीपल जरा भी आगे सरका नही। तब वह पीपल के तने में रस्सा डालकर जोर से खींचने लगी। आयास करते-करते हाथ लोहू-लुहान हो गए। कोई विज्ञ पुरुष आया। उसने सारा हाल उससे पूछा। सब कुछ सुनकर उसने कहा—तू तो बहुत ही नासमझ ठहरी। सास के कहने का तात्पर्य समझे बिना व्यर्थ ही खीचातान मचा रही हो।

जो साधु बढ़-बढ़कर यह कहा करते थे—हम बिल्ली से चूहे को बचाकर दया-धर्म का पालन करते है। आचार्य भिक्षु ने उनके समक्ष तत्सदृश छव उदाहरण और रखे और पूछा—

१. तालाब में मछलिया और मेढक भरे है। लट, जलोक आदि अनेक जीव इधर-उधर रेग रहे हैं। स्थावर जीवों की भी वहा भरपूर उत्पत्ति है। एक भैंस गर्मी से व्याकुल हो, उसमें लोटने जा रही है। यदि भैंस को रोका जाता है तो उसकी हिंसा है और नही रोका जाता है तो तालाब मे रहे अनगिन प्राणियों की हिसा है। उस स्थिति मे वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेगे?

२. सड़े धान का ढेर लगा है। उसमें लट, ईली, अण्डे आदि जीव किलबिलाहट कर रहे हैं। एक भूखा बकरा उस अन्न को खाने जा रहा है। यदि उसे रोका जाता है तो वह बेचारा भूखों मरता है। नहीं रोका जाता है तो धान और उसमें रहे अनेकों प्राणियों की हिंसा होती है। उस स्थिति में वे अहिंसा धर्म का पालन

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा १८-२०

२. किण हीक ठोड़ें जीव बतावै, किण हीक ठोड़ संका मन आणें।
समझ पड्यां विण सरधा परूपे, पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं ताणें॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३२

कैसे करेंगे ?

३. अनन्तकाय वनस्पति से गाड़ी भरी है। उसमें चार पर्याय और चार प्राण वाले अनन्त जीव हैं ही। एक भूखा बैल उसे खाने जा रहा है। एक ओर वनस्पति की हिंसा है, एक ओर बैल की। उस स्थिति में वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

४. पानी के मटके भरे पड़े हैं। जिनमें नीलण-फूलण छाई हुई है। लट आदि अनगिन प्राणी पैदा हो गए हैं। प्यास से व्याकुल गाय उन पर आकर खड़ी है। वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

५. कूड़े-करकट का ढेर लगा है। वर्षा में खाद भीग गई है। गिण्डोले और गधिये तलबल कर रहे हैं। उस समय पक्षी आए और लट आदि प्राणियों को चुगने लगे है। इस स्थिति में अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

६. गुड़, खाण्ड आदि पदार्थों पर अगणित मक्खियां बैठी हैं। मक्खे उन मक्खियों को मारने के लिए मंडरा रहे हैं। वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

आचार्य भिक्षु ने कहा—बिल्ली से चूहे को बचाने के लिये तो तत्पर होते हैं, शेष उदाहरणों में चुप रहते है, यह कैसा विषंवाद ?

सातों ही प्रश्नों पर आचार्य भिक्षु का अभिमत था—साधु की दृष्टि में जीव-मात्र समान है। जहां कुछ की हिंसा है और कुछ की दया है, वहां साधु तटस्थ और मौन रहें।[1]

महात्मा गांधी से एक भाई ने पूछा—छोटे जीव-जन्तुओं को एक-दूसरे का आहार करते अनेक बार देखता हूं। मेरे यहां एक छिपकली है। उसे यही काम करते मैं रोज देखता हूं। बिल्ली को पक्षियों पर झपटते भी देखता हूं। क्या मुझे यह देखते रहना चाहिए ? उन हिंसक जीवों को रोकता हूं तो उनकी हिंसा हो जाती है। ऐसी स्थिति में आप बताएं क्या करना चाहिए ?

गांधीजी ने उत्तर में लिखा—क्या मैं ऐसी हिंसा नहीं देखूगा ? बहुत बार मैंने छिपकली को तिलचट्टों का शिकार करते तथा तिलचट्टों को दूसरे जीव-जन्तुओं का शिकार करते देखा है। किन्तु 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव दूसरे जीव का आधार है, यह तो प्राणी-जगत् का नियम है, उसमें हस्तक्षेप करना मुझे कभी कर्तव्य नहीं सूझा। ईश्वर की इस अगम्य उलझन को सुलझाने का मैं दावा नहीं करता।

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति ४ गाथा १ से १३

आगमों में अनुकंपा-प्रसंग

आचार्य भिक्षु एक शास्त्र-शोधक थे। दया और अनुकम्पा शब्द पर उन्होंने शास्त्रों की बहुत गहरी शोध की। शास्त्रों का एक भी अनुकम्पा शब्द उनकी टिप्पणी से अछूता रहा हो, ऐसा नही लगता। उन्होंने उपलब्ध अनुकम्पा के प्रसंगों को सावद्य और निरवद्य दो भागों मे बाटा। इस विषय मे सयम-असंयम, आज्ञा-अनाज्ञा निश्चल मानदण्ड सर्वदा उनके साथ रहे।

१. मेघकुमार ने हाथी के भव में शशक की अनुकम्पा की। अपना पैर ऊपर उठाए रखा। भयंकर कष्ट सहा। यह निकेवल हिंसा दोष से बचानेवाली आत्म-उन्नायक और आज्ञा-सम्मत दया थी। देहोपचायक दया यदि उसका लक्ष्य होती तो वह जगल के प्राणियों को सूंड से पकड़कर दावानल से बचाने का प्रयत्न करता। शशक को भी सूड से उठाकर अपनी पीठ पर क्यों नही रख लेता।[1]

२. अरिष्टनेमि ने सारथी के द्वारा बहुत सारे प्राणियों के विनाश की बात सुनकर सोचा—मेरे लिए बहुत सारे प्राणियों का विनाश हो, यह मेरे परभव के लिए श्रेयस्कर नही होगा। यह भी आत्म-उन्नायक (निवर्तक) दया का ही उदाहरण है। अवरुद्ध प्राणियों को उन्होने बन्धन-मुक्त करवाया हो, ऐसा उल्लेख नहीं है।[2]

३. धर्मरुचि अनगार ने शाक की एक बूद डालकर कीड़ियों को मरते देखा तो वे समग्र कड़वे तुम्बे का शाक स्वयं खा गये। यह नितान्त निरवद्य अनुकम्पा थी।[3]

४. भगवान् श्री महावीर ने छद्मस्थावस्था मे शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। यह उनकी सराग अनुकम्पा थी। साधु लब्धि का प्रयोग कर प्रायश्चित्त का भागी होता है; इसलिए यह छद्मस्थ भगवान महावीर की भूल भी थी। वीतराग-दशा मे भगवान् के सम्मुख उनके दो साधुओ को उसी गोशालक ने भस्म कर दिया। उस समय भगवान् ने उन दो मुनियों की रक्षा के लिए तथा-प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। अन्य लब्धिधारी मुनियों ने भी लब्धि का प्रयोग नही किया।[4] टीकाकर श्री अभयदेवसूरी ने भी कहा है—भगवान् ने गोशालक का संरक्षण सरागभाव से किया था। मुनि युगम का असरक्षण वीतराग-दशा का

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १ से ४

२. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ५-६

३. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ७

४. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ८ से १० तथा गीति १०

परिचायक है।[1]

५. अनुकम्पामात्र ही निरवद्य नहीं हुआ करती, यह समझाने के लिए जिन ऋषि का उदाहरण यथेष्ट है। कामविह्वलता का छद्म करनेवाली रयणादेवी के सामने राग वशंगत जिनऋषि ने अनुकम्पा पूर्ण दृष्टि से देखा। शेलक यक्ष ने अपनी पीठ से उसे नीचे डाल दिया और उस धूर्त देवी ने उसे खड्ग में पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[2]

६. सुलसा हरिणेगमेषी देवता की भक्ता थी। उसके पुत्राभाव को मिटाने के लिए देवकी के छः पुत्र क्रमशः अनुकम्पापूर्वक उसके यहां लाकर रख दिए, यह अनुकम्पा प्रत्यक्ष सावद्य थी।[3] यह तो स्पष्ट अपने राग-बन्धन का निर्वाह था।

७. हरिकेशी मुनि यज्ञ-मण्डप में आए। ब्राह्मणों ने उनका अपमान किया। सेवा-भावी यक्ष ने ब्राह्मणों को ऐसे प्रताड़ित किया कि उनके मुह से रक्त बहने लगा। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा सावद्य अनुकम्पा ही होती है।[4]

८. धारिणी रानी ने गर्भावस्था में गर्भ की अनुकम्पा के लिए मनोज्ञ पदार्थ खाए। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[5] गर्भ-पोषण का रागमूलक कार्य क्या अध्यात्म हो सकता है ?

९. अभयकुमार के मित्र देव ने अभयकुमार पर अनुकम्पा की और धारिणी रानी की दोहद पूर्ति के लिए देव-शक्ति से अकाल वर्षा की। यह सावद्य अनुकम्पा है।[6] इस अनुकम्पा में निकेवल लौकिक भाव था।

१०. श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि प्रभु को वन्दन करने के लिए जाते थे। एक पुरुष कुछ दूर से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर में रख रहा था। श्रीकृष्ण ने भी एक ईंट वहां से उठाकर उसके घर पहुंचा दी। यह अनुकम्पा सावद्य है।[7] यह लौकिक

---

१. इह च यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवतः सुनक्षत्रसर्वाणुभूतिमुनिपुंगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्धिनुपजीवकत्वात् अवश्यं भावित्वाद्वेत्यवसेयं।

—भगवतीसूत्र वृत्ति शतक १५

२. अनुकपा चौपई गीति १ गाथा ११

३. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १२

४. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १३

५. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १४

६. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १५

७. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १६

उपकार मात्र था। इससे उस वृद्ध के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की जरा भी वृद्धि नहीं हुई।

११. गजसुकुमाल मुनि ने अरिष्टनेमि प्रभु की आज्ञा लेकर श्मशान मे कायोत्सर्ग किया। सौमिल ब्राह्मण ने उनके शर पर अंगारे रख दिए। गजसुकुमाल ने दयाभाव से अपने शर को हिलाया तक नहीं। यह अनुकम्पा निरवद्य थी।[1] इसमें आत्म-सयम का अग्नि के जीवों के प्रति अहिंसाभाव था और सौमिल के प्रति क्षमा-भाव।

तत्त्वज्ञ लोगों ने सराग अनुकम्पा का कठिन परिस्थितियों मे भी आचरण नहीं किया। आगमों ऐसे उल्लेख भी अनेको मिलते हैं।

१२. अरणक श्रावक को बीभत्स रूपवाले देव ने कहा—यदि तुम धर्म नही छोड़ते हो तो मै नावा को ऊपर उठाकर ज्यों का त्यो उलट दूगा। तेरे साथ सब लोग मर जाएंगे। अन्य लोग करुण विलाप करने लगे, पर अरणक ज्यों का त्यों अडिग रहा। लोगों के जीने मरने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। देवता पराजित हुआ और उसकी धर्म दृढता की श्लाघा करता हुआ अपने स्थान गया।[2]

१३. नमि राजर्षि ने सांय-सांय जलती हुई मिथिला नगरी की ओर झाका तक नहीं। उनकी इस निर्मोह स्थिति को शास्त्रकारों ने प्रशस्त बतलाया है।[3]

१४. चुलनीपिता श्रावक अपने पौषध व्रत में अपनी माता को बचाने के लिए उठा। इससे उसका पोषधव्रत भंग हो गया। सूरादेव, चुलशतक, सकडाल आदि के सम्मुख भी ऐसे उपसर्ग हुए। जो-जो स्त्री, माता आदि को बचाने के लिए उठे, उनके पोषधव्रत-भग हुए। ये सब सराग अनुकम्पाए थीं।[4]

भगवान् श्री महावीर ने दीक्षा-ग्रहण से पूर्व एक वर्ष तक स्वर्ण-मुद्राओं का दान किया।[5] देवता अज्ञात भूमिगत धन लाकर उनके कोष मे रखते[6] और भग-

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा २१
२. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा १-१०
३. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा ११-१६
४. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा २८-३७
५. आचारांग सूत्र तथा कल्पसूत्र
६. चिरभ्रष्टानि नष्टानि, प्रक्षीणस्वामिकानि च।
प्रतिप्रनष्टसेतूनि, गिरिकुञ्जगतानि च॥
श्मशानस्थानगूढानि, गुप्तानि च गृहान्तरे।
रजतस्वर्णरत्नाविधनान्याहृत्य सर्वतः॥

वान् प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान करते। इस प्रकार समग्र वर्ष में उन्होंने तीनसौअठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान किया। प्रत्येक तीर्थंकर भी दीक्षा से पूर्व ऐसा करते हैं।

प्रश्न होता है यह दान किस हेतु से होता होगा? शास्त्र इस विषय में मौन हैं, अतः नाना हेतु सोचे जा सकते हैं। देव धन एकत्रित करते हैं। भगवान् के हाथों दिलाते हैं, इससे यह अर्थ तो स्पष्ट-स्पष्ट निकल ही आता है कि भगवान् के महिमा-ख्यापन का ही यह एक उपक्रम है। परम्परागत होने के कारण भगवान् उसे करते हैं। आज भी दीक्षार्थी के हाथों से सोने-चांदी की अंगूठियां बंटाई जाती हैं। वे स्मृति की सूचक हैं। मिले भोगों को छोड़ना ही वास्तविक त्याग है।[1] दान व्यक्ति की सम्पन्नता को व्यक्त करता है। लोग समझ लेते हैं, भगवान् का संन्यास अभाव का नाम त्याग[2] ऐसा नही है। सबसे महान् अर्थ वर्षीदान का यह निकलता है—सम्पन्नता से मोक्ष नहीं मिलता। दान-समर्थ लोगों का भी आत्म-कल्याण तो सर्वस्व-त्याग अर्थात् संयम-ग्रहण करने मे ही है।

इस दान को धर्म-पुण्य से जोड़ने में तो सहज ही प्रश्न उठ सकता है, वह धर्म-पुण्य मिलेगा किसे? वह धन तो देवार्जित था। देवों ने भी इधर-उधर से उठाया था। उनके मूल मालिक तो और ही लोग रहे होंगे। आचार्य भिक्षु ने कहा—इस प्रकार धन देने में ही धर्म-पुण्य होता तो देवता भगवान् श्री महावीर की प्रथम वाणी को निष्फल क्यों जाने देते? अर्थ-दान तो उनके लिए कोई बड़ी बात ही नहीं है।[3] आदिनाथ प्रभु ने जब वर्षीदान दिया, दीन, अनाथ याचक रहे ही कौन

वासवादिष्टधनदप्रेरिता जृम्भकाः सुराः।
ददतोऽपूरयन् भर्त्तुः, पयांसीव पयोमुचः॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २० से २२

१. जेय कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥
—दसवैकालिक सूत्र अ० २ गाथा ३

२. वत्थ गन्ध मलंकारं इत्थिओ सयणाणिय।
अच्छंदा जे न भुजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
—दसवैकालिक सूत्र अ० २ गाथा २

३. जिण धर्म हुवे सोनइया दीयां, तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा, वीर वाणी निरफल न गमात जी॥
रतन हीरा नें माणक पनां, मन मानें ज्यूं देवता देत जी।

होंगे ? लोग उनकी दीक्षा-वार्ता से स्वयं वैराग्यशील हो रहे थे। उन्होंने भगवान् का सम्मान रखने के लिए केवल प्रसाद-बुद्धि से ही दान लिया।[1] न यह पात्र दान था, न करुणादान। धर्म-पुण्य का लेखा-जोखा उसके साथ बैठ ही कैसे सकता है ?

आचार्य भिक्षु और अनुकम्पा चौपई

आचार्य श्री भिक्षु के विस्तृत व्यक्तित्व को थोड़े-से शब्दों मे रखना सागर को गागर में भरने का प्रयत्न मात्र है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की एक झाकी तेरापंथ धर्मसंघ है। एक छोटा-सा पौधा जो उन्होंने अपने हाथों से रोपा, वही आज शतशाखी वट-वृक्ष होकर उनकी स्मृति का एक धर्म-स्तूप बन गया है। तेरापन्थ की प्रत्येक विशेषता में उनके बिखरे बीज ही फूटे है। आचार्य भिक्षु एक सिद्धहस्त कृषिक थे। उनके हाथ से गिरा कोई बीज व्यर्थ नहीं गया। छब साधुओं का उनका समुदाय आज दो सौ वर्षों के पश्चात् छब सौ से भी अधिक श्रमणों का समुदाय बन गया है। तेरह श्रावकों की सक्षिप्त सख्या विस्तृत होकर आज लाखो में चली गई है। तेरापन्थ अपने नवम अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व मे अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आज सर्वजनोपयोगी हो रहा है। यह सब उन्ही दीर्घदर्शी और कुशल व्यवस्थापक आचार्य श्री भिक्षु की देन है।

आचार्य श्री भिक्षु आचार से, विचार से अहिंसक थे। उन्होंने शास्त्र-विलोडन किया, अहिंसा का नवनीत पाने के लिए। वे बोले, अहिसा का तत्त्व समझाने के लिए। उन्होने लिखा, रचा, अहिंसा को अमर बनाने के लिए। उनके अहिसा तत्त्व की एक झांकी उनके जीवन-प्रसगों (भिक्खु दृष्टान्त) मे मिलती है। विविध मतों के लोग आते और उनसे अहिसा विषयक प्रश्न पूछते। उत्तर देने की उनकी शैली तात्त्विक होते हुए भी व्यवहारिक होती। उनके तर्क अत्यन्त तीक्ष्ण होते। जिज्ञासु को सन्तोष होता। दुराग्रही की चुप्पी होती। प्रश्न आया—किसी ने चार पैसे देकर सपेरे के पास से सर्प को छुडाया। छूटते ही सर्प चूहे के बिल में गया, पर वहां पर चूहा नहीं था। छुड़ानेवाले को धर्म हुआ या पाप ? आचार्य भिक्षु ने प्रश्न का समाधान एक प्रतिउदाहरण से किया। उन्होने कहा—किसी ने कौवे पर गोली चलाई। कौवा उड गया। गोली चलाने वाले को पुण्य हुआ या पाप ? तात्पर्य

वीर री वाणी सफल करे, देवता पिण लाहो लेत जी।।

—अनुकम्पा चौपई गीत १२ गाथा १-२

१. जातसंसारवैराग्या, दीक्षया स्वामिनो जनाः।

शेषामात्रमदोऽगृह्णन्निच्छादानेऽपि नाऽधिकम्।।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २५

चूहा या कौवा नहीं मरा यह तो उनके आयुष्य बल की बात थी। सर्प को छुड़ाने-वाला और गोली चलानेवाला तो अपनी ओर से हिंसा कर ही चुका।[1]

कुछ लोग कहने लगे—आचार्य भिक्षु की मान्यता है, बकरे को बचाने में, बचने के पश्चात् वह (बकरा) पानी, वनस्पति आदि की जीवन पर्यन्त जो-जो हिंसा करता है, उन सब हिंसाओं का पाप उस बचानेवाले को क्रमशः लगता रहता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—मेरी तो मान्यता है कि असयति के पोषण में असंयत जीवन का जो अनुमोदन उस समय हुआ, उसका पाप तो उसी समय लग चुका। जीवन-भर जैसे-जैसे वह पाप करता रहेगा, वैसे-वैसे बचानेवाले को पाप लगता रहेगा, यह मेरी मान्यता नही है। हां, यह मान्यता अपवाद उठानेवाले उन लोगों की अवश्य हो सकती है। क्योंकि वे तपस्या का धारणा कराने में आगे की जाने-वाली तपस्या का फल भी धारणा करानेवाले को मानते हैं। धर्म यदि पीछे मुड़कर आता है तो उनकी मान्यता के अनुसार पाप भी पीछे मुड़कर आना चाहिए। तपस्या का फल यदि धारणा करानेवाले को मिलेगा तो धारणा करनेवाला तपस्या न करके यदि किसी की हत्या कर डाले तो उनकी मान्यता के अनुसार उस हत्या का फल भी उसे क्यों नहीं मिलेगा ?[2]

'भिक्खु दृष्टान्त' आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंगों का एक अनूठा संग्रह है। आचार्य भिक्षु के दिवंगत होने के बहुत वर्षों पश्चात् मुनिप्रवर श्री हेमराजजी ने अपने स्मृति-बल से इसका संकलन कराया। तेरापन्थ के भावी अधिनायक श्रीमद् जयाचार्य ने उनसे सुनकर ये जीवन प्रसग लिखे।[3] दोनों मुनि पुगव इस कार्य के लिए अवश्य ही बधाई के पात्र है। यह सकलन कर उन्होंने उनके अहिंसा तत्त्व को ही नही, प्रत्युत उनके गौरवमय जीवनव्रत को ही साकार कर दिया है।

आचार्य भिक्षु स्वयं सिद्ध कवि थे। उन्होंने कविता करना कब सीखा, इसका कोई इतिहास नही बना। पर उनका सुविस्तृत कविता-साहित्य उनके सिद्धहस्त कवि होने का ज्वलन्त प्रमाण है। उनका राजस्थानी पद्य-साहित्य अड़तीस हजार श्लोक परिमाण माना जाता है। 'व्रताव्रत की चौपई', 'आचार की चौपई' 'जिनाज्ञा की चउपई', 'श्रावकना बारह व्रत' आदि अनेकों ग्रंथ अहिंसा सम्बद्ध हैं।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त २७२

२. भिक्खु दृष्टान्त १३५

३. हेम लिखाया हर्ष स्यू लिख्या जीत धर खंत।
सरस रसे करी शोभता भिक्खु ना दृष्टान्त।।

—भिक्खु दृष्टान्त—प्रशस्ति

'अनुकम्पा चौपई' अपने विषय का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें विभिन्न रागों में सन्दर्भित बारह गीतिकाएं हैं। प्रत्येक गीतिका पर भूमिका रूप में कुछ दोहे हैं। समग्र ग्रंथ छः सौ बारह गाथामय है। भाषा राजस्थानी है। कविता सहज और प्रांजल है। पाठक को लगता है, कवि अपने विषय का बिना कोई आयास उठाए गद्य में ही विवेचन किए जा रहा है। विवेचन के आधार सर्वत्र आगम, तर्क और दृष्टान्त हैं।

गीतिकाओं के विषय-क्रम का स्थूल ब्यौरा निम्न प्रकार से है—

१. प्रथम गीतिका में—अनुकम्पा के दो भेद—सावद्य और निरवद्य। आगमोक्त अनुकम्पा प्रसग। आज्ञा और अनाज्ञा की कसौटी पर।

२. द्वितीय गीतिका में—साधु और श्रावक का अनुकम्पा धर्म एक। एक का संरक्षण, एक के चपेटी।

३. तीसरी गीतिका मे—जीवन और मरण की कामना धर्म नही। अनुकम्पा में राग। मोह अनुकम्पा सहित और मोह अनुकम्पा रहित घटना प्रसंग।

४. चौथी गीतिका में—हिंसा का करना, करवाना और अनुमोदन करना पाप है, पर देखना पाप नहीं। जीव रक्षा पर सात दृष्टान्त।

५. पांचवी गीतिका में—जीव-रक्षा पर तीन दृष्टान्त। त्याग धर्म है, पर त्याग का भौतिक परिणाम धर्म नहीं।

६. छठी गीतिका में—दया की परिभाषा। कथनी और करनी में भेद।

७. सातवी गीतिका में—जगत् जीवों का मात्स्य न्याय। मिश्र-धर्म पर सात दृष्टान्त। एक को मारकर अनेक की रक्षा। बल-प्रयोग मे धर्म नहीं। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा। जीव-रक्षा पर दो वेश्याओं का उदाहरण।

८. आठवीं गीतिका मे—दया के दो स्वरूप—लौकिक और लोकोत्तर। दया को पहचानने में भूल। एक समान दया-प्रसगों में एक को हेय कहना, एक को उपादेय कहना। मिश्र-धर्म पर विवेचन।

९. नवमीं गीतिका में—दया भगवती का रूप। हिंसा धर्म की हेयता। पंचेन्द्रिय जीवों के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा। स्थावर जीवों का समारम्भ। हिंसा-धर्म के प्ररूपण में महाव्रत भग। अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। धर्मार्थ हिंसा। जीवमात्र की समानता। हिंसा और दया की करणी एक नहीं। दया में हिंसा का मेल नहीं। हिंसा में धर्म तो जल-मंथन में घृत।

१०. दसवी गीतिका में—गोशालक पर की गई अनुकम्पा का सविस्तार विवेचन।

११. इग्यारहवीं गीतिका में—उपकार के दो रूप। लोकोत्तर उपकार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा अन्य विविध प्रकार। लौकिक उपकार—माता-पिता

की सेवा तथा अन्य विविध प्रकार। जन्म-जन्मान्तर में उपकार-परम्परा।

१२. बारहवीं गीतिका में—भगवान् श्री महावीर के वर्षीदान पर सविस्तार विवेचन। लड्डुओं के लिए पौषध और तप। देवों द्वारा जीव दया की सम्भावना। सावद्य-दान की पहिचान।

प्रत्येक गीतिका में नाना अवान्तर विषय हैं, उन्हें क्रमबद्ध कर लेना अत्यन्त विस्तार सापेक्ष है।

'अनुकम्पा चौपई' आचार्य श्री भिक्षु द्वारा कब रची गई, यह एक प्रश्न है। समग्र द्वादश गीतिकाओं में अन्तिम चार गीतिकाओं के अन्त में उनका रचना-काल, विषय और स्थान का ब्योरा दिया है।

नवम गीतिका सं० १८४४ फाल्गुन शुक्ला नवमी।

दसम गीतिका सं० १८५३ आषाढ़ कृष्णा एकादशी।

ग्यारहवी गीतिका सं० १८५४ आश्विन शुक्ला द्वितीया।

बारहवीं गीतिका सं० १८५७ कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी।

उक्त चारों गीतिकाओं के रचना-काल में कम-से-कम एक और अधिकतम नौ वर्षों का अन्तर है। इससे यह लगता है, समग्र अनुकम्पा चौपई निश्चित रूप-रेखा के आधार पर किसी एक ही अवधि में नहीं रची गई है। अनुकम्पा गीतिकाओं के सम्बन्ध में अन्य जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे उनका उक्त चार गीतिकाओं के बहुत ही पूर्व रचा जाना प्रमाणित होता है। लगता है—स्थानकवासी समाज से पृथक् होते ही आचार्य भिक्षु ने रचनाए नहीं कीं। लोगों की साम्प्रदायिक व्यामूढ़ता के कारण जब आचार्य भिक्षु को अपना तत्त्व समझा सकने में निराशा हुई तो एक बार के लिए उन्होंने जन-कल्याण की चिन्ता छोड़कर, स्व-कल्याण के लिए उत्कट तपस्या करते हुए निकेवल आत्म-साधना में लगे। कुछ समय पश्चात् अपने सहवर्ती साधुओं द्वारा प्रेरित होकर पुनः वे लोक-प्रबोधन के कार्य में जुटे। तब उन्होंने नाना रचनाएं कीं। जिनमें अनुकम्पा गीतिकाएं भी प्रमुख थीं। इसका आधार हमें आचार्य भिक्षु के संस्मरणों में[1] मिलता है। पर उन संस्मरणों से भी सुनिश्चित

---

१. भीखणजी स्वामी हेमजी स्वामी ने कह्यो। म्हें उणाने छोड्या जद पांच वर्ष तांइ तो पूरो आहार न मिल्यो। घी चोपर तो कठै। कपड़ो कदाचित् वासती मिलती तो सवा रूपीया री। तो भारमलजी स्वामी कहिता पछेवड़ो आपरै करो। जद स्वामीजी कहिता एक चोलपटो थारै करो एक म्हारै करो। आहार पाणी जाचनें उजाड़ में सब साध परहा जावता। रूंखरा री छायां तो आहार पाणी मेलनें आतापना लेता, आथण रा पाछा गाम में आवता।

रचना-काल नहीं पकड़ा जाता। भिक्षुजशरसायन में रचना-उल्लेख के साथ मेवाड़ की ओर जाने का भी उल्लेख है।[1] पूर्वोक्त जीवन संस्मरणों से आचार्य भिक्षु के पृथक् होने से पांच वर्षों के अन्दर ही अनुकम्पा चौपई के रचे जाने का आभास मिलता है और भिक्षुजशरसायन से लगभग तीन वर्ष के अन्दर ही। आचार्य भिक्षु का प्रथम चतुर्मास केलवा मेवाड़ मे होता है। दूसरा और तीसरा चतुर्मास क्रमशः बरलू और सिरियारी (मारवाड) में होता है। चौथे और पाचवे चतुर्मास के लिए वे पुनः मेवाड़ में जाते है।[2] इससे लगता है अपने नव प्रवज्या के तीसरे वर्ष में ही उन्होंने अनुकम्पा सम्बन्धी गीतिकाओं की रचना प्रारम्भ की है। निश्चित रूप से यह कहना कठिन ही है कि आठों गीतिकाओं की रचना क्रमशः एकाध वर्ष मे ही सम्पन्न हो गई या स्पष्ट रूप से एक-एक गीतिका यथा प्रसग बनती गई। आठो गीतिकाओं में यत्र तत्र भावों की पुनरावृत्ति भी है। इससे यह भी माना जा सकता है कि प्रत्येक गीतिका अपने आप में स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कुल मिला-कर अनुकम्पा चौपई बन गई है। प्राचीन ग्रन्थों में आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा पर रचनाएं (अनुकम्पा री जोडां) कीं, ऐसे उल्लेख ही बहुधा मिलते है। चौपई शब्द पीछे से जोड़ा गया है, ऐसा सम्भव लगता है। आचार्य भिक्षु का नव प्रवज्या काल वि० सवत् १८१७ आषाढ पूर्णिमा का है। उपर्युक्त उदाहरणों से अनुकम्पा चौपई की रचना का आरम्भ काल वि० सवत् १८२० सम्भावित होता है और पूर्ति काल बारहवी गीतिका के अन्त मे वि० संवत् १८५७ दिया गया ही है।

इण रीते कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्हें या न जाणता म्हांरो मारग जमसी, नें म्हां में यूं दीक्षा लेसी ने यूं श्रावक श्राविका हुसी। जाण्यो आत्मा रा कारज सारसां मर पूरा देसां इम जाणनें तपस्या करता। पछै कोई-कोई रे सरधा बेसवा लागी। समझवा लागा। जद थिरपालजी फतैचन्दजी आदि मांहिला साधां कह्यो लोग तो समझता दीसै है। थें तपस्या क्यूं करो। तपस्या करण में तो म्हें छांईज। थें तो बुद्धिवान छो सो धर्म रो उद्योत करो। लोकां नें सम-झावो। जद पछै विशेष खप करवा लागा। आचार अनुकम्पा री जोड़ां करी व्रत अव्रत री जोड़ां करी। घणा जीवा नें समझाया। पछै बखाण जोड्या।

—भिक्खु दृष्टान्त संख्या २७६

१. प्रगट मेवाड़ में पूज पधारीया युक्ति आचारनी जोड़।
अनुकम्पा दया दान रे ऊपरे जोड़ां करी घर कोड़॥

—भिक्षुजशरसायन गीति १० गाथा १०

२. आचार्य चरित्रावली सम्पादकीय से

अनुकम्पा चौपई और अहिंसा पर्यविक्षण

अनुकम्पा चौपई का विवेचन अहिंसा विषयक प्रचलित धारणाओं से सम्बन्धित और खण्डन-मण्डनात्मक है, तो भी उससे साध्य-साधन, बल-प्रयोग और हृदय-परिवर्तन आदि अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्त सहज ही पकड़े जा सकते हैं। प्रस्तुत 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' आचार्य भिक्षु के अहिंसा-चिन्तन का एक अध्ययन है। अनुकम्पा चौपई का समग्र अध्ययन वह सहज रूप से हो ही जाता है। अनुकम्पा चौपई जीवन के व्यवहारिक प्रसंगों से अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तों पर पहुंचाती है और 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तों से जीवन-व्यवहार के अहिंसा विवेक पर लाता है। इस शैली-भेद से दोनों कृतियों की सापेक्ष उपयोगिता बनी रहती है। 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' पर जाने वाले के लिए अनुकम्पा चौपई का स्वतन्त्र अध्ययन अवशेष रहेगा और अनुकम्पा चौपई का अध्ययन कर चुकनेवालों के लिए 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' का।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अनुकम्पा चौपई पर एक अध्ययन होने के साथ-साथ भारतीय अहिंसा-चिन्तन के प्रवृत्ति और निवृत्ति अंगों का एक समग्र अध्ययन भी बन गया है। प्रागार्य काल से आचार्य श्री भिक्षु और महात्मा गांधी के युग तक की अहिंसा-मान्यताओं का एक शोधमूलक सिंहावलोकन है।

'अहिंसा-पर्यविक्षण' क्यों और कब ?

आचार्यप्रवर के कलकत्ता प्रवास की बात है। काशीपुर में आचार्यप्रवर के सान्निध्य में तेरापन्थ द्विशताब्दी साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन हो रहा था। कुछ एक साधु और कुछ एक साहित्य-सेवी श्रावक उसमें भाग ले रहे थे। चर्चा-प्रसंग में आचार्यप्रवर ने कहा—अनुकम्पा चौपई को आधुनिक भाव-भाषा में और शोधपूर्ण आधारों के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख रखा जा सके, यह अत्यन्त अपेक्षित है। यही चर्चा-प्रसंग मेरी ओर आ ढला और मुझे इस कार्य के लिए सम्मुद्यत होना पड़ा। 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् महावीर और बुद्ध विषय पर एक तुलनात्मक और शोधपूर्ण अध्ययन में मैं अपने आपको लगा चुका था। एकाएक उस विषय से मुड़कर इस ओर लगना अधिक सहज तो नहीं लगा, पर उसके पीछे रहा। आचार्य प्रवर का इंगित उसे बहुत भारवान् बना चुका था। तेरापन्थ की द्विशताब्दी के सम्बन्ध से मैं कुछ लिख सकूं, यह अन्तरभूंत प्रेरणा भी समय पाकर प्रखर हो उठी और मैं शेष साहित्य-कार्य स्थगित कर इस ओर दत्तचित्त हुआ।

कलकत्ता चतुर्मास में इस सम्बन्ध से विशेष कार्य न हो सका। आचार्यप्रवर

के सान्निध्य में चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवादमात्र वहां हो सका। चतुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार-प्रसग था। शीत ऋतु के छोटे-छोटे दिन और प्रतिदिन दोनों समय के बड़े-बड़े विहार; साहित्य-सर्जन के लिए बचा-खुचा समय पैरों की मरहम पट्टी मे लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के साकेतिक घटना प्रसग इस अवधि में लिख लिये गए।

सरदारशहर से आचार्यप्रवर के आदेश को पाकर वि०सवत्२०१७ के चातुर्मास-प्रवास के लिए दिल्ली आए। यहां लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वांछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ शुक्ल पक्ष मे'अहिंसा-पर्यवेक्षण'का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित जैसा ही रहा। चिन्तन, मनन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति मे स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेखन-कार्य बीच मे रोक देना पडे, ऐसी स्थितिया आई, पर जैसे-तैसे उठाए कार्य की मंगल ममता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा होने दिया। इस प्रवृत्ति में मुझे जितना श्रम उठाना पड़ा, उससे अधिक मै लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थों की स्वाध्याय हुई और ज्ञान बढा।

अनुवाद कार्य

दूसरे के भावो को भाषा-भेद से अपने शब्दों मे बान्धना अनुवाद है। यह अनुष्ठान दूर से जितना सरल लगता है, प्रयोग में उतना ही कठिन होता है। पद्यात्मक ग्रन्थों का गद्यानुवाद तो अनुवादक को श्रेयोभाग् होने का बहुत ही थोडा अवसर देता है। एक भाषा के लालित्य को दूसरी भाषा मे फिर भी लाया जा सकता है, पर पद्य के लालित्य को गद्य में ला देने का प्रयत्न तो नमक का आस्वाद अलोनी वस्तु में लाने जैसा ही है। अनुकम्पा चौपई के अनुवाद की उपयोगिता तो केवल यही तक मानकर चलना चाहिए कि राजस्थानी भाषा में गति न रखनेवाले विद्वान् आचार्य भिक्षु के भावो को ज्यों का त्यो नही, परन्तु अधिकतम निकटता से समझ सकें। अनुवाद व्याख्या-प्रधान नही है, पर वह यथेष्ट रूप में शब्दानुसारी तथा भावानुसारी रह सके, यह मेरा अभिप्रेत रहा है। कही-कही पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी भाववाची शब्द प्रयोग में लिए गए है तो कही-कहीं पर्यायवाची शब्दों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसे अनुवादों में किसी एक ही नियम पर रूढ़ होकर चलना सगत नही लगा। मूल ध्येय पर स्थिर रहकर जहां जैसा प्रशस्त लगा, वहां वैसा ही किया। तेरापन्थ में राजस्थानी साहित्य को हिन्दी में अनूदित करने का यह प्रथम अध्याय है। विरासत में अनुवादकों को कोई व्यवस्थित

शैली नहीं मिल रही है। उन्हें स्वयं ही अपना मार्ग बनाना है। बहुत शालीनता उसमें न भी आ पाए तो भी भावी विकास की भूमिका रूप तो वह होगा ही।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और सानुवाद अनुकम्पा चौपई का युगपत् नाम अहिंसा-विवेक है। इसके प्रणयन में मेरा कार्य केवल विचारों को बोल देने भर का रहा है। पाण्डुलिपि से लेकर समग्र सम्पादन कार्य तक का कार्य मेरे सहयोगी मुनियों का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने सम्बन्धित अंग्रेजी ग्रन्थों के जुटाने एवं उनके अवलोकन में हाथ बटाया। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थों की स्वाध्याय और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य में लगभग मेरे जितना ही समय लगाया है। मेरी सुविधा के लिए उन्हें अपनी सुविधाएं न्योछावर कर देनी पड़ी हैं। मुनि हर्षचन्द्रजी का भी लेखन-कार्य में उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का है। उन्होंने मेरी अब तक की और भी दशों पुस्तकों का निष्काम और निर्नाम सम्पादन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुकम्पा चौपई का पारिभाषिक शब्दकोष उन्होंने अपनी स्वतन्त्र शैली से तैयार किया है। हरएक शब्द का हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा-गत रूप उससे जाना जा सकता है। शब्दों की सूत्रबद्ध परिभाषा उन्हें बहुत खोज पड़ताल से उपलब्ध हुई है। एक-एक शब्द के लिए अनेकों ग्रन्थ टटोलने पड़े हैं। जो शब्द कहीं भी नहीं मिले उनकी सौत्रिक परिभाषा उन्होंने स्वयं तैयार की है।

दूसरा कोष उन्होंने राजस्थानी शब्दों का बनाया है। उसमें उन्होंने वे ही शब्द लिए है, जो अधिकांशतः आज की राजस्थानी में प्रचलित नहीं हैं। राजस्थानी भाषा के भी मेवाड़ी, मारवाड़ी, ढंढाड़ी, बीकानेरी आदि नाना भेद हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु की मातृ-भाषा मारवाड़ी थी। मेवाड़ आदि प्रदेशों में उनका अधिक रहना हुआ; अतः वह भी आंशिक रूप से उनकी भाषा बन ही गई। कुछ भी हो दो सौ वर्षों के पश्चात् भाषा-व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। आज राजस्थानी व्यक्ति उनकी भाषा को शब्दशः समझ लें, यह कठिन है। भविष्य में यह और भी कठिन होता जाएगा, यह लगता ही है; अतः आवश्यकता तो यह है समग्र भिक्षु-साहित्य पर एक स्वतन्त्र कोष का निर्माण हो ताकि वह सुदूर भविष्य तक मूल भाषा में पढ़ा जा सके।

अनुकम्पा चौपई में भी ऐसे शब्दों की बहुलता है जो वर्तमान राजस्थानी भाषा से बहुत दूर रह गए हैं। 'जबून', 'आन्तरियो', 'उदके', 'डराणै', 'रीजक रोटी', 'ममाई' आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। प्रस्तुत शब्द-कोष में मुनि महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' ने ऐसे शब्दों का यथार्थ पर्यायवाची शब्द देने का पर्याप्त यत्न

किया है। वयोवृद्ध मुनिजनों की परम्परागत धारणाओं से भी उन्होंने अपने कोष को समृद्ध बनाया है।

सम्पादन कार्य के साथ-साथ उन्होंने 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और अनुवाद को अनेकशः समालोचनात्मक बुद्धि से पढ़ा है, मुझे समुचित सुझाव दिए हैं। संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि के उद्धरणों को यथास्थान योजित किया है और शुद्धाशुद्धि के दुरूह कार्य में अपने आपको खपाया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पन्नता में उनका श्रम मेरे श्रम की अपेक्षा कहीं अधिक ही भारवान् है।

मैं उन विद्वानों का विशेष आभारी हूं, जिनके शोधपूर्ण ग्रन्थ मेरे लेखन-कार्य में योगभूत हुए है।

वि० सं० २०१७ कार्तिक पूर्णिमा
दिल्ली, —मुनि नगराज

अहिंसा पर्यवेक्षण में प्रयुक्त ग्रन्थ

१. अंगुत्तरनिकाय
२. अध्यात्मविचारणा
३. अनुकम्पा चौपई
४. अमितगति श्रावकाचार
५. अशोक के धर्म-लेख
६. अहिंसा
७. अहिंसा के आचार और विचार का विकास
८. आचारांग सूत्र
९. आचार्य चरितावलि
१०. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
११. आवश्यक निर्युक्ति
१२. आवश्यकसूत्र
१३. ईश्वर गीता
१४. उत्तराध्ययनसूत्र
१५. उपासकदसांगसूत्र
१६. ऋग्वेद
१७. ऋषभचरित्र
१८. कर्मयोग शास्त्र
१९. कल्पसूत्र
२०. गांधी और गांधीवाद
२१. गांधी वाणी
२२. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—प्रथम भाग
२३. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—द्वितीय भाग
२४. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—चतुर्थ भाग
२५. गीता
२६. गीता-रहस्य
२७. गीता रामानुजभाष्य
२८. गीता शांकरभाष्य
२९. छान्दोग्य उपनिषद्

३०. जम्बूदीवपण्णत्तिसूत्र
३१. जिन आज्ञारी चौपई
३२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
३३. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
३४. ठाणांगसूत्र
३५. तत्त्वार्थसूत्र
३६. त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्
३७. दसवैकालिकसूत्र
३८. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
३९. धर्म अधिकरण
४०. धर्मरत्न प्रकरण
४१. नवजीवन
४२. निशीथसूत्र
४३. निशीथसूत्रचूर्णिका
४४. निशीथसूत्रभाष्य
४५. पंचाशक
४६. पातंजलयोग सूत्र
४७. पातंजलयोगसूत्र भाष्य
४८. पार्श्वचरित्र
४९. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
५०. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
५१. प्रमाणवार्तिक
५२. प्रश्नव्याकरण सूत्र
५३. प्रश्नोत्तरतत्त्वबोध
५४. बारहव्रत री चौपई
५५. बृहत्कल्पभाष्य
५६. बृहदारण्यक उपनिषद्
५७. बोधिचर्यावतार
५८. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
५९. बौद्धधर्म
६०. बौद्धधर्म-दर्शन
६१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
६२. भगवती सूत्र
६३. भगवती सूत्रवृत्ति

६४. भगवान् बुद्ध
६५. भारतीय वाङ्मय
६६. भारतीय संस्कृति और अहिंसा
६७. भिक्खु दृष्टान्त
६८. भिक्षुजसरसायन
६९. मंगल प्रभात
७०. मनुस्मृति
७१. महाभारत
७२. युद्ध और अहिंसा
७३. लोंकेजी की हुण्डी
७४. विनोबा के विचार
७५. विसुद्धिमग्ग
७६. व्यापक धर्म-भावना
७७. व्रत अव्रत री चोपई
७८. शान्तसुधारसभावना
७९. श्री जैनसिद्धान्तदीपिका
८०. सयुत्तनिकाय
८१. सत्य की खोज मे
८२. सद्धर्ममण्डन
८३. सर्वोदय
८४. सर्वोदय दैनिक जीवन में
८५. सुत्तनिपात
८६. सूत्रकृतांगसूत्र
८७. स्वतन्त्रता की ओर
८८. हरिजन
८९. हरिजन बन्धु
९०. हाजरी
९१. हिन्द स्वराज्य
९२. हिन्दुस्तान
93. A Review of Indian Archaeology (1953-54)
94. Ahinsa in Indian Culture
95. Ancient India (An Advanced History of India–Part 1)
96. Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature
97. Cambridge History of India

98. Elements of Jainism
99. History of Indian Literature
100. History of Philosophy, Eastern and Western
101. Indian Culture
102. Indian Thought and its Development
103. Indo-Aryan Races
104. Mohenjo-daro and the Indus Civilization (1931) vol. 1
105. Prehistoric India
106. Religion and Philosophy of the Veda (vol. I)
107. Studies in Philosophy (vol. 1.)
108. Studies in the Origins of Buddhism
109. The Cultural Heritage of India (vol. II)
110. The Indus Civilisation (by Mackay)
111. The Indus Civilisation (by Wheeler)
112. The Psychological Foundations of the State
113. The Religion of Ahinsa
114. The Vedic Age
115. Vedic Mythology
116. Voice of Ahinsa.

अनुकम्पा चौपई

दुहा

अनुकम्पा ने आदरे, कीज्यो घणा जतन।
जिनवर ना धर्म मांहिली, समकित पाप रतन ॥१॥

गाय भेंस आक थोर नों, ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणज्यो, राखे मन में शुद्ध ॥२॥

आक दूध पीधां थकां, जुदा हुवै जीव-काय।
ज्यूं सावद्य अनुकम्पा कियां, पाप कर्म बंधाय ॥३॥

भोलेई मत भूलज्यो, अनुकम्पा रे नाम।
कीज्यो अंतरंग पारिखा, ज्यूं सीझे आतम काम ॥४॥

अनुकम्पा में आगन्यां, तीर्थंकर नी होय।
सावद्य निर्वद्य ओलखो, सूतर साहमों जोय ॥५॥

ढाल : १

[राग—समकित वमियो]

मेघकुंवर हाथी रा भव में, श्री जिन-भाषी दया दिल आई।
ऊंचो पग राख्यो सुसलो न मार्यो, या करणी श्री वीर सराई॥
या अनुकम्पा जिन-आज्ञा में ॥१॥

कष्ट सह्यो तिण पाप सू डरते, मन दिढ़ सेंठी राखी तिण काया।
बलता जीव दावानल जाणी, सूंड सू गिर-गिर बारे न लाया ॥२॥

परत संसार कियो तिण ठामें, उपनो श्रेणिक नें घर आई।
भगवंत आगे दीक्षा लीधी, पहिला अध्येन ज्ञाता मांहि ॥३॥

मांडलो एक जोजन रो कीधो, घणा जीव बच्या तिहां आई।
तिण बचियां रो धर्म न चाल्यो, समकित आयां बिन समझ न काई ॥४॥

दोहा

अनुकम्पा को हृदयंगम कर जैन धर्म में रत्न-स्वरूप माने जाने वाले संप्राप्त सम्यक्त्व का संरक्षण करना चाहिए ॥१॥

जिस प्रकार गाय, भैंस, आक और थोहर के दूध, दूध नाम से ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार अनुकम्पा को भी मन की जागरूकता से जानना चाहिए ॥२॥

जैसे आक का दूध पीने से मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा करने से अशुभ कर्म का बन्धन होता है ॥३॥

केवल अनुकम्पा शब्द पर ही मत भूलना। उसके अन्तरंग स्वरूप की परीक्षा करना, जिससे आत्म-कार्य सिद्ध हो ॥४॥

निरवद्य अनुकम्पा में तीर्थंकरों की आज्ञा होती है, इस दृष्टि से आगमों का अवलोकन कर सावद्य और निरवद्य अनुकम्पा को पहचानना चाहिए ॥५॥

गीति

जिन-भाषित दया मन में लाकर मेघकुमार ने हाथी के भव में अपना पैर उठाए रखा, शशक को नहीं मारा, इसका वर्णन भगवान् श्री महावीर ने स्वयं किया है। यह अनुकम्पा आज्ञा-सम्मत है ॥१॥

पाप-भय के कारण उसने कष्ट सहा। मन को दृढ़ व शरीर को स्थिर करके रखा, पर दावानल में जलते जीवों को सूड से पकड़-पकड़कर वह बाहर नहीं लाया ॥२॥

उस समय उसने 'परित्तसंसार' (परिमित संसार) किया। श्रेणिक राजा के घर जन्म लिया और भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन में इसका वर्णन है ॥३॥

उसने एक योजन का परिमण्डल तैयार किया। उसमें आकर बहुत सारे जीव बचे, पर उनके बचने को धर्म नहीं कहा। सम्यक्त्व आए बिना यह समझ में नहीं आ सकता। इस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥४॥

नेमकुंवर परणीजण चाल्या, पशु-पंखी देख दया दिल आणी।
इसड़ो काम सिरे नहीं मुजनें, म्हारे काज हणे बहु प्राणी ॥५॥

परणीजण सू परिणामज फिरिया, राजमती नें ऊभी छिटकाई।
कर्म तणा बंध सू नेम डरिया, तोड़ी आठ भवां री सगाई ॥६॥

आप सू मरता जीव जाणी नें,कड़वा तूबा रो कीधो आहारो।
कीड़्यां री अनुकम्पा आणी, धिन-धन धर्मरुची अणगारो ॥७॥

फोड़वी लब्धि अनुकम्पा आणी, गोसाला नें वीर बचायो।
छ लेश्या छद्मस्थज हुंता, मोहकर्म वश राग ज आयो।
आ अनुकम्पा सावद्य जाणो ॥८॥

असंजती गोसालो कुपातर, तिणने सहाज शरीर रो दीधो।
धर्म जाणे तो जगत दुःखी थो, बले वीर ए काम कांय न कीधो ॥९॥

तेजु लेश्या मेली गोसाले, बाल्या दोय साधु भसम करी काया।
लब्धिधारी था साधु घणाई, मोटापुरुषां नें क्यू न बचाया ॥१०॥

जिनरखिये अनुकम्पा कीधी, रयणादेवी रे साहमों जोयो।
सेलग यक्ष हेठो उतार्‌यो, देवी आय खड़ग में पोयो ॥११॥

भगता हरणगमेषी नो सुलसा, कीधी अनुकम्पा विलखी जाणी।
छ बेटा देवकी रा जाया,सुलसा रे घर मेल्या आणी ॥१२॥

यज्ञ बाड़े हरिकेशी आया, असणादिक त्यानें नहीं दीधा।
यक्षदेव अनुकम्पा आणी, रुद्र वमंता ब्राह्मण कीधा ॥१३॥

मेघकुंवर गर्भे हुंतो जब, सुख रे तांई किया अनेक उपायो।
धारणी राणी कीधी अनुकम्पा, मन गमता असणादिक खायो ॥१४॥

नेमिकुमार विवाह के लिए चले। पशु-पक्षियों को देखकर उनके मन में दया आई। सोचा, यह कार्य मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है; क्योंकि मेरे लिए ही बहुत सारे प्राणी मारे जाने वाले हैं ।।५।।

विवाह से मन फिर गया। राजीमती को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया। कर्मों के बन्धन से डर कर नेमिकुमार ने आठ भवों का जो नाता था, तोड़ दिया। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ।।६।।

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर धर्मरुचि अनगार ने कड़ुवे तुम्बे का आहार किया। वे चीटियों की अनुकम्पा करने वाले धर्मरुचि अनगार धन्य हैं। यह अनुकम्पा भी जिनेश्वरदेव की आज्ञा में है ।।७।।

महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करते हुए लब्धि फोड़कर गोशालक को बचाया। उस समय भगवान् छ लेश्या वाले और छद्मस्थ थे। मोह कर्म के कारण उनको यह राग आया ।।८।।

गोशालक असंयती और कुपात्र था। उसे शारीरिक सहयोग भगवान् श्री महावीर ने किया। यदि इसमें धर्म समझते तो सारा जगत दुःखी था, भगवान् ने इस उदाहरण को फिर से दुहराया तो नहीं ।।९।।

अपनी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक ने दो साधुओं को जलाकर भस्मसात् कर दिया। वहां लब्धिधारी साधु तो बहुत थे। उन महापुरुषों को उन्होंने क्यों नहीं बचाया? यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ।।१०।।

जिनऋषि ने करुणा करके रयणादेवी के सम्मुख देखा। शैलक यक्ष ने उसे नीचे गिरा दिया और देवी ने आकर उसे अपने खड्ग में पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ।।११।।

सुलसा हिरण्यगवेषी देव की भक्ता थी। उसे दुःखी देखकर देव ने अनुकम्पापूर्वक देवकी से उत्पन्न छ पुत्रों को सुलसा के घर लाकर रख दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ।।१२।।

हरिकेशी मुनि यक्ष-स्थल पर आए। उनको वहां अशनादिक नहीं दिया गया। यक्ष देवता ने उनकी अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को रुधिर-स्रावी बना दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ।।१३।।

मेघकुमार जब गर्भ में था, तब धारिणी रानी ने गर्भ की अनुकम्पा करते हुए उसके सुख के लिए अनेक उपाय किये। मन की रुचि के अनुसार भोजन किये। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ।।१४।।

अभयकुमार रो मित्री देवता, तिण अभयकुवर री अनुकम्पा आणी ।
धारणी राणी रो डोहलो पूर्‌यो, अकाले वर्षा करनें बरसायो पाणी ।।१५।।

कृष्णजी नेम वंदण ने जातां, एक पुरुष ने दुखियो जाणी ।
साहज दियो अनुकम्पा कीधी, ईंट उठाय उणरे घर आणी ।।१६।।

दुखिया दोहरा देख दरिद्री. अनुकम्पा उणरी किण आणी ।
गाजर मूलादिक सचित्त खवावै, बले पावै काचो अणगल पाणी ।।१७।।

दुखिया जीव मारग में देखी, टल जावै साधु संकोची काया ।
आप हणे नहीं पाप सू डरता, अनुकम्पा आणी न मेले छाया ।।१८।।

उपाड़ी ने छाया मेले तो, असंजती जीव री व्यावच लागी ।
या अनुकम्पा साधु करे तो, जावै पांचूई महाव्रत भागी ।।१९।।

सो साधु ग्रीषम काल उन्हाले, पाणी बिना हुवै जुदा जीव काया ।
अनुकम्पा आण नें अशुद्ध बहिरावै, छ काया रा पीहर साधु बचाया।।२०।।

गजसुकमाल ले नेम री आज्ञा, काउसग्ग कियो मसाण में जाई ।
सोमल आय खीरा शिर ढाया, शीश न धूण्यो दया दिल आई ।।२१।।

साधु बिना अनेरा सर्व जीवां री, अनुकम्पा आणी साधु बांधे बंधावै ।
तिणरो नशीत रे बारमें उद्देशे, साधु ने चोमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२२।।

रासड़ीयादिक सूं तस जीव बंध्या छै,
ते तो भूख तृषा सूं अत्यंत दुख पावै ।
त्यांने अनुकम्पा आण नें छोड़े छोड़ावै,
तिण साधु ने चौमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२३।।

अभयकुमार के मित्र देवता ने उसकी अनुकम्पा करके धारिणी रानी का दोहद पूरा किया। अकाल में वर्षा की। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१५॥

श्री कृष्ण ने नेमिनाथ प्रभु को वन्दनार्थ जाते समय एक पुरुष को दुःखी देख कर उस पर अनुकम्पा की। उसको सहयोग दिया। एक ईट उठाकर उसके घर रख दी। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१६॥

दुःखी, कष्ट प्राप्त तथा दरिद्रों को देखकर कोई उनके प्रति अनुकम्पा लाकर उन्हें गाजर, मूला आदि सजीव वस्तु खिलाता है तथा अनछाना पानी पिलाता है, उस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥१७॥

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर साधु अपने शरीर को संकुचित कर टल जाते है। पाप से डर स्वयं उनकी हिंसा नही करते, परन्तु उनकी अनुकम्पा करके उन्हें छाया मे लाकर नहीं रखते। इसको आज्ञा-सम्मत अनुकम्पा समझना चाहिए ॥१८॥

यदि जीवों को उठाकर छाया में रखे तो असंयती की वैयावृत्ति (परिचर्या) करने का दोष लगता है। साधु यदि ऐसी अनुकम्पा करते हैं तो उनके पांचों ही महाव्रत भंग होते हैं ॥१९॥

विषम ग्रीष्मकाल का समय है। सौ साधु है। पानी के बिना उनके प्राण जा रहे हैं। किसी ने अनुकम्पा करके अशुद्ध पानी उन्हे बहिराया (दान दिया) और उन छः काया के रक्षक साधुओं को बचाया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥२०॥

गजसुकुमाल मुनि ने नेमिनाथ भगवान् की आज्ञा लेकर श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग किया। सोमिल ने आकर उनके सिर पर अगारे रख दिये। उनके मन में दया थी, अतः उन्होंने अपना सिर हिलाया नही। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ॥२१॥

साधु के अतिरिक्त अन्य जीवों की अनुकम्पा करके कोई साधु उन्हें बांधे या दूसरों से बंधवाये तो उस साधु को निशीथ सूत्र उद्देशक १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२२॥

रस्सी आदि से जो जीव बन्धे हुए हैं और वे भूख,तृषा आदि से अत्यन्त पीड़ित हैं। अनुकम्पा लाकर यदि कोई (साधु) उन्हें छुड़ाता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२३॥

व्याधि कुष्टादिक रोगीलो सुण नें, तिण ऊपर बेद चलाय ने आवै ।
साजो करे अनुकम्पा आणी, गोली चूरण दे रोग गमावै ।।२४।।

लब्धिधारी रा खेलादिक थी, सोलेई रोग जड़ां सूं जावै ।
बले जाणे साधु यो रोग सूं मरसी, अनुकम्पा आणी रोग नही गमावै।।२५।।

जो अनुकम्पा साधु करे तो, उपदेश देई वैराग चढ़ावै ।
चोखे चित पेलो हाथ जोड़े तो, च्यारूंई आहारनां त्याग करावै ।
या अनुकम्पा निरवद्य जाणो ।।२६।।

गृहस्थ भूलो उजाड़ वन में,
अटवी बले उज्जड़ जावै ।
अनुकम्पा आणी साधु मारग बतावै,
तो च्यार महिनां रो चारित्र जावै ।।२७।।

अटवी में भूला नें अत्यंत दुखी देखी, च्यारूंई शरण साध दिरावै ।
मारग पूछै तो मूनज साझै, बोले तो भिन्न-भिन्न धर्म सुणावै ।।२८।।

दुहा

अनुकम्पा इह लोक री, कर्म तणो बंध होय ।
ज्ञान दर्शन चारित्र बिना, धर्म म' जाणे कोय ।।१।।

जे अनुकंपा साधु करे, ते नवा न बांधे कर्म ।
तिण मांहिली श्रावक करे, तिण में पिण छै धर्म।।२।।

साधु श्रावक दोनूं तणी, एक अनुकम्पा जाण ।
अमृत सहु नें सारिषो, कूड़ी मत करो ताण ।।३।।

वरजी अनुकम्पा साधु नें, सूतरनी दे शाख ।
चित्त लगाय नें सांभलो, श्री वीर गया छै भाष ।।४।।

किसी के कुष्ठादि अनेक व्याधियां हैं। कोई वैद्य यह सुनकर अपने आप आता है। चूर्ण, गोली आदि देकर उसका रोग मिटाता है और उसे स्वस्थ कर देता है। यह सावद्य अनुकम्पा है ।।२४।।

लब्धिधर मुनि के श्लेष्म आदि से सोलह ही रोग समूल मिट जाते हैं। मुनि यह जान भी ले, यह व्यक्ति रोग के कारण मरने वाला है तो भी अनुकम्पा करके उसका रोग नहीं मिटाते। यह अनुकम्पा सावद्य होती है ।।२५।।

साधु यदि अनुकम्पा करते है तो उपदेश देकर उसका वैराग्य बढ़ाते हैं। शुद्ध हृदय से वह यदि चाहता है तो उसे चारों आहार भोगने का प्रत्याख्यान करा देते है। यह अनुकम्पा निरवद्य है ।।२६।।

कोई गृहस्थ जंगल में भटक गया और वह उजड़ ही उजड़ चलता जा रहा है। अनुकम्पा करके यदि कोई साधु उसे मार्ग बताता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।।२७।।

जंगल में उसे अत्यन्त दु.खी देखकर साधु उसे चार शरण देते हैं। यदि वह मार्ग पूछता है तो साधु मौन रहते है। यदि वे बोलते हैं तो भिन्न प्रकार से धर्मोपदेश सुनाते हैं। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ।।२८।।

गीति २

दोहा

लौकिक अनुकम्पा से कर्म बन्ध होता है। ज्ञान,दर्शन व चारित्र के अभाव में धर्म नहीं हो सकता ।।१।।

जो अनुकम्पा साधु करते है और जिससे नवीन पाप बन्ध नहीं होता, वही अनुकम्पा यदि श्रावक करता है तो उसे भी धर्म ही होगा ।।२।।

अमृत जिस प्रकार सबके लिए एक जैसा होता है, उसी प्रकार साधु व श्रावक के द्वारा की जाने वाली अनुकम्पा भी एक रूप ही होगी। इसके लिए खीचातान नहीं करनी चाहिए ।।३।।

आगमों में भगवान् श्री महावीर ने जिन-जिन अनुकम्पाओं का साधु के लिए निषेध किया है, उनका यहां वर्णन किया जाता है। उसे चित्त लगाकर सुनो ।।४।।

ढाल : २
[राग—यतनी]

डाभ मूंजादिक नी डोरी, बंधीया करे हेला नें सोरी।
सी तापादिक कर दुखिया, साता वंछे जाणै हुवा सुखिया ॥१॥
अनुम्कपा उणारी आणे, छोडे छोडावै ने भलो जाणै।
तिणनैं चोमासी प्रायश्चित आवै, धर्म जाणे तो समकित जावै ॥२॥

इम बांधे बंधावै हुवै राजी, तिणरो संजम गयो भाजी।
ए तो सावद्य कामा जाणो, तिणरा साधा किया पचक्खाणो ॥३॥

जीवणो मरणो नही चावै, साधु क्याने बंधावै छोड़ावै।
ज्यांरी लागी मुगत सू तालो, नही करे तिके रुखवाली ॥४॥

गृहस्थ रे लागी लायो, घर बारे निकलियो न जायो।
बलता जीव बिल-बिल बोलै, साधु जाय कंवाड़ न खोलै ॥५॥

द्रव्ये भावे लाय लागी, तिग मांहे केयक वैरागी।
तिणरी अनुकम्पा आवै, उपदेश देइ समझावै ॥६॥
जन्म मरण री लाय थी काढ़े, उणरो काम सिराड़े चाढ़े।
पकड़ावै ज्ञानादिक डोरी, तिण थी आठूई कर्म दे तोड़ी ॥७॥

अनुकम्पा कियां डंड आवै, परमारथ बिरला पावै।
नशीत नो बारमों उद्देशो, निज भाषी दया नी रेंसो ॥८॥

छोड़े साधु सूतर में कहै चाल्यो, ए तो अर्थ अणहुंतो घाल्यो।
भोलां ने कुगुरा बहकाया, कूड़ा-कूड़ा अर्थ बताया ॥९॥

सिंघ बाघादिक मंजारी, हिंसक जीव देखी आचारी।
त्यानें मार कह्यां हिंसा लागै, पहिलोई महाव्रत भागै ॥१०॥

गीति

डाभ, मूंज आदि की रस्सी से त्रस जीव बन्धे हैं, शीत, ताप आदि से दुःखी हैं, बिलबिलाहट कर रहे हैं, सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त व्यग्र हैं, उनकी अनुकम्पा करके साधु उन्हें बन्धन से छोड़ता है, दूसरे से छुड़वाता है या किसी छोड़ने वाले को अच्छा मानता है तो उस साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। ऐसा करके उस कार्य में यदि वह धर्म मानता है तो उसकी सम्यक्त्व भी चली जाती है ॥१-२॥

इसी प्रकार यदि वह अनुकम्पा करके किसी प्राणी को बान्धता है, बन्धवाता है, बान्धने वाले का अनुमोदन करता है तो उसका संयम चला जाता है। ये सब सावद्य कार्य हैं। इनका साधु ने प्रत्याख्यान किया है ॥३॥

साधु उन प्राणियों का जीना भी नहीं चाहता, मरना भी नहीं चाहता तो वह क्यों बान्धेगा और क्यों छुड़ाएगा? उसकी प्रीति मुक्ति से लगी है। वह किसकी रखवाली करेगा ॥४॥

गृहस्थ के घर में आग लगी है। घर से बाहर नहीं निकला जाता। आग में जलते जीव बिलबिलाहट करते हैं, पर साधु जाकर कपाट नहीं खोलता ॥५॥

संसार मे तो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की आग लगी ही है। कुछ एक लोग वैराग्यवान् होते हैं, जो भाव आग से बाहर निकलना चाहते है। उनकी अनुकम्पा साधु करते है और उन्हें उपदेश के द्वारा प्रतिबोध देते हैं। उस जन्म और मृत्यु की आग से बाहर निकालते हैं, उनका काम सिद्ध करते हैं। वे उसे ऐसी ज्ञान की रस्सी पकड़वाते है कि वे आठों ही कर्मों के तोड़ने में समर्थ हो जाते हैं ॥६-७॥

अनुकम्पा करने से प्रायश्चित्त आता है, इस परमार्थ को कोई बिरला व्यक्ति ही समझ पाता है। निशीथ सूत्र के बारहवें में उद्देशक में जिन भगवान् ने दया का रहस्य प्रकट किया है ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं,साधु बन्धे प्राणियों को खोल सकता है, यह आगम में कहा है; यह अर्थ अत्यन्त निराधार है। भोले-भाले लोगों को कुगुरु शास्त्रों का अर्थ बता कर बहका देते हैं ॥९॥

सिंह, बाघ,बिल्ली आदि हिंसक जीवों को देखकर यदि साधु कहे, इन्हें मारो तो उसे हिंसा लगती है, पहला महाव्रत टूटता है। यदि साधु (घटना प्रसंग पर)

मत मार कह्यां उणरो रागी, तीजे करण हिंसादिक लागी।
सूयगड़ाअंग छै साखी, श्री वीर गया छै भाखी ॥११॥

गृहस्थ रो शरीर ममता में, साधु बैठा समता में।
रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई, मूवां गयां री फिकर न कांई ॥१२॥

इहलोग नें परलोग, जीवणो मरणो काम भोग।
ए तो पांचूई छै अतिचार, वांछ्यां नही धर्म लिगार ॥१३॥

आपणोई बांछें तो पाप, पर नो कुण घालै संताप।
घणो जीवणो वांछे अज्ञानी, समभाव राखै ते ज्ञानी ॥१४॥

वायरो वर्षा सी ताप, रह्यो न रह्यो चावै तो पाप।
राज विरोध रहित सुकाल, उपद्रव जावो तत्काल ॥१५॥
सातां बोला रो ए विस्तार, ओलखियो ते अणगार।
घट में जो समता आवै, हुवा न हुवा एको ही न चावै ॥१६॥

एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नों चालो, दशवैकालिक संभालो ॥१७॥

साधू बैठो नावा मे आई, नावड़िये नाव चलाई।
नावा फूटी मांहे आवै पाणी, साधु देखे लोकां नही जाणी ॥१८॥
आप डूबे अनेरा प्राणी, किणरी अनुकम्पा नाणी।
बतायां व्रत रो भंग, तिणरो शाखी आचारंग ॥१९॥
सानी कर साधु जतावै, लोक कुसले खेमें घर आवै।
डूबा पिण साधु न चावै, रह्या चावै तो तुरत बतावै ॥२०॥
मौन साध रहे ते संत, तिके करे संसार नो अंत।
परिणामज राखै सेंठा, धर्म ध्यान मांहि रहै बैठा ॥२१॥

यह कहे, इन्हें मत मारो तो उन जीवों के प्रति राग प्रकट होता है और उन हिंसक पशुओं द्वारा बध्य प्राणियों की हिंसा का अनुमोदन लगता है। सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान् श्री महावीर ने ऐसा कहा है।।१०-११।।

गृहस्थ का शरीर उसकी ममता मे है और साधु अपनी समता में है। वे धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान ध्याते हैं। उन्हें किसी के मरने की चिन्ता नही होती।।१२।।

लोक-वांछा, परलोक-वांछा, जीवन-वांछा, मृत्यु-वाछा और कामभोग-वांछा ये पाच अपश्चिममारणान्तिकी सलेखना के अतिचार माने गये हैं। इनमें धर्म जरा भी नही हैं।।१३।।

श्रावक के अपने जीवन की वांछा भी पाप है तो दूसरे की जीवन-वांछा करके कौन संतापित होगा ? अधिक जीना जो चाहते हैं, वे अज्ञानी हैं तथा जीवन व मृत्यु में समभाव रखते है, वे ज्ञानी है।।१४।।

पवन, वृष्टि, शीत, ताप, क्षेम, सुकाल, उपद्रव ये सात बाते हों या न हों, यह चाहना मात्र पाप है। घट में यदि समता होती है तो इन सातों बातों का होना या न होना कुछ भी नहीं चाहता। इन सात बोलों का विस्तृत हार्द जिसने पहचान लिया है, वही अनगार है।।१५-१६।।

एक आदमी के चपेट मारना और दूसरे को पुचकारना ये दोनों कार्य राग-द्वेष जन्य है। दशवैकालिक सूत्र में इसका वर्णन है।।१७।।

साधु नाव में बैठा है। नाविक नाव चला रहा है। नाव में छिद्र हो गया है और पानी भर रहा है। उसे साधु के अतिरिक्त और किसी ने नहीं देखा है। साधु स्वयं डूबने की ओर जा रहा है, दूसरे लोग भी डूबने जा रहे हैं। उसके मन में किसी के प्रति अनुकम्पा नहीं आई। क्योंकि छिद्र बताने से व्रत-भंग होता है। आचारांग सूत्र इस बात का साक्षी है। संकेत करके भी यदि साधु उस छिद्र को बताता है तो सब लोग कुशल-मंगल के साथ अपने घर पहुंचते हैं। सब लोग डूब जाएं,यह भी साधु नहीं चाहता। सब लोग जीएं, यह यदि वह चाहता तो तत्काल उस छिद्र को बता देता। साधु वहां धर्म-ध्यान में स्थिर होकर मौन रहता है और अपनी परिणाम-दृढ़ता से संसार का अन्त करता है।। १८-१९-२०-२१ ।।

दुहा

वांछै मरणो जीवणो, तो धर्म तणो नही अंस।
ए अनुकम्पा किया थकां, बधे कर्म नों बंस ॥१॥
मोह अनुकम्पा जे करे, तिणमे राग नें द्वेष।
भोग बधे इंद्रया तणो, अंतर ऊंडो देख ॥२॥
दया अनुकम्पा आदरी, तिण आतम आणी ठाय।
मरतां देखी जगत नें, सोच फिकर नही कांय ॥३॥
कष्ट सह्या घर में थकां, पाल्या व्रत रसाल।
मोह अनुकम्पा श्रावकां, त्यां पिण दीधी टाल ॥४॥
काचा था ते चल गया, होय गया चकचूर।
वे सेंठा रह्या चलिया नहीं, त्यानें वीर बखाण्या सूर ॥५॥

ढाल : ३

[राग—तुम जोयज्यो रे स्वारथ ना सगा]

चंपानगरी ना वाणियां, जिहाज भरने समुद्र में जाय रे।
तिण अवसर एक देवता, त्याने उपसर्ग कीधो आय रे।
जीव मोह अनुकम्पा न आणिये ॥१॥

मिनका सीयाल खांधे बेसाणने, गले पहिरी छै रुंड माल रे।
लोही राध सूं लीप्यो शरीर नें, हाथे खडग दीसे विकराल रे ॥२॥

लोक धड़-धड़ लागा धूजवा, और देव रह्या मन ध्याय रे।
अरणक श्रावक डरियो नहीं, तिण काउसग्ग दीधो ठाय रे ॥३॥

सागारी अनशन कियो, धर्म ध्यान रह्यो चित्त ध्याय रे।
सगलां नें जाण्या डूबता, अनुकम्पा न आणी काय रे ॥४॥

अरणक श्रावक नैं डिगायवा, देव वद-वद बोलै वाय रे।
जो अरणक धर्म न छोड़सी, तो जिहाज डबोऊं जल मांय रे ॥५॥

गीति ३

दोहा

जीने व मरने की वांछा करना, धर्म का अंश नहीं है। वांछा युक्त इस अनुकरण से कर्म का बन्ध होता है ।।१।।

मोह युक्त अनुकम्पा में राग व द्वेष होता है और उससे इन्द्रियों के भोग बढ़ते है, यह अन्तर्दृष्टि से समझने की बात है ।।२।।

दया व अनुकम्पा को जो अपना लेता है, वह आत्म-स्थित होकर रहता है। संसार को मरते देखता है, पर वह चिन्तातुर नहीं होता ।।३।।

गृहस्थपन मे चलने वाले श्रावकों ने भी कष्ट सहकर अपने व्रतों को निभाया, परन्तु मोह अनुकम्पा को तो टाला ।।४।।

जो दुर्बल थे,वे विचलित होकर चूर-चूर हो गए। जो दृढ़ रहे, विचलित नहीं हुए, उन्हें भगवान् महावीर ने शूरवीर कहा है ।।५।।

गीति

चम्पा नगरी के वणिग् भरे जहाज समुद्र में जा रहे थे। उस समय एक देवता ने उन्हें उपसर्ग दिया।······हे जीव मोह अनुकम्पा मत कर ।।१।।

शृगाल और मार्जार उसके कन्धे पर बैठे थे। गले मे कटे सिरों की माला थी। रक्त और रस्सी से लिप्त शरीर था और हाथ मे विकट खड्ग था ।।२।।

लोग थर-थर कांपने लगे और अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने लगे। अरणक श्रावक डरा नहीं और उसने कायोत्सर्ग आरम्भ कर दिया ।।३।।

उसने सागारी अनशन कर दिया। धर्म-ध्यान में अपना चित्त लगाया। सबको डूबते देखकर उसे अनुकम्पा नही आई ।।४।।

अरणक श्रावक को विचलित करने के लिए देवता बढ़-बढ़कर बोल रहा है, यदि अरणक! आज धर्म नहीं छोड़ेगा तो मैं इस जहाज को जल में डुबा दूंगा ।।५।।

ऊंची उपाड़ नें ऊंधी न्हाख नै, करसूं सगलां री घात रे।
काली बोली अमावस रा जण्या, मान रे तू अरणक बात रे ।।६।।

ज्ञान दर्शन म्हारा व्रत नै, इणरो कीधो विघन न थाय रे।
हूं सेवग छू भगवान रो, मौनै कोई न सके चलाय रे ।।७।।

लोक विल-विल करता देखनें, अरणक रो न बिगड्यो नूर रे।
मोह करुणा न आणी केहनी, देव उपसर्ग कीधो दूर रे ।।८।।

देव धन्य-धन्य अरणक नें कहै, तूं तो जीवादिक रो जाण रे।
थारा सुधर्मी सभा मझे, इन्द्र किया घणा वखाण रे ।।९।।

अरणक श्रावक रा गुण देखनें, आया देव री दाय रे।
दोय कुंडल जोड़ी आप नै, देव आयो जिण दिशि जाय रे ।।१०।।

नमिराय ऋषि चारित्त लियो, ते तो ऊभो बाग में आय रे।
इन्द्र आयो नमि नें परखवा, ते किण बिध बोलै वाय रे ।।११।।

थारी अगनि करी मिथिला बले, एकर सूं साह्मों जोय रे।
अंतेवर बलतो मेलसी, ए बात सिरे नहीं तोय रे ।।१२।।

सुख वपराय सारा लोक में, विलखा देख पुत्र-रतन रे।
जो तू दया पालण ने ऊठियो, तो कर तू यांरा जतन रे ।।१३।।

नमि कहै वसू जीवूं सुखे, म्हारी पल-पल सफली जात रे।
या मिथिला नगरी दाझतां, म्हारो बले नहीं तिलमात रे ।।१४।।

मोनै हर्ष नहीं मिथिला रह्यां, बलियां नहीं शोक लिगार रे।
मैं सावद्य जाण त्यागी तिका, रही बली न चावै अणगार रे ।।१५।।

जहाज को ऊपर उठाऊंगा और औंधी करके फिर नीचे गिराऊंगा। काली-पीली अमावस के दिन जन्मने वाले हे अरणक ! मेरी बात मान, नहीं तो मैं सबकी घात करूंगा ॥६॥

मैं भगवान् का सेवक हूं। मुझे कोई विचलित नहीं कर सकता। मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र में इसका किया हुआ विघ्न नही हो सकता ॥७॥

लोगों को बिलबिलाहट करते देखकर भी अरणक का स्वरूप बिगड़ा नहीं। उसने किसी की मोह अनुकम्पा नहीं की, तब देवता ने उपसर्ग दूर कर दिया ॥८॥

देवता अरणक को धन्य-धन्य कहने लगा। उसने कहा कि तू जीवादि द्रव्यों का ज्ञाता है। सुधर्मा सभा में इन्द्र ने तेरा बहुत बखान किया था ॥९॥

अरणक श्रावक के गुण देखकर देवता प्रसन्न हुआ और दो कुण्डलों की जोड़ी देकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया ॥१०॥

नमि राजर्षि ने चारित्र ग्रहण किया और बाग में आकर ठहरे। इन्द्र उनकी परीक्षा करने के लिए आया और बोला ॥११॥

तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है। एक बार तुम उसकी ओर देखो। जलते हुए अन्तःपुर को यों ही छोड़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है ॥१२॥

तू ने सारे संसार में सुख का प्रादुर्भाव किया और अपने पुत्र-रत्नों को बिलखते देख रहा है। यदि तू दया पालने के लिए ही खड़ा हुआ है तो इनका यत्न क्यों नहीं करता ॥१३॥

नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख में वसता हूं, सुख में जीता हूं। मेरी पल-पल सफल जा रही है। मिथिला नगरी जल रही है, पर मेरा उसमें कुछ भी नहीं जल रहा है ॥१४॥

मुझे मिथिला के रहने में कोई हर्ष नहीं है और उसके जलने में जरा भी शोक नहीं है। मैंने सावद्य समझ कर जिसे छोड़ दिया, उसका रहना या जलना मैं कुछ नहीं चाहता ॥१५॥

नमिराय ऋषि आणी नही, मोह अनुकम्पा नी बात रे।
समभाव राखे मुगते गया, करी अष्ट कर्मा री घात रे ॥१६॥

श्रीकेसव केरो बंधवो, यो तो नामे गजमुकुमाल रे।
तिण दीक्षा ले काउसग्ग कियो, सोमिल आयो तिण काल रे ॥१७॥

माथे पाल बाधी माटी तणी, माहे घाल्या लाल अंगार रे।
कष्ट ऊपनो वेदना अति घणी, नेम करुणा न आणी लिगार रे ॥१८॥

श्रीनेम जिनेश्वर जाणता, होसी गजमुकुमाल री घात रे।
पिण अनुकम्पा आणी नहीं, और साधु न मेल्या साथ रे ॥१९॥

श्री वीर जिनंद चोबीसमां, कल्पातीत मोटा अणगार रे।
त्यांने देव मनुष्य तिर्यञ्च नां, उपसर्ग उपना अपार रे ॥२०॥

संगम देवता भगवंत नैं, दुःख दीधा अनेक प्रकार रे।
अनारज लोका पिण वीर नैं, स्वानादिक दीधा लार रे ॥२१॥

चउसठ इन्द्र महोत्सव आविया, दीक्षा दिन भेला होय रे।
पिण कष्ट पड्या भगवान नें, नायो उपसर्ग टालण कोय रे ॥२२॥

दुःख देना देखी जगनाथ नें, किण अलगा न कीधा आय रे।
समदिष्टी देव हूंता घणा, त्या करुणा न आणी कांय रे ॥२३॥

देवता जाण्यो श्री भगवान नें, उदे आया दीसै छै कर्म रे।
अनुकम्पा आण विचै पड्यां, ए जिन भाख्यो नही धर्म रे ॥२४॥

धर्म हुवै तो आघो नहीं काढ़ता, बले वीर नें दुखिया जाण रे।
परिषह देवण आवै तेहनै, देव अलगो करता ताण रे ॥२५॥

मच्छगलागल मण्ड रही, द्वीप समुद्रां मांय रे।
भगवंत कहै जो इन्द्र ने, तो थोड़ा में देवे मिटाय रे ॥२६॥

नमि राजर्षि ने मोह अनुकम्पा नहीं की। समभाव रखते हुए आठ कर्मों का नाश कर वे मुक्ति में चले गये ॥१६॥

श्रीकृष्ण के बन्धु गजमुकुमाल ने दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग किया था। उस समय सोमिल ब्राह्मण वहां पर आया। उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की कगार बान्धी और उसमें जलते हुए अंगारे भर दिये। मुनि को अत्यन्त कष्ट हुआ। नेमिनाथ भगवान् ने वहां जरा भी अनुकम्पा तो नही की ॥१७-१८॥

नेमिनाथ प्रभु जानते थे, गजसुकुमाल मुनि की घात हो जाएगी, किन्तु उन्होंने अनुकम्पा करके उनके साथ साधुओं को नही भेजा ॥१९॥

चौबीसवे तीर्थंकर जो जिनकल्पी और महा अनगार थे, उन्हें देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अपार उपसर्ग हुए ॥२०॥

संगम देवता ने भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट दिया। अनार्य लोगों ने भी भगवान् के पीछे कुत्ते लगाए ॥२१॥

दीक्षा-महोत्सव में चौसठ इन्द्र आये, पर भगवान् को जब कष्ट पड़ा तो उपसर्ग टालने के लिए कोई नही आया ॥२२॥

सम्यग् दृष्टि देव भी बहुत थे, पर उन्होंने भी कोई करुणा नहीं दिखाई। किसी ने आकर दुःख देने वालों को भगवान् से अलग नही किया ॥२३॥

देवों ने जाना, भगवान् महावीर के अभी कर्मोदय है। अनुकम्पा के नाम पर बीच में पड़ना जिन-भाषित धर्म नहीं है ॥२४॥

यदि धर्म होता तो भगवान् महावीर को दुःखी देखकर वे जरा भी विलम्ब न करते और परिषह देने वालों को अलग कर देते ॥२५॥

सभी द्वीप और समुद्रों में मच्छगलागल लग रही है अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को खा रहा है। भगवान् यदि इन्द्र से कहें तो वह यह सब थोड़े में ही मिटा सकता है ॥२६॥

पड़ती जाणे अंतराय नें, तो अचित खवावत पूर रे।
एहवी शक्ति घणी छै इन्द्रनीं, पिण कर्म न हुवै दूर रे ।।२७।।

चुलणीपिया नें पोसा मझे, देव दीधा छै दुःख आय रे।
कुण कुण हवाल तिणमें किया, ते सांभलज्यो चित्त ल्याय रे ।।२८।।

तीन बेटां रा नव सूला किया, तिणरा मूढा आगे लाय रे।
तेल उकाल नें माहें तल्या, बल-बलता सू छांटी काय रे ।।२९।।

समा परिणामा वेदना सही,
जाणी आपरा संच्या कर्म रे।
अनुकम्पा न आणी अंगजात री,
तिण छोड़्यो नही जिन धर्म रे ।।३०।।

मत मारण रो कह्यो नही, ते तो जाणी सावद्य वाय रे।
करुणा न आणी मरता देखनें, सैंठो रह्यो धर्म ध्यान ध्याय रे ।।३१।।

जो तूं धर्म न छोड़सी, तो थारे देव गुरु जिम छै माय रे।
तिणने मारूं विध आगली, थारा मुहढ़ा आगे ल्याय रे ।।३२।।

जद आरत ध्यान तू ध्यायनें, पड़सी माठी गति मे जाय रे।
सुणनें चुलणीपिया चल गयो, माय राखण करे उपाय रे ।।३३।।

यो तो पुरुष अनारज कहै जिसो, झाल राखू ज्यू न करे घात रे।
ते तो भद्रा बचावण ऊठियो, इणरे थांभो आयो हाथ रे ।।३४।।

अनुकम्पा आणी जननी तणी, तो भांग्या व्रत नें नेम रे।
देखो मोह अनुकम्पा एहवी, तिण में धर्म कहीजे केम रे ।।३५।।

चुलणीपिया सुरादेव ना, चुलसतक नें सकडाल रे।
यां च्यारां रा मार्‍या डीकरा, देव तलिया तेल उकाल रे ।।३६।।

बेटां नें मरता देखिया, नाणी मोह अनुकम्पा प्रेम रे।
ऊठ्या मात त्रियादिक राखवा, भांगा व्रत नें नेम रे ।।३७।।

यदि ऐसा करने में जीवों के आहारान्तराय होती लगती तो शक्तिशाली इन्द्र उन्हें अचित्त आहार खिला देता, पर ऐसा करने से कर्मों का नाश नहीं होता ॥२७॥

चूलनीपिता श्रावक को पौषध-व्रत में देवता ने आकर कष्ट दिया। उसने क्या कुछ किया, उसका यहां वर्णन किया जाता है ॥२८॥

चूलनीपिता के सामने आकर उसके तीन पुत्रों के नव टुकड़े किये। उन्हें तेल मे तला। उस गर्म तेल से चुलनीपिता के शरीर को छांटा ॥२९॥

कृत कर्मो का भोग समझकर समता पूर्वक वह कष्ट उसने सहा। उसने पुत्रों की अनुकम्पा नही की और जिनेश्वर देव का धर्म नहीं छोड़ा ॥३०॥

सावद्य भाषा समझकर उसने मत मार, ऐसा भी नहीं कहा। पुत्रों को मरते देखकर भी उसे करुणा नहीं आई। धर्म-ध्यान मे लीन होकर दृढ रहा ॥३१॥

जो तू अपना धर्म नहीं छोड़ता तो देवगुरु के तुल्य तुम्हारी माता को तुम्हारे सामने लाकर इसी प्रकार मारूंगा ॥३२॥

तब तू आर्त्तध्यान में होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। यह सुनकर चूलनीपिता विचलित हो गया और अपनी माता के संरक्षण का उपाय करने लगा ॥३३॥

यह अनार्य पुरुष है। इसे अभी मैं पकड़ू ताकि मेरी माता को वह न मार सके। माता भद्रा को बचाने के लिए चला तो उसके हाथ में खंभा आ गया ॥३४॥

माता की अनुकम्पा आई, तो उसके नियम व व्रत भंग हो गए। ऐसी मोह अनुकम्पा में धर्म कैसे कहा जा सकता है ? ॥३५॥

चूलनीपिता, सूरादेव, चूलशतक और शकड़ाल इन चारों के पुत्रों को देवता ने तेल उबालकर उसमें तला। पुत्रों को मरते देखा, पर मोह अनुकम्पा नहीं आई। माता, स्त्री आदि को बचाने के लिए उठे तो नियम व व्रत भंग हो गए ॥३६-३७॥

मातत्रियादिक राखतां, भाग्या व्रत नें बंध्या कर्म रे।
तो साधु बिचे पड़ियां थकां, यांनें किण विध होसी धर्म रे।।३८।।

चेड़ा नें कोणिक री वारता, निरावलिका भगवती शाख रे।
मानव मुंवा दोय संग्राम में, एक कोड़ ने असी लाख रे।।३९।।

भगवंत अनुकम्पा आण नें, पोते न गया न मेल्या साध रे।
यां ने पहिला पिण वर्ज्या नहीं, घणा जीवांरी जाण विराध रे।।४०।।

ए दया अनुकम्पा जाणता, तो वीर वडाले जाय रे।
सगलारे साता वपरावता, थोड़ा मे देता चुकाय रे।।४१।।

कोणिक भगता भगवान रो, चेड़ो बारे व्रत धार रे।
इद्र भीड़ आया ते समकिती, ए किण विध लोपता कार रे।।४२।।

ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, बधनो जाणे किणरे उपाय रे।
तो करे अनुकम्पा भवि जीवरो, वीर बिना बोलया जाय रे।।४३।।

समुद्रपाल सुखां में भिन रह्यो, संसार विषे रस लाग रे।
चोर नै मारतो देखी उपनो, उतकष्टो परम वैराग रे।।४४।।

चारित्र लियो कर्म काटवा, जाण्यो मोक्ष तणो उपाय रे।
पिण करुणा न आणी चोर नी, छोड़ावणरी न काढ़ी वाय रे।।४५।।

साध श्रावक रे एक रीत छे, तुमे जोवो सूतर रो न्याय रे।
देखो अंतर माहे विचार नें, कूड़ी कांय करो बकवाय रे।।४६।।

दुहा

दुखिया देखी तावड़े, जां नहीं मेलै छाय।
साधु श्रावक न गिणे तेह नै, ए अन्यतीर्थी नी वाय।।१।।

मार्यां मरायां भलो जाणियां, तींनुई करणा पाप।
देखण वाला नें जे कहै, ते खोटा कुगुरु सराप।।२।।

माता, स्त्री आदि की रक्षा करने में नियम भंग हुए और कर्मबंध हुआ तो साधु यदि बीच में आ पड़े तो धर्म कैसे होगा ।।३८।।

चेटक और कोणिक का वृत्तान्त निरयावलिका व भगवती सूत्र में आया है । दो युद्धो में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मरे ।।३९।।

भगवान् महावीर अनुकम्पा करके न स्वयं गए, न अपने साधुओं को भेजा । और उन दोनों को बहुत जीवों की हिंसा समझकर पहले भी नहीं रोका ।।४०।।

इस कार्य को यदि भगवान् दयारूप समझते तो स्वयं आगे होकर जाते और थोडे मे ही सबको सुखी कर देते ।।४१।।

कोणिक भगवान् का भक्त था और चेटक बारह व्रतधारी श्रावक । इन्द्र जो सहयोग में आया, वह भी सम्यक्त्वी था । ये सब भगवान् के इंगित का लघन कैसे करते ।।४२।।

किसी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप प्रयत्न बढ़ता हो तो भगवान् बिना बुलाए जाकर भव्य जीवों की अनुकम्पा करते ।।४३।।

समुद्रपाल सुखो मे भूल रहा था । सासारिक विषयो में उसकी लगन लगी थी । चोर को मारे जाते देखकर उसको परम वैराग्य उत्पन्न हुआ ।।४४।।

कर्म-नाश करने के लिए मोक्षोपाय समझकर चारित्र ग्रहण किया, किन्तु चोर की करुणा करके उसे छोडाने की बात मुख से नही कही ।।४५।।

साधु श्रावक की एक रीति है । सूत्रोक्त न्याय को समझो । अन्तरंग में विचार कर देखो । मिथ्या प्रलाप मत करो ।।४६।।

गीति ४

दोहा

जीवों को ताप में दु:खी देखकर जो छाया में नहीं रखता वह साधु या श्रावक की गणना मे नहीं है, यह अन्यतीर्थी लोकों की भाषा है ।।१।।

मारने, मरवाने या मारते को अच्छा समझने में पाप है, देखने वाले को भी जो पाप कहे तो यह तो कुगुरु के निकृष्ट श्राप जैसा होगा ।।२।।

कर्मा करनें जीवड़ा, उपजै नें मर जाय।
असंजम जीतब तेहनों, ते साधु न करे उपाय ।।३।।

देखे माहोमां विणसता, अलगा करद्यां जाय।
एहवो कहै तिण ऊपरे, साधु बतावै न्याय ।।४।।

ढाल : ४

[राग—दुलहो मानव भव कांई तुमें]

नाडो भरियो छै डेडक माछला, मांहे लीलण फूलण रा पूर हो।
लट फूहांरा आदि जलोक सू, तस थावर भरिया अरूर हो।
भविकजन करज्यो पारखा जिन धर्म री ।।१।।

सुलिया धान तणो ढिगलो पड़्यो, माहे लटांने ईल्यां अथाय हो।
सुलसल्या इंडादिक अति घणा, किल-विल करे तिण मांय हो ।।२।।

एक गाडो भर्‌यो जमीकंद सूं, तिण मे जीव घणा छै अनंत हो।
च्यार पर्याय च्यार प्राण छै, मार्‌यां कष्ट कह्यो भगवंत हो ।।३।।

काचा पाणी तणा माटा भर्‌या, घणा जीव छै अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आद लटा घणी, त्यामें अनंत बताया वीर हो ।।४।।

खात भीनों उकरड़ी लटा घणी, गीडोला गधईया जाण हो।
टल-बल टल-बल कर रह्या, यांनें कर्मा न्हांख्या छै आण हो ।।५।।

कोइक जायगां में ऊंदर घणा, फिरै आमां नै साहमां अथाग हो।
थोड़ो सो खड़को सांभलै, तो जाय दिशोदिश भाग हो ।।६।।

गुड़ खांड आदि मिष्टान्न में, जीव चिहुं दिश दोड़्या जाय हो।
माख्यां नें माका फिर रह्या, ते तो हुचके मांहो मां आय हो ।।७।।

नाडो देखी नें आवै भेंसीयां, धान ढूके बकरा आय हो।
गाडे आवै बलद पाधरा, माटे आय उभी छै गाय हो ।।८।।
पंखी चुगे उकरडी ऊपरै, ऊंदर पासे मिनकी जाय हो।
माख्यां नें माका पकड़ ले, साधु किणनें बचावै छोडाय हो ।।९।।

कृत कर्मों के अनुसार जीव जन्मते हैं और मर जाते हैं। उनका असंयम जीवन है, उसके लिए साधु उपाय नहीं करते ॥३॥

जीवों को परस्पर नष्ट होते देखकर हम उन्हें पृथक्-पृथक् कर देते हैं, ऐसा जो लोग कहते हैं, उस पर मैं न्यायपूर्ण विवेचन करता हूं ॥४॥

गीति : ४

छोटा तालाब मेंढ़क व मछलियों से भरा है, उसमें भरपूर नीलण-फूलण जमी है और वह लट, पुअरा (फूंहरा), जलोक आदि त्रस प्राणियों से ठसाठस भरा है।'' हे भव्य जीवों ! जिनेश्वर देव के धर्म की परीक्षा करनी चाहिए ॥१॥

सड़े हुए धान का ढेर लगा है। उसमें अयाग इली, लट आदि प्राणी भरे हैं। सुलमुले, अण्डे आदि अति मात्रा में बिलबिलाहट कर रहे हैं ॥२॥

एक गाड़ी जमीकन्द से भरी है, जिसमें कि अनन्त जीव होते ही है। उन जीवो के चार पर्याय व चार प्राण होते है और भगवद्-वचन के अनुसार उन्हें मारने से उनको कष्ट होता है ॥३॥

सचित्त पानी के मटके भरे हैं। अनछाना पानी है और उसमें बहुत सारे जीव है। लट और नीलण-फूलण बहुत है, जिस नीलण-फूलण में भगवान ने अनन्त जीव बतलाए हैं ॥४॥

कूड़े-करकट का ढेर जमा है। खाद गीली हो रही है। गिण्डोला, गधिरां आदि जीव अपने कर्मों का फल भोगते हुए टलबल-टलबल कर रहे हैं ॥५॥

किसी स्थान में चूहे बहुत है। इधर-उधर दौड़ लगाते है। थोड़ा-सा शब्द सुनते ही चारों ओर दौड़ जाते हैं ॥६॥

गुड़, खाण्ड आदि मिष्टान्न में चारों ओर से जीव दौड़े आ रहे है। छोटी-बड़ी मक्खियां व मक्खे फिर रहे हैं और वे परस्पर एक दूसरे पर उछलते हैं ॥७॥

तालाब को देखकर भैंसें आती हैं। धान्य के ऊपर बकरे आते हैं। गाड़ी पर बैल सीधे आते हैं। मटकी पर गाय खड़ी है। पक्षी कूड़े के ढेर पर चुग रहें हैं। चूहों के पीछे बिल्ली जा रही है। मक्खियों को मक्खे पकड़ रहे है। साधु किसे बचाये, किसे छुड़ाए ॥८-६॥

भेंसा हाकल्यां नाडा मांहिला, सगला जीवा रै साता थाय हो।
बकरां नै अलगा किया, इंडादिक जीव वच जाय हो॥१०॥

थोड़ा-सा बलदा नै हाकल्यां, तो न मरे अनंतीकाय हो।
पाणी फूहारादिक किणविध मरै, नेड़ी आवण न दे गाय हो॥११॥

लट गीडोलादिक कुशले रहे, जो पखी ने देवै उडाय हो।
मिनकी छिछकार न्हमाड़दे, तो ऊंदर घर सोग न थाय हो॥१२॥

माका नें आघा-पाछा करै, तो माखी उड़ न्हाठी जाय हो।
साधा रे सगला सारिखा, ते तो बिचै न पड़ै जाय हो॥१३॥

मिनकी धाकल ऊंदर बचाय ले, माखी राखे माका नै धिकाय हो।
और मरता देख राखे नही, या मैं चूक पड़ी ते बताय हो॥१४॥

साधु पीहर बाजै छकाय नां, एक छोड़ावै तसकाय हो।
पांच काय मरती राखै नही, तो पीहर किणविध थाय हो॥१५॥

रजोहरण लेइनें ऊठिया, जोरीदावै दिया छोड़ाय हो।
ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, यारे बधियो ते मोय बताय हो॥१६॥

ज्ञान दर्शन चारित्र विना, और मुक्ति रो नहि उपाय हो।
छोड़ा-मेला उपगार संसार नां, तिणथी शुद्धगति किणविध जाय हो॥१७

जितरा उपगार संसार नां, ते तो सगलाई सावद्य जाण हो।
श्रीजिनधर्म में आवै नहीं, कूड़ी म करो ताण हो॥१८॥

अज्ञानी रो ज्ञानी किया थकां, हुवै निश्चै पेलारो उधार हो।
कीयो मिथ्यातीरो समगती, तिण उतार्यो भव पार हो॥१९॥

असंजती नों कियो संजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पहुंचावियो, तिण मेट्या सर्व हवाल हो॥२०॥

भैंसों को हांक देने से तालाब में रहे सब जीवों के साता हो जाती है। बकरों को अलग कर देने से अण्डादि जीव बच जाते है ॥१०॥

बैलों को थोड़ा सा ललकार देने से अनन्त काय बच जाती है और गाय को नजदीक न आने दिया जाए तो पानी-पूहरादिक की हिंसा कैसे हो सकती है ॥११॥

यदि पक्षियों को उडा दिया जाए तो लट-गिडोला आदि प्राणी कुशल रह जाते है। यदि बिल्ली को छिछकार करके भगा दिया जाए तो चूहो के घर में शोक न हो ॥१२॥

यदि मक्खों को इधर-उधर कर दिया जाए तो अन्य मक्खिया उड़कर भाग सकती है। साधु के लिए तो सभी प्राणी समान है। वे किसी के बीच मे नही पडते ॥१३॥

बिल्ली को ललकार कर चूहे बचा लेते है, मक्खों को ढकेल कर मक्खी को बचा लेते है, पर उक्त प्रकार के अन्य जीवों को बचाने का प्रयत्न नहीं करते। उन जीवों का क्या अपराध है, यह तो बताना चाहिए ॥१४॥

साधु छव काय के रक्षक कहलाते है और केवल त्रसकाय को छोड़ाते हैं। शेष पाच कायों को नही बचाते तो वे छव काय के रक्षक कैसे रहे? ॥१५॥

रजोहरण (ओघा) हाथ में लेकर साधु खडा हुआ और बलात्कार पूर्वक किसी प्राणी को छोड़ा दिया। ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों में से उसके कौनसे गुण की वृद्धि हुई, यह कोई मुझसे बताए ॥१६॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र के बिना कोई मुक्ति का मार्ग नही है। छोड़ना, रखना आदि सासारिक उपकार है। उससे शुभ गति कैसे मिल सकती है? ॥१७॥

जितने सांसारिक उपकार है, वे सभी सावद्य हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म में नही आते। व्यर्थ आग्रह क्यों किया जा रहा है ॥१८॥

अज्ञानी से किसी को ज्ञानी किया जाता है तो निश्चित ही उसका उद्धार होता है। मिथ्यात्वी से किसी को सम्यक्त्वी किया जाता है तो वह उसे संसार-सिन्धु से पार करता है ॥१९॥

असंयति को संयति कर दिया तो करने वाला मोक्ष का दलाल हो जाता है। किसी को तपस्वी बनाकर ससार-सिन्धु से पार लगा दिया, उसने तो उसका सारा जजाल ही मेट दिया ॥२०॥

ज्ञान दर्शन चारित्र ने तप, यारो करै कोइ उपगार हो।
आप तिरै पेलो उद्धरै, दोया रो खेवो पार हो ।।२१।।

ए च्यार उपगार छै मोटका, तिण में निश्चैई जाणो धर्म हो।
शेष रह्या काम संसार ना, तिण कीधां बंधसी कर्म हो ।।२२।।

दुहा

जीव दया रै ऊपरे, मूलगा तीन दिष्टन ।
आगै विस्तार करै जितो, ते सुणजो कर खंत ।।१।।

ढाल : ५

[राग—सहेल्यां ए वांदो सदा साध ने]

एक चोर चोरे धन पार को, बले दूजो हो चोरावै आगेवाण।
तीजो कोई करै अनुमोदना, ए तीना रा हो खोटा किरतब जाण।
भविजीवा तुमें जिन धर्म ओलखो ।।१।।

एक जीव हणै, तसकाय ना, हणावै हो दूजो पर ना प्राण।
तीजो पिण हर्षे मारिया, ए तीनूई हो जीव हिंसक जाण ।।२।।

एक कुशील सेवै हरष्यो थको, सेवावै हो ते तो दूजै करण जोय।
तीजो पिण भलो जाणै सेविया, ए तीना रे हो कर्म तणो बंध होय ।।३।।

ए सगला नै सतगुरु मिल्या,
प्रतिबोध्या हो आण्या मार्ग ठाय।
किण-किण जीवा नै साधा उद्धर्‍या,
तिणरो सुणज्यो हो विवरा सुध न्याय ।।४।।

चोर हिंसक नें कुशीलिया, यारै तांई हो साधा दियो उपदेश।
त्यानै सावद्य रा निरवद्य किया, एहवो छै हो जिन धर्म दया रेस ।।५।।

ज्ञान दर्शन चारित्र तीनू तणो, साधा कीधो हो जिण थी उपगार।
ते तो तिरण-तारण हुवा तेहना, उतार्‍या हो संसार थी पार ।।६।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों के सम्बन्ध से जो उपकार करता है, वह स्वयं तर जाता है और अगले का भी उद्धार हो जाता है ।।२१।।

ये चार प्रकार के उपकार प्रमुख हैं। इनमें निश्चित प्रकार से ही धर्म है। शेष सांसारिक कार्य हैं, जिनके करने से कर्म-बन्ध होता है ।।२२।।

दोहा

जीव-दया के ऊपर तीन दृष्टान्त मौलिक हैं। उस पर चाहे जितना विस्तार हो सकता है। शान्तिपूर्वक उन्हे सुनो ।।१।।

गीति : ५

एक चोर दूसरे के धन को चुराता है। दूसरा आगे होकर चुरवाता है। तीसरा व्यक्ति उसका अनुमोदन करता है। इन तीनों के ही कर्तव्य बुरे हैं। ...हे भव्य जीवों जैनधर्म की पहचान करो ।।१।।

एक त्रसकाय जीवों की हिंसा करता है। दूसरा त्रसकाय जीवों की हिंसा करवाता है। तीसरा मारते जानकर हर्षित होता है। इस प्रकार ये तीनों ही व्यक्ति हिंसक हैं ।।२।।

एक व्यक्ति सहर्ष कुशील सेवन करता है। दूसरा सेवन करवाता है। तीसरा उसका अनुमोदन करता है। इन तीनों के ही कर्मों का बन्धन होता है ।।३।।

इन सब व्यक्तियों को सुगुरु मिले और प्रतिबोध देकर मार्ग लगाया। किन-किन व्यक्तियों का साधुओं ने उद्धार किया, विवरण सहित उनका न्याय सुनो ।।४।।

चोर, हिंसक और व्यभिचारी इन तीनों को साधुओं ने उपदेश दिया, उन्हें पाप से धर्म में प्रवृत्त किया, यही जिनेश्वर के अनुकम्पा धर्म का रहस्य है ।।५।।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तत्त्वों के रूप में साधुओं ने उनके प्रति उपकार किया, ये स्वयं तरने वाले और दूसरों को तारने वाले हुए। उनको संसार सिन्धु से पार उतारा ।।६।।

ए तो चोर तीनूंई समझ्यां थकां, धन रह्यो हो धणी रै कुशले खेम ।
हिंसक तीनूं प्रतिबोधिया, जीव बचिया हो कीधो मारण रो नेम ।।७।।

शील आदरियो तेहथी, अस्त्री पड़ी हो कूवा में जाय ।
यांरो पाप धर्म नहीं साधु नै, रह्या मूवा हो तीनूं अव्रत माय ।।८।।

धन रो धणी राजी हुवो धन रह्या,
जीव बचिया हो ते पिण हरषित थाय ।
साधु-तिरण तारण नहीं तहेनां,
नारी ने पिण हो नहि डबोई आय ।।९।।

केइ मूढ मिथ्याती इम कहै, जीव बचिया हो धन रह्यो ते धर्म ।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखै, अस्त्री मुई हो तिणरा लागे कर्म ।।१०।।

जीव जीवै ते दया नहीं, मरै ते हो हिंसा मत जाण ।
मारण वाला नै हिंसा कही, नही मारै हो ते तो दया गुण खाण ।।११।।

नींब आंबादिक वृक्ष नो, किण ही कीधो हो बाढण रो नेम ।
अव्रत घटी तिण जीव रै, वृक्ष ऊभो हो तिणरो धर्म केम ।।१२।।

सर द्रह तलाब शोषण तणा, सूंस लेई हो मेट्या आवता कर्म ।
सर द्रह तलाब भर्‌या रहै, तिण मांहि हो नही जिनजी रो धर्म ।।१३।।

लाडू,घेवर आदि पकवान नै,खाणा छोड़्या हो आतम आणी ठाय ।
वैराग बध्यो तिण जीव रै, लाडू रह्या हो तिणरो धर्म न थाय ।।१४।।

दव देवो नै गाम जलायवो, इत्यादिक हो सावद्य कारज अनेक ।
ए सर्व छाड़ावै समझाय नै, सगलां री हो विधि जाणो तुम्हें एक ।।१५।।

हिवै केइक अज्ञानी इम कहै, छ काय काजे हो द्यां छां धर्म उपदेश ।
एकण जीव नें समझावियां, मिट जावै हो घणा जीवां रो क्लेश ।।१६।।

तीनों प्रकार के चोर समझ जाने से मालिक का धन सकुशल रहा। तीनों प्रकार के हिंसको को प्रतिबोध देने से उन्होंने हिंसा का त्याग कर लिया, जिससे जीव बच गये ॥७॥

शील-व्रत स्वीकार किया, उससे स्त्री कुएँ में जा पड़ी। इन सबका पाप या धर्म साधु को नहीं है। जीवित रहे या मरे, तीनों अव्रत में है ॥८॥

धनवान् धन रहने से खुश हुआ। जो जीव बचे वे भी हर्षित हुए। साधु न तो उन दोनों के तारक है और न उस स्त्री को भी डुबोने वाले है ॥९॥

कुछ मूर्ख मिथ्यात्वी ऐसा कहते है—जीव बचे और धन रहा, यह धर्म है। यदि ऐसा है तो उनके कथनानुसार जो स्त्री मर गई, उसका पाप भी साधु को लगना चाहिए ॥१०॥

जीव अपने सहज स्वभाव से जीते हैं, यह दया नही है। सहज स्वभाव से मरते है, वह हिंसा नही है। मारने वाले को हिंसा लगती है, जो नही मारता है, वह दयावान् है ॥११॥

किसी ने नियम लिया—मैं आम, नीम आदि वृक्षों को नही काटूंगा। उस व्यक्ति के अव्रत घटी, पर वृक्ष जो खडा है, उसका धर्म कैसे हुआ ॥१२॥

सरोवर, द्रह और तालाब आदि सुखाने का त्याग किसी व्यक्ति ने लिया। सर, द्रह, तालाब भरे रहे, इसमें जिनेश्वर देव का धर्म नही है ॥१३॥

लड्डू, घेवर आदि मिठाई खाने का त्याग किया। अपनी आत्मा को वश करके रखा। उस व्यक्ति का वैराग्य बढा, पर जो लड्डू बच गए, वह धर्म नही ॥१४॥

दावाग्नि लगाना, गांव जलाना आदि अनेकों सावद्य कार्य है। इन सबको समझाकर छुड़ा दे, यही उक्त सभी कार्यों की एकमात्र विधि है ॥१५॥

कुछेक अज्ञानी यह कहते हैं—छव काय जीवों की साता के लिए हम उपदेश करते हैं। एक जीव को समझा देने से बहुत सारे जीवों का क्लेश मिट जाता है ॥१६॥

छ काय घरै साता हुई, एहवो भाषै हो अन्यतीर्थी धर्म ।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म नों,ते तो भूला हो उदे आयो मोह कर्म ॥१७॥

हिवै साधु कहै तुम्हें सांभलो,छ काया रे हो साता किणविध थाय ।
शुभ अशुभ बांध्या ते भोगवै, नहीं पाम्यो हो त्यां मुगत उपाय ॥१८॥

हणवा सूम किया छ काय नां,तिणरै टलिया हो मेला अशुभ कर्म पाप ।
ज्ञानी जाणै साता हुई तेहनै, मिट गया हो जनम-मरण संताप ॥१६॥

साधु तिरण तारण हुवा तेहना,सिद्धगति मे हो मेल्या अविचल ठाम ।
छ काय लारै भिलती रही, नही सीभे हो तिणरो आतम काम ॥२०॥

आगै अरिहंत अनना हुवा,कहितां कहितां हो कदे नावै त्यांरो पार ।
आप तिर्या ओरां नै तारिया, छ काया रे हो साता न हुई लिगार ॥२१॥

एक पोते बच्यो मरवा थकी,
दूजै कीधो हो तिणरै जीवण रो उपाय ।
तीजो पिण हरख्यो उण जीविया,
या तीना में हो शुद्ध गति कुण जाय ॥२२॥

कुशले रह्यो तिणरे अव्रत घटी नहीं,
तो दूजा ने हो तुम्हे जाणज्यो एम ।
भलो जाणै तिणरे व्रत न नीपनों,
ए तीनूंई हो शुद्ध गति जासी केम ॥२३॥

जीवियां जीवाया भलो जाणियां,ए तीनूंइ हो करण सरीषा जाण ।
कोई चतुर होसी ते परखसी, अण समभू हो करै ताणा-ताण ॥२४॥

छ काया रो वांछै मरणो जीवणो, ते तो रहसी हो संसार मभार ।
ज्ञान दर्शन चारित्र तप भला, आदरियां हो अदराया खेवो पार ॥२५॥

अन्यतीर्थी ऐसा कहते है—ऐसा करने से छव काय के जीवों के साता होती है। ऐसा कहने वालों ने जैनधर्म का भेद नही पाया। वे तो मोह कर्म के उदय से भूलभुलैया में हैं ॥१७॥

अब जो साधु कहते हैं; वह सुनो। छवकाय जीवों के साता कैसे होती है? वे अपने बंधे हुए शुभाशुभ भोगते हैं। उनको मुक्ति का उपाय नहीं मिला है ॥१८॥

किसी ने छव काय जीवों की हिंसा का त्याग किया। उसके अशुभ कर्म टले। ज्ञानियों की दृष्टि में यही साता है कि उसके जन्म-मरण के सन्ताप मिट गए ॥१६॥

साधु उसके तारक हुए; क्योंकि उन्होंने उसे अविचल मोक्ष गति में पहुचा दिया। छव काया के जीव तो ससार मे ही रहे, उनके आत्म-कार्य सिद्ध नहीं हुए ॥२०॥

पूर्व काल में अनन्त तीर्थकर हुए, जिनका पार वाणी से नहीं पाया जाता। वे स्वयं तरे और उन्होने दूसरो को तारा, पर इससे षट्काय का क्या सुख सधा ॥२१॥

एक आदमी मरने से अपने आप बचा। दूसरे ने उसे जीवित रहने में सहयोग किया। तीसरा उसके जीने से प्रसन्न हुआ। इन तीनों में कौन शुभ गति प्राप्त होगा ॥२२॥

जो स्वयं सकुशल रहा, उसके कोई अव्रत घटी नहीं। दूसरे की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। जिसने भला जाना उसके भी कोई व्रत निष्पन्न नहीं हुआ। ये तीनों शुद्ध गति को कैसे प्राप्त होंगे ॥२३॥

जो जीता है, जो जिलाता है और जो भला जानता है, ये तीनों करण एक समान हैं। जो चतुर होंगे, वे इस बात को समझ लेंगे, जो अज्ञानी होंगे वे खींचा-तान करेंगे ॥२४॥

जो षट्कायिक जीवों का जीना मरना चाहता है, वह ससार में परिभ्रमण करेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि स्वय ग्रहण करने से व दूसरों को करवाने से ही बेड़ा पार होगा ॥२५॥

दुहा

पोते हणे हणावै नही, पर जीवां रा प्राण।
हणे जिणनें भलो जाणे नही, ए नव कोटी पच्चक्खाण ॥१॥

ए अभय दान दया कही, श्रीजिन आगम मांय।
तो पिण बंद्ध उठावियो, जैनी नाम धराय ॥२॥

अभय दान न ओलख्यो, दया री खबर न काय।
भोला लोगां आगले, कूड़ा चोज लगाय ॥३॥

कहै साधु बचावै जीव नै, ओरां ने कहै तू बचाय।
भलो जाणै बचिया थका, पिण पूछ्या पलटे जाय ॥४॥

ढाल ६

[राग—जगत गुरु तिसला नन्दन वीर]

इण साधां रा भेप में जी, बोलै एहवी वाय।
म्है पीहर छां छकाय नां जी, जीव बचावा जाय।
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ॥१॥

एहवी करै परूपणा जी, बोलै बंध न होय।
पलट जाय पूछ्या थका जी, भोला नै खबर न कोय ॥२॥

पेट दुखै सो श्रावका जी, जुदा हुवै जीव काय।
साधु आया तिण अवसरै जी, हाथ फेर्यां सुख थाय ॥३॥

साधु पधार्या देखनै जी, गृहस्थ बोल्या वाय।
थे हाथ फेरो पेट ऊपरै जी, ए श्रावक जीवां जाय ॥४॥

जब कहै हाथ न फेरणो जी, ए साधु नें कल्पे नांय।
थें कहिता जीव बचावणा, तो बोल नें बदलो कांय ॥५॥

दोहा

पर प्राणी को स्वयं मारे नही, दूसरे से मरवावे नहीं, मारने वाले को अच्छा समझे नही, (मन से, वचन से, काया से) ये नवकोटि प्रत्याख्यान कहे जाते है ॥१॥

यह अभयदान रूप दया जिनेश्वर देव की आज्ञा मे है तो भी जैनी नाम धराते हुये लोगों ने एक धांधली मचा रखी है ॥२॥

अभयदान को पहचाना नहीं। दया का कुछ पता नही। भले लोगों के सामने झूठा प्रपच करते हैं ॥३॥

कहते है–साधु जीव को बचाते है, दूसरों को कहते है कि तुम भी बचाओ और किसी जीव के बच जाने को अच्छा समझते हैं, लेकिन प्रश्न करने पर बदल जाते हैं ॥४॥

गीति : ६

इस साधु के वेष मे कुछ लोग यह कहते हैं—हम षट्कायिक जीवों के रक्षक है। क्योंकि किसी भी जीव को जाकर बचाते है।" हे चतुर मनुष्यों ! ज्ञानपूर्वक विचार करके समझो ॥१॥

ऐसी प्ररूपणा करते है कि जीव बचाने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, किन्तु पूछने पर पलट जाते हैं। भोले लोगों को जरा भी खबर नहीं लगती ॥२॥

सौ श्रावकों का पेट दुख रहा है। मानो शरीर और प्राण अलग हो रहे हैं। पेट पर हाथ फेरने से उनको सुख होता है, उस समय साधु वहाँ आये ॥३॥

साधुओं को आते देखकर गृहस्थ लोग बोले,आप पेट पर हाथ फेरें, नहीं तो ये श्रावक मर जायेंगे ॥४॥

जब कहते हैं—हाथ फेरना साधुओं को नहीं कल्पता। जो जीव बचाने की बात कहते थे तो वे अब बोलकर बदल क्यों जाते है ॥५॥

गोसाले नै वीर बचावियो जी, तिण में कहो छो धर्म ।
सो श्रावक नही बचाविया, त्यांरी श्रद्धा रो निकल्यो मर्म ॥६॥

गोसाला रे कारणै जी, लब्धी फोड़ी जगनाथ ।
सो श्रावक मरता देख नै, थे कांय न फेरो हाथ ॥७॥

धर्म कहै भगवंत नै, पोतै काय छोड़ी रीत ।
सो श्रावक नही बचावियां, त्यांरी कुण मानें परतीत ॥८॥

गोसाला नै बचावियां में, धर्म कहै साक्षात ।
सो श्रावक नहीं बचाविया, त्यांरी बिगड़ी श्रद्धा बात ॥९॥

इम कह्यां जाब न ऊपजै, जब कूड़ी करै बकवाय ।
हिवै साधु कहै तुम्हें साभलो जी, गोसाला रो न्याय ॥१०॥

साधां नै लब्धि न फोड़णी, कह्यो सूत्र भगोती रे मांय ।
मोह कर्म वस राग सूं जी, लियो गोसालो बचाय ॥११॥

छ लेश्या हूंती जद वीर में जी, हूंता आठूई कर्म ।
छद्मस्थ चूका तिण समै जी, मूरख थापे धर्म ॥१२॥

छद्मस्थ चूक पड़्या तिको जी, मुढै आणै बोल ।
निरवद कोई म' जाण्ज्यो जी, अकल हीया री खोल ॥१३॥

ज्यूं आणंद श्रावक नै घरै जी, गोतम बोल्या कूड़ ।
पड़िया छद्मस्थ चूक में जी, शुद्ध हुआ वीर हजूर ॥१४॥

इम अवश्य उदे मोह आवियो, नहीं टाल सक्या जगनाथ ।
ते तो न्याय न जाणियो, त्यारे मांहे मूल मिथ्यात ॥१५॥

गोसाला नै नही बचावता तो, घट तो अछेरो एक ।
निश्चै होणहार टलै नहीं जी, समझो आण विवेक ॥१६॥

गोसाला नै बचावियो तो बधियो घणो मिथ्यात ।
लोहीठाण कियो भगवंत नै, बले दोय साधां री घात ॥१७॥

गौशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, उस में धर्म कहते हैं। परन्तु सौ श्रावकों को नहीं बचाने से उनकी मान्यताओं का भ्रम निकल जाता है ॥६॥

गौशालक के लिए जगत प्रभु महावीर ने लब्धि फोड़ी तो श्रावकों को मरते देखकर वे हाथ क्यों नही फेरते ॥७॥

भगवान् को धर्म कहते हे तो स्वयं उस रीति को क्यों छोड़ देते है। इस प्रकार श्रावक नही बचाने से उनका विश्वास कौन करेगा ॥८॥

गौशालक के बचाने में साक्षात धर्म कहते है। वे सौ श्रावकों को यदि नहीं बचाते तो उनकी मान्यता बदल जाती है ॥९॥

ऐसा कहने पर जब उत्तर नही आता है, तब भूठा विवाद करते हैं। अब मैं गौशालक का न्याय कहता हू। तुम सुनो ॥१०॥

भगवती सूत्र में कहा है—साधु को लब्धि नही फोड़नी चाहिए, पर मोहकर्म जन्य राग से भगवान् महावीर ने गौशालक को बचाया ॥११॥

उस समय वीर विभु में छः लेश्या व आठों ही कर्म थे। छद्मस्थ प्रभु उस समय चूक गए। मूर्ख लोग उसमें धर्म मानते हैं ॥१२॥

छद्मस्थ प्रभु का चूक पूर्ण कार्य था। मूर्ख लोग उसे ही मुंह पर लाते है। हृदय के बुद्धि द्वार को खोलकर उसे निरवद्य कोई मत मानना ॥१३॥

जैसे आनन्द श्रावक के घर में गौतम स्वामी ने असत्य संभाषण किया। छद्मस्थ थे चूक में पड गए, पर वीर प्रभु के सामने आकर शुद्ध हो गए ॥१४॥

इसी प्रकार भगवान् महावीर के अवश्य मोहकर्म उदय में आया था। वे उसे नही टाल सके। जिनके हृदय में मिथ्यात्व बद्धमूल है, वे इस न्याय को नही समभ सकते ॥१५॥

यदि भगवान् गौशालक को नहीं बचाते तो एक अछेरा [आश्चर्य] घट जाता, पर होनहार टलती नही। विवेक से समझो ॥१६॥

गौशालक को बचाने मे बहुत मिथ्यात्व बढा। उसने भगवान् के रक्त-स्राव कर दिया। और दो साधुओं की घात हुई ॥१७॥

गोसाला नै बचविया मे, धर्म जाणे ए स्वाम।
तो दोय साधु बचावत आपणा, बले करता ओहिज काम ॥१८॥

गोसाला ने बचाय ने जी, धर्म जाणै जिनराय।
दोय साधु न राख्या आपणा, यो किणविध मिलमी न्याय ॥१९

जगत ने मरता देखने जी, आडा न दीधा हाथ।
धर्म जाणै तो आघो न काढ़ता, ए तिरण तारण जगनाथ ॥२०॥

ए विवरा शुद्ध बनावियो जी, सूतर भगोती रे न्याय।
कुबदी करै कदाग्रहो जी, सुबुधी रै आवै दाय ॥२१॥

साधां रा मुख आगलै, पंखी पड़ै माला़थी आय।
कहै मेला ठिकाणे हाथ सूं तो, दया रहै घट माय ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपासरेजी, काउसग दीधो ठाय।
तागी भिरगी आय ढह पड़यो जी, गाबड़ भागै जीव जाय ॥२३॥

कोइ गृहस्थ आय ने कहै जी, थे मोटा मुनिराज।
बैठो न कर्‌यो एहनै जी, यो मरै छै गाबड़ भाज ॥२४॥

जब तो कहै म्हे साधु छांजी, श्रावक बैठो करा केम।
म्हारे काम काइ गृहस्थ सूं जी, बोलै पाधरा एम ॥२५॥

श्रावक बैठो करै नहीं जी, पंखी मेलै माला़ रे मांय।
देखो पूरो अंधारो एहनै जी, ए चोड़ै भूल्या जाय ॥२६॥

पंखी माला़ में मेलतां जी, शंके नहीं मन मांय।
तो श्रावक ने बैठो किया मैं, धर्म न श्रद्धे कांय ॥२७॥

इतरी समझ पड़ै नहीं, त्यांने समकित आवै केम।
छकिया मोह मिथ्यात मैं जी, बोलै मतवाला जेम ॥२८॥

कहै साधां नै ऊंदर छोड़ावणो जी, मिनकी पासे जाय।
श्रावक बैठो करे नहीं जी, यो किणविध मिलसी न्याय ॥२९॥

गौशालक को बचाने में यदि भगवान् धर्म समझते तो अपने दो साधुओं को भी बचाते और फिर यही काम करते रहते ॥१८॥

गौशालक का बचाने में भगवान् धर्म समझे और अपने दो साधुओं को बचाया नहीं, यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥१९॥

जगत को मरते देखकर जिनेश्वर देव ने हाथ बढ़ाकर किसी को बचाया नहीं। यदि उसमे धर्म समझते तो जरा भी विलम्ब नही करते; क्योंकि वे तो तरण-तारण जगत प्रभु थे ॥२०॥

भगवती सूत्र के न्यायानुसार यह सब विवरण सहित बताया। कुबुद्धि लोग कदाग्रह करते है और सुबुद्धि लोगों को यह अच्छा लगता है ॥२१॥

साधुओं के सामने कोई पक्षी अपने घोसले से नीचे आ गिरा। कहते है—उसे उठाकर पुनः वही रखे, तब ही घट में दया रह सकती है ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपाश्रय में कायोत्सर्ग कर रहा है। चक्कर आया, मृगी (मूर्छा) आई, ढह पडा, गर्दन दब गई, प्राण जाने वाले है ॥२३॥

कोई गृहस्थ आकर कहता है—आप बड़े मुनि हैं। आपने इसको उठाया नही ? यह गर्दन दब जाने से मर रहा है ॥२४॥

जब कहते हैं—हम साधु है, श्रावक को कैसे बिठा सकते है! और वे झटाक से कह देते है—गृहस्थ मे हमारा क्या काम है ॥२५॥

श्रावक को नही उठाते और पक्षी को उठाकर घोंसले मे रख देते है। देखो इनके घट में कैसा अन्धेरा छा रहा है। स्पष्ट ही भूले जा रहे है ॥२६॥

पक्षी को घोंसले में रखते समय मन में संकोच नहीं होता तो श्रावक को उठा लेने मे धर्म क्यों नही मानते ?॥२७॥

इतनी भी समझ नहीं होती, उनमें सम्यक्त्व कैसे आयेगा ? मोह और मिथ्यात्व में छके हुए मतवाले लोगों की तरह बोलते हैं ॥२८॥

कहते हैं साधु को बिल्ली के पीछे जाकर चूहा छुड़ा देना चाहिए, किन्तु वे ही श्रावक को नहीं उठाते, यह न्याय कैसे मिलेगा ? ॥२९॥

मूसादिक नै बचावतां जी, मिनकी नै दुःख थाय।
श्रावक नें बैठो किया जी, नहीं किण रे अंतराय ॥३०॥

मूसादिक नै कारणै जी, मिनकी न्हसाड़ै डराय।
श्रावक मरे मुख आगलै, बेठो न करे हाथ संभाय ॥३१॥

ए प्रत्यक्ष बात मिलै नहीं जी, तावड़ो छाया जेम।
श्री जिन मारग ओलख्यो, त्यांरे हिरदे बेसे केम ॥३२॥

लाय लागे तो ढाढ़ा खोल नै, साधु काढ़ै उघाड़ी दुवार।
श्रावक नें बैठो करै नहीं, या श्रद्धा करसी खुवार ॥३३॥

ढांढ़ा नै तो खोलता जी, खप घणी छै ताय।
सो श्रावक हाथ फेर्‌यां बचे,त्यारी नाणै काइ मन माय ॥३४॥

कहै ढांढ़ा खोल बचावस्यां, पिण श्रावक रे न फेरां हाथ।
एहवा अज्ञानी जीवरी जी, कोई मूरख मानै बात ॥३५॥

गाड़ा नीचै आवै डावड़ो, कहै साधां नै लेणो उठाय।
श्रावक ने बेठो करै नही, यो ऊंधो पंथ इण न्याय ॥३६॥

रितु वर्षाला नै समैजी, जीव घणा छै ताय।
लटा गजायां ने कातरा जी, पड़िया मारग माय ॥३७॥

साधु बारै नीकल्या जी, जोय जोय मूके पाय।
लारै ढाढ़ा देख्या आवता, पिण साधु न लेवै उठाय ॥३८॥

जे बालक लेवै उठाय नै, या जीवा नें न ले उठाय।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखे, उणरे दया नहीं घट मांय ॥३९॥

जो बालक नै लेवै उठाय नै, और जीव देखी ले नांय।
इण श्रद्धारी करज्यो पारखा, कोई रखे पड़ो फंद मांय ॥४०॥

चूहे आदि को बचाने से बिल्ली को दुःख होता है। श्रावक को उठा लेने मे किसी को अन्तराय नही होती ।।३०।।

चूहे आदि के लिए बिल्ली को डराकर भगा देते है। श्रावक मुह के सामने मर रहा है, हाथ लगाकर उसे नही उठाते ।।३१।।

धूप और छाया की तरह यह बात प्रत्यक्ष मिलती नहीं। जिनेश्वर के धर्म को जिसने समझ लिया है, उसके हृदय में यह बात कैसे समा सकती है ? ।।३२।।

आग लग जाती है तो साधु द्वार खोलकर गाय, भैस आदि जानवरों को निकाल देते हैं। श्रावक को नहीं उठाते। यह मान्यता आत्म-गुणों का नाश करने वाली है ।।३३।।

गाय, भैस आदि को खोलने मे तो बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है। श्रावक यदि हाथ फेरने मात्र से बच जाता है, उसकी कुछ मन मे नही लाते ।।३४।।

कहते है—गाय, भैस आदि को तो बचाएगे, किन्तु श्रावक के पेट पर हाथ नही फिराएगे। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों की बात मूर्ख ही मानता है ।।३५।।

गाड़ी के नीचे कोई बालक आ रहा है तो कहते है—साधु को उठा लेना चाहिए। श्रावक को नहीं उठाते, इस न्याय से यह उल्टा पथ है ।।३६।।

वर्षा ऋतु के समय जीवों की प्रचुरता है। लट, गजाइयां और कातरे आदि जीव मार्ग मे पड़े है ।।३७।।

साधु बाहर निकले हैं और देख-देख कर पैर रख रहे है। पीछे से गाय, भैस आदि पशु आ रहे है, परन्तु साधु लट आदि उन जीवों को नही उठाते ।।३८।।

बालक को उठा लेते है और जीवों को नही उठाते तो उनकी मान्यता के अनुसार उनके ही घट में दया नहीं ।।३९।।

जो बालक को उठा लेते है और जीवों को नही उठाते; इस मान्यता की परीक्षा करनी चाहिए। यह नहीं कि कोई इस फंदे में फंस जाए ।।४०।।

दुहा

मच्छ गलागल लोक में, सबल निबल ने खाय।
तिण माहे धर्म परूपियो, कुगुरु कुबुद्धि चलाय ॥१॥

मूला जमीकंद खवाविया, कहै छै मिश्र धर्म।
या श्रद्धा पाखण्ड्यारी आदर्या, जाड़ा बंधसी कर्म ॥२॥

मूला खवायां पाणी पावियां, और सचित्तादिक अनेक।
खायां खवायां भलो जाणिया, या तीनारी विधि एक ॥३॥

ए तो न्याय न जाणियो, उजड़ पड़िया अजाण।
करण जोग बिगटाविया, ए मिथ्यादिष्टी पहचाण ॥४॥

कुहेतु लगाय लोक नै, हिंसा धर्म थापन।
हिवै सात दिष्टांत साधु कहै, ते सुणजो धर स्नेह ॥५॥

मूला पाणी अगन नो, चाथो होको जाण।
तस जीव कलेवर तस तणो सातमो मनुष्य वखाण ॥६॥

या में तीन दिष्टात करड़ा कह्या, जाणै अज्ञानी विरुद्ध।
समदिष्टी जिन धर्म ओलख्यो, ते न्याय सू जाणै शुद्ध ॥७॥

केशी कुमार दिष्टात करड़ा कह्या, तो छोडी प्रदेशी रूढ़।
न्याय मेले हुवो समकिती, झगड़ो झालै ते मूढ़ ॥८॥

जिणरी बुद्धि छै निरमली, तेसी न्याय विचार।
सुणे भारी कर्मा जीवड़ा, ते लड़वानै छै त्यार ॥९॥

ए सात दिष्टांत धुर सू चले, आगै घणो विस्तार।
भिन-भिन भवियण साभलो, अंतर आख उघाड़ ॥१०॥

दोहा

लोक मे मच्छगलागल लगी है। सबल जीव निर्बल जीव को खा रहे हैं। कुगुरु ने अपनी कुबुद्धि के बल पर उसमें भी धर्म निरूपित किया है ॥१॥

मूले, जमीकन्द आदि खिलाने में मिश्र धर्म कहते है। पाखण्डी लोगों की ऐसी मान्यता स्वीकार करने से सघन कर्म बन्धेगे ॥२॥

मूले खिलाना, पानी पिलाना और नाना प्रकार के सचित्त खाना, खिलाना व इसका अनुमोदन करना; इन तीनों की एक ही विधि है ॥३॥

इन्होंने न्याय को नहीं जाना। अज्ञानी उजड़ पड गए हैं। करण व जोगों का विघटन किया है। ये ही तो मिथ्यादृष्टि होने के लक्षण है ॥४॥

कुहेतु लगाकर लोगों को हिंसा-धर्म सिखलाते हैं। उस विषय पर सात दृष्टान्त कहे जाते है। उन्हें शान्ति मे सुनो ॥५॥

मूला, पानी, अग्नि, हुका, त्रस जीव, त्रस कलेवर और मनुष्य ये सात दृष्टान्त है ॥६॥

इन सात दृष्टान्तों मे तीन दृष्टान्त बहुत कठोर है। अज्ञानी उनका विरुद्ध अर्थ लगाते है। जैनधर्म को समझने वाले सम्यग्दृष्टि न्यायपूर्वक उन्हे शुद्ध मानते है ॥७॥

केशी स्वामी ने कठोर दृष्टान्त कहे तो प्रदेशी राजा ने अपनी रूढ़ि छोड़ दी। न्याय को समझकर वह सम्यग्दृष्टि बना। मूर्ख लोग होते है, जो झगड़ा करते हैं ॥८॥

जिनकी बुद्धि निर्मल है, वह न्यायपूर्वक सोचेंगे। जो बहुकर्मी है, इन्हें सुनेगे तो वे लडने के लिए तैयार ही रहेंगे ॥९॥

ये सात दृष्टान्त प्रारम्भ में हैं। आगे उनका विस्तार है। भव्य जीवों! भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने अन्तर्लोचन खोलकर सुनो ॥१०॥

ढाल : ७

[राग—वीर सुणो मोरी वीनती]

मूला खवाया मिसर कहै, लगावै हो खोटा दिष्टांत एह ।
कहै पाप लागो मूला तणों, धर्म हूवो हो खाधा बचिया तेह ।
भवियण जिन धर्म ओलखो ।।१।।

कहै कूवा वाव खणाविया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म ।
लोक पीया कुशले रह्या, साता हुई हो तिणरो हुवो धर्म ।।२।।

इम कही मिश्र परूपता, नहीं सकै हो करता बकवाय ।
इण श्रद्धा रो प्रश्न पूछिया, जाब न आवै हो जब लोक लगाय ।।३।।

हिवै सात दिष्टांत री थापना, त्यारी सुणज्यो हो विवरा सुध वात ।
निरणो कीज्यो घट भीतरै, बुद्धिवंता हो छोडी ने पक्षपात ।।४।।

सो मनुष्या नै मरता राखिया, मूला गाजर हो जमींकंद खवाय ।
वले कुशले राख्या सो मानवी, काचो पाणी हो त्याने अणगल पाय ।।५।।

पोह माह महिने ठारी पड़ै, तिणकाले हो बाजे सीतल वाय ।
अचेत पड़्या सो मानवी, मरता राख्या हो त्यांनै अगन लगाय ।।६।।

पेट दुखे तल-फल करै, जीव दोरो हो करै हाय तराय ।
साता वपराई सो जणा, मरता राख्या हो त्यांनै होको पाय ।।७।।

सो जणा दुर्भख काल में, अन्न बिना हो मरै उजाड माय ।
कोइ एक मारै तसकाय नैं, सो जणा नें हो मरता राख्या जीमाय ।।८।।

किण ही काले अन्न बिना, सो जणा रा हो जुदा हुवै जीव काय ।
सहजे कलेवर मूंवो पड़्यो, कुशले राख्या हो त्यांनै एह खवाय ।।९।।

गीति : ७

मूले खिलाने में मिश्र धर्म कहते हैं। उसका हेतु यह बतलाते है कि मूले खिलाने का पाप हुआ, परन्तु मूला खाने में जो जीव बचे,वह धर्म हुआ ॥१॥

और कहते है–कुआं, बावडी खुदाने में जो हिंसा होती है, वह पाप है। लोग पानी पीकर जो सकुशल रहते है, सुख पाते हैं,वह धर्म है ॥२॥

इस प्रकार मिश्र धर्म की प्ररूपणा करते हुए सशंक नहीं होते बल्कि व्यर्थ विवाद करते है। इस मान्यता के विषय मे प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर नही आता तो लोगों को उभारते है ॥३॥

अब इस विषय पर सात दृष्टान्तों की स्थापना की जाती है, उन्हें सविस्तार सुने। बुद्धिमान् लोग पक्षपात छोडकर अपने हृदय की अनुभूति से निर्णय करे ॥४॥

किसी ने सौ मनुष्यों को मूला, गाजर आदि जमीकन्द खिलाकर मरने से बचाया और किसी ने सौ मनुष्यों को सचित्त और अनछाना पानी पिलाकर सकुशल रक्खा ॥५॥

पोष, माघ का महीना है। ठण्ड पड़ रही है और उस समय शीतल हवाएं चल रही हैं। सौ आदमी मूर्छित पडे है। उनको अग्नि जगाकर मरने से बचाया ॥६॥

सौ आदमियों का पेट दुःख रहा है, तडफड़ाहट कर रहें है, जीव मिचला रहा है, सबने हाय-तोबा मचा रखी है। उन सौ आदमियों को हुक्का पिलाकर सुखी किया, मरने से बचाया ॥७॥

किसी जंगल में दुर्भिक्ष के कारण सौ व्यक्ति अन्न बिना मर रहे है। किसी एक व्यक्ति ने जानवर को मारकर उन्हें खिलाया और मरने से बचाया॥८॥

किसी समय अन्न के बिना सौ आदमी मर रहे हैं। किसी ने मृत कलेवर खिलाकर उन्हें सकुशल रखा॥९॥

मरता देखी सो रोगला, ममाई बिना हो ते तो साजा न थाय ।
कोई ममाई करै एक मनुष्य री,सो जणा रै हो साता कीधी बचाय ॥१०॥

जमीकंद खवायां पाणी पावियां, त्यामैं थापै हो पाप नै धर्म दोय ।
तो अगन लगायां होको पावियां इत्यादिक हो सगले मिश्र होय ॥११

जो धर्म श्रद्धे बचिया तिको, हिंसा तिण रा हो लागा जाणै कर्म ।
तो सातूई सरिखा लेखवै, कहि देणो हो सगले पाप नै धर्म ॥१२॥

जो सातां मै मिश्र कहै नही,तो किम आवै हो इण बोल्यांरी परतीत ।
आप थापै आप उत्थपै, कुण मानै हो या श्रद्धा विपरीत ॥१३॥

जो सताइ मै मिसर कहै, तो नही लागै हो गमती लोका मै बात ।
मिलती कह्या बिन तेहनी, कुण करै हो कूडारी पखपात ॥१४॥

एक दोय बोलां मै मिसर कहै, सगला मै हो कहिता लाजै मूढ़ ।
एहवो उलटो पंथ झालियो, यांरै केड़ै हो ताणै मूरख रूढ़ ॥१५॥

सौ-सौ मनुष्य सगलै बच्या, थोड़ी घणी हो सगलै हुई घात ।
जो धर्म बरोबर न लेखवै, तो उत्थप गइ हो मूला-पाणी री बात ॥१६॥

बात उथपती जाण नै, कदा कहिदे हो सगले पाप नै धर्म ।
पिण समदिष्टी श्रद्धै नही,एतो काढ्यो हो खोटी श्रद्धा रो मर्म ॥१७॥

असंजती रो मरणो जीवणो, वांछा कीधां हो निश्चै राग नै द्वेष ।
यो धर्म नही जिन भाषियो, सांसो हुवै तो हो अग-उपंग देख ॥१८॥

सौ रोगी मर रहे थे। ममाई के बिना वे स्वस्थ नहीं हो सकते। किसी ने एक मनुष्य की ममाई कर सौ मनुष्यों को बचाया, उन्हें साता दी ॥१०॥

जमीकन्द खिलाने व पानी पिलाने में यदि धर्म और पाप दोनों माने जाते हैं तो अग्नि जलाने, हुक्का पिलाने आदि सभी कार्यों मे मिश्र धर्म होना चाहिये ॥११॥

यदि ऐसा कहा जाए, जो मनुष्य बचे वह धर्म है और जो हिंसा हुई उससे कर्म बन्ध हुआ तो सातों ही दृष्टान्तों मे समान रूप से पाप व धर्म कह देना चाहिए ॥१२॥

यदि सातों उदाहरणों में मिश्र धर्म नहीं कहा जाता तो उनके कथन का विश्वास कैसे हो सकता है? आप ही सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और अपने आप ही उसे उठा देते है। इस विपरीत सिद्धान्त को कौन मानेगा ॥१३॥

यदि सातो ही उदाहरणो मे मिश्र कहा जाता है तो लोगो को अच्छा नही लगता और लोकमत के अनुसार न कहने से उन झूठों की पक्षपात कौन करे ॥१४॥

एक या दो उदाहरणों में मिश्र कहते है। सब में मिश्र कहते हुए लज्जित होते है। ऐसा विपरीत मार्ग उन्होने लिया है। उनके पीछे मूर्ख रूढ़िपरक आग्रह करते है ॥१५॥

सौ-सौ व्यक्ति सभी उदाहरणों मे बचे है। थोडी बहुत हिंसा भी सभी उदाहरणों में हुई है। उनमें यदि समान रूप से धर्म निरूपण नही होता तो मूले और पानी की बात कट जाती है ॥१६॥

बात जाती देखकर कभी कह देते है कि सभी स्थानों मे पाप और धर्म दोनों है। किन्तु सम्यग्दृष्टि लोक इस पर विश्वास नही करते। इस प्रकार विपरीत श्रद्धा का भ्रम निकल गया है ॥१७॥

असंयति जीव का जीना और मरना चाहा जाता है तो निश्चित ही राग और द्वेष है। जिनेश्वर देव ने इसे धर्म नही कहा। यदि संशय हो तो अंग व उपांग सूत्रों को देखना चाहिये ॥१८॥

काच तणा देखी मिणकला, अणसमझू हो जाणै रतन अमोल।
ते निजर पड्यां सराप री, कर दीधो हो त्यांरो कोड्यां मोल ॥१६॥

मूला खवाया मिसर कहै,
या श्रद्धा हो काच-मणी समान।
तो पिण झाली रतन अमोल ज्यूं,
न्याय न सूझै हो चाला कर्मारा जाण ॥२०॥

जीव मारे झूठ बोल नै, चोरी करनै हो पर जीव बचाय।
बलै करै अकारज एहवो, मरता राख्या हो मैथुनै सेवाय ॥२१॥

धन दे राखै पर प्राण नै, क्रोधादिक हो अठारै सेवाय।
ए सावद्य काम पोते करी, पर जीवानै हो मरता राखै ताय ॥२२॥

जो हिंसा करै जीव राखियां, तिण मे होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेई जाणजो, ए चरचा मै हे. बिरला समझै कोय ॥२३॥

जो एक मै मिसर कहै, सतरा मे हो भाषा बोलै और।
ऊँधी सरधारो न्याय मिलै नही जब उलटा होकर ऊठै झोड़ ॥२४॥

जीव मारे जीव राखणा, सूतर मे हो नही भगवत वैण।
ऊधो पंथ कुगरा चलावियो, सुद्ध न सूझै हो फूटा अतर नैण ॥२५॥

कोइ जीवना मिनख तिर्यंच नों,होम करै हो युद्ध जीतण सग्राम।
एक तो यो पाप मोटको, जीव होम्या हो बीजो सावद्य काम ॥२६॥

कोइ नाहर कमाई नै मारनै, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणे दोयां ने सारिषा,त्यांरी बिगड़ी हो श्रद्धा बात विवेक ॥२७॥

कांच के टुकडों को देखकर मूर्ख आदमी उसे बहुमूल्य रत्न समझ लेता है; पर जब वह जौहरी की नजर पड़ता है तो उसका मूल्य कौड़ियों मे हो जाता है ॥१९॥

मूला खिलाने मे जो मिश्र-धर्म कहते हैं, वे सिद्धान्त कांच की मणि के बराबर हैं। फिर भी वह बहुमूल्य रत्न की तरह धारण किया जा रहा है। कर्मों का ऐसा प्रपंच है कि न्याय नहीं सूझता ॥२०॥

जीव-हिंसा कर, झूठ बोलकर, चोरी कर व मैथुन जैसा अकार्य कर जीवों को बचाता है ॥२१॥

धन देकर, क्रोधादि अष्टादश पाप का सेवन कराके व स्वयं यह पापकारी कार्य करके दूसरे जीवों को मरने से बचाता है ॥२२॥

हिंसा करके भी बचने में यदि पाप और धर्म दोनों होते हैं तो अठारह पापों के विषय में यही समझना चाहिये। पर इस चर्चा को कोई बिरला ही व्यक्ति समझ सकता है॥२३॥

एक पाप मे मिश्र कहते हैं और सतरह प्रकार के पापों के विषय में दूसरी भाषा बोलते हैं। इस विपरीत मान्यता का न्याय नही मिलता, तब उलटा झगड़ा करने लग जाते हैं ॥२४॥

जीवों को मारकर जीवों को बचाया जाए, ऐसा सूत्र में कहीं भगवान् का कथन नही है। ऐसा उलटा मार्ग कुगुरों ने चलाया है। अन्तरग नेत्र मिट जाने से वे शुद्ध मार्ग को नही देख सकते ॥२५॥

कोई युद्ध-विजय के लिए जीवित मनुष्य व तिर्यञ्च को होम देते है। एक बड़ा पाप तो युद्ध करना है ही, जीवों का होम करने से दूसरा पापकारी कार्य और हो जाता है। ॥२६॥

किसी ने व्याघ्र व कसाई को मार कर बहुत सारे जीवों को मरने से बचा लिया। यदि दोनों को एक जैसा ही माना जाता है तो समझना चाहिए उनकी मान्यता व बात का विवेक आदि सब बिगड़ जाते हैं ॥२७॥

पहिला कहिता जीव बचावणा, तिण लेखे हो बोल्या शुद्ध न काय ।
जीव बचिया रो धर्म गिणै नहीं, खिणमें थापै हो खिणमैं फिर जाय ॥२८॥

देवल ध्वजा तेहनी परै, फिरता बोलै हो न रहै एकण ठाम ।
त्यानें पापंडी जिन कह्या, भगड़ो भाल्यो हो नहीं चरचा रो काम ॥२६॥

जो एकण नै अधर्म कहै, तो दूजा नै हो कहणो धर्म नें पाप ।
ए लेखो कियां तो लड़ पड़ै, त्यारा घट मै हो खोटी श्रद्धारा थाप ॥३०॥

वले सरणो लेइ श्रेणिक तणो, सावद्य बोलै हो तिणरी खबर न काय ।
जोरीदावै पेलानैं बरजिया, तिण माहे हो जिन धर्म बताय ॥३१॥

कहै श्रेणिक पड़ह फेराबियो, हणो मती हो फेरी नगरी मे आण ।
तिण मोक्ष हेते धर्म जाणियो, एहवो भाषै हो मिथ्यादिष्टि अजाण ॥३२॥

कहै राय श्रेणिक तो समकिती, धर्म बिना हो किम करसी ए काम ।
इम कहि-कहि भोला लोक नै, फंद मैं न्हाखै हो श्रेणिक रो ले नाम ॥३३॥

श्रेणिक नैं करी मुख आगलै, आमी-साहमी हो मांडी खांचा-ताण ।
आप छांदे उटका मेलता, किम पावै हो श्री जिनवर आण ॥३४॥

समदिष्टी तणो कोई नाम लै भरमावै हो अणसमझू अजाण ।
तो शकेंद्र समदृष्टि देवता, जिन भगता हो एका अवतारी जाण ॥३५॥
ते तो भाड़ आयो कोणक तणा, युद्ध कियो हो तिण सावद्य जाण ।
एक कोड़ असी लाख ऊपरे, मनुष्या रो हो कर दियो घमसाण ॥३६॥

श्रेणिकराय पड़हो फेरवियो, एतो जाणो हो मोटा राजांरी रीत ।
भगवन न सरायो तेहनैं, तो किम आवै हो तिणरी परतीत ॥३७॥

पहले कहा जाता था, जीवों को बचाना चाहिए तो अब उस न्याय पर स्थिर क्यों नहीं रहते ? जीव बचने का धर्म नहीं मानते। एक क्षण में धर्म की स्थापना करते है और दूसरे क्षण में बदल जाते हैं ।।२८।।

मन्दिर की ध्वजा की तरह अस्थिर रहकर ये बदलते हुए बोलते जाते हैं। ऐसे लोगों को जिनेश्वर देव ने पाखण्डी कहा है। उनका काम चर्चा करना नही, झगड़ा करना होता है ।।२६।।

एक कार्य में तो वे अधर्म कहते है और दूसरे में धर्म और पाप मिश्र रूप से कहते है। इस बात का न्याय मिलाने से वे झगड पड़ते है, क्योंकि उनके हृदय में विपरीत श्रद्धा घर किये हुए है ।।३०।।

श्रेणिक राजा का नाम लेकर सावद्य बात कहते हैं। बलपूर्वक किसी को पाप से रोक देने में जिन धर्म की प्ररूपणा करते है ।।३१।।

कहते है, श्रेणिक राजा ने 'पडह' बजवाया। नगर में यह उद्घोषणा कर दी कि प्राणी-वध मत करो। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहते है, यह सब उसने मोक्ष के हेतु से धर्म समझ कर किया था ।।३२।।

राजा श्रेणिक तो सम्यक्त्वी था। धर्म न होता तो वह ऐसा काम क्यों करता; यह कह-कहकर के भोले लोगों को फन्दे में डाला जाता है ।।३३।।

श्रेणिक का नाम आगे रखकर खींचतान खड़ी करते है। जिनेश्वर देव की आज्ञा कौन पालता है ? मनचाही गप्पे हांकते है ।।३४।।

कुछ लोग श्रेणिक सम्यग्दृष्टि था, यह कहकर अजान लोगों को भरमाते है। ऐसी बात है तो सम्यग्दृष्टि शकेन्द्र जो परम जिन-भक्त और एक भव के अन्तर से मोक्ष जाने वाला था, वह कोणिक के सहयोग में आया; सावद्य समझते हुए भी उसने युद्ध किया और एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का उसने सहार किया ।।३५-३६।।

इसी प्रकार श्रेणिक राजा ने जो ढिंढोरा पिटवाया, वह तो बड़े राजाओं की रीति थी। भगवान् महावीर ने इस कार्य की कहीं प्रशसा नहीं की तो ऐसा कहने वालों की प्रतीति कैसे हो ? ।।३७।।

पड़हो फेर्‌यो हणो मती, इनरी छै हो सूतर में बात।
कोइ धर्म कहै श्रेणिक भणी, ते नो बोलै हो चोड़े झूठ विख्यात ॥३८॥

लोका सू मिलती बात जाण नै, कर रह्या हो कूड़ी बकवाय।
मिश्र कहै ते पिण अटकता, साचा हुवै नो हो सूत्र मै दे बनाय ॥३९॥

एतो पुत्रादिक जायां परणियां, ओछवादिक हो ओरो सीतला जाण।
एहवो कारण कोई ऊपजै, श्रेणिक राजा हो फेरी नगरी में आण ॥४०॥

ते रुकिया नही कर्म आवता, नहीं कटिया हो तिणरा आगला कर्म।
नरक जातो रह्यो नही, न सीखायो हो तिणनै भगवत धर्म ॥४१॥

भगवते मोटा-मोटा राजवी, प्रतिबोध्या हो आण्या मारग ठाय।
साधु श्रावक धर्म बतावियो, न सीखायो हो पड़हो फेरणो ताय ॥४२॥

तो श्रेणिक सीख्यो किण आगलै, भगवंत हो पूछ्या साझे मून।
बले न जणावै आमना, आज्ञा बिना हो करणी जाणो जबून ॥४३॥

वासुदेव चक्रवर्ती मोटका,
त्यांरी वरते हो तीन-छ खंड में आण।
जो पडहो फेरचां मुगति मिले,
तो कुण काढ़ै हो आघो जिन धर्म जाण ॥४४॥

कोउ रांगण दिवादिक स्नान नै,
विस्न सातूं हो बिना मन दे छोडाय।
जो इणविध जिन धर्म नीपजै,
तो छ खंड में हो वरजे आण फेराय ॥४५॥

आगम में केवल इतना कथन है—जीव-हिंसा मत करो, ऐसा ढिंढोरा पिटवाया। श्रेणिक राजा को धर्म हुआ,ऐसा कहने वाले तो प्रत्यक्ष ही असत्य बोलते है ।।३८।।

लोकमत के अनुकूल समझकर इस बात पर व्यर्थ विवाद कर रहे हैं। मिश्र-धर्म भी अटकल वाजी से कहते है। यदि उनका कथन यथार्थ है तो वे शास्त्र का प्रमाण क्यों नही देते? ।।३९।।

पुत्रादि के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव या ओरी-चेचक आदि के उत्सव पर व अन्य किसी ऐसे कारण के पैदा होने पर श्रेणिक राजा ने नगरी में अपना ढिंढोरा फिरवाया होगा।।४०।।

उसमे श्रेणिक राजा के आने वाले कर्मो का अवरोध नही हुआ और न पूर्व-संचित कर्मो का नाश ही हुआ। वह नरक जाते भी नहीं रुका और भगवान् श्री महावीर ने उसको ऐसा धर्म सिखाया हो, ऐसी भी बात नही है।।४१।।

भगवान् महावीर ने बड़े-बडे राजाओं को प्रतिबोध देकर जिन-मार्ग पर लगाया। उनको भगवान् ने साधु-धर्म व श्रावक-धर्म बतलाया, पर 'पड़ह' फिरवाना कभी नही सिखलाया।।४२।।

भगवान् तो इस विषय में पूछने पर भी मौन रहते हैं, अपना अभिप्राय भी व्यक्त नही करते। फिर श्रेणिक को 'पडह' फिरवाना किसने सिखलाया? जिनेश्वर देव की आज्ञा के बिना कोई भी क्रिया निकृष्ट है।।४३।।

वासुदेव जिसकी तीन खण्डों में आज्ञा प्रवर्तमान थी; चक्रवर्ती जिसकी भारत-वर्ष के छहों खण्डों मे आज्ञा प्रवर्तमान थी, यदि ढिंढोरा पिटवाने से मुक्ति मिलती तो जैनधर्म में समझने वाला कौन व्यक्ति यह करने मे विलम्ब करता? ।।४४।।

चमड़ा रगना, दीप जलाना, स्नान करना और सातों व्यसन कोई किसी से बलपूर्वक छुड़ा देता है। यदि इस प्रकार जिनेश्वर देव का धर्म होता तो चक्रवर्ती छहों खण्डों में ऐसा न करने की दुहाई फिरा देते।।४५।।

फल फूल अनंत काय नों, हिंसादिक हो अठारै पाप जाण।
जोरीदावै पेलानै मना कियां,धर्म हुवै तो हो फेरै छ खंड में आण ॥४६॥

तीर्थंकर घर मे थका, त्यानें होता हो तीन ज्ञान विशेष।
हाल हुकम थो लोक मै, त्यां नही फेरचो हो पड़हो सूत्तर देख ॥४७॥

बलदेवादिक मोटा राजवी, घर छोड़ी हो किया पाप-पचखाण।
श्रेणिक जिम पड़हो न फेरियो, जोरीदावै हो न बरताइ आण ॥४८॥

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तेहनं, चित्त मुनि हो प्रतिबोधण आय।
साधु श्रावक नो धर्म कह्यो, पड़हा री हो न कही आमना काय ॥४६॥

बीसा भेदा रुके कर्म आवता, बारै भेदे हो कटै आगला कर्म।
ए मोक्ष रो मारग पाधरो, छोड़ा-मेला हो सगला पाखंड धर्म ॥५०॥

दोय वेश्या कमाई वाटै गई, करता देख्या हो जीवा रा सघार।
दोनूं जण्या मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार ॥५१॥

एक जणी गहणो देई आपरो, तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोड़ाया इण विधे, एका दोया हो चोथो आश्रव सेवाड़ ॥५२॥

एकण ने पापंडी मिसर कहै, तो दूजी नैं हो पाप किणविध होय।
जीव बरावर बचाविया, फेर पड़ियो हो ते तो पाप में जोय ॥५३॥

एकण सेवायो आश्रव पाचमों,तो उण दूजी हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पड़चो उण पाप में, धर्म होसी हो ते तो सरीषो थाय ॥५४॥

एकण नै धर्म कहितां लाजै नहीं, दूजोड़ी नै हो कहितां आवै शंक।
जब लोकां सू करै लगावणी,एहवो जाणो हो चोड़ै कुगरां रा डंक ॥५५॥

यदि बल-प्रयोग से किसी को निषेध करने में धर्म होता हो तो फल-फूल व अन्तकाय वनस्पति की हिंसा करने का और शेष पापों के सेवन का निषेध छहो खण्डों में किया जा सकता था ।।४६।।

तीर्थंकर जब गृहस्थावास में थे, उनके पास तीन ज्ञान थे। संसार में उनका आदेश-निर्देश भी चलता था। उन्होंने कभी 'पड़ह' नहीं फिरवाया। सूत्र ग्रथ इस बात के साक्षी हैं ।।४७।।

बलदेव आदि बड़े राजाओं ने गृह-त्यागकर पाप-प्रत्याख्यान किया,पर श्रेणिक की तरह 'पड़ह' फिरवाकर बलपूर्वक आज्ञा नहीं प्रवरताई ।।४८।।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्त मुनि प्रतिबोध देने के लिए आये। उसे साधु व श्रावक का धर्म बतलाया पर 'पड़ह' फिरवाने के लिए कोई इगित नही किया ।।४६।।

बीस प्रकार के संवर-भेदों से आते हुए कर्म रुकते है। बारह प्रकार के निर्जरा-भेदों से संचित कर्म टूटते है। ये दो सीधे मोक्ष के मार्ग है। दूसरी सारी खटपट पाखण्ड-धर्म है ।।५०।।

दो वेश्याएं कसाई खाने मे गई। जीवों का संहार होते देखा। दोनों वेश्याओं ने परस्पर विचार-विमर्श करके एक-एक हजार जीवों को मरते बचाया ।।५१।।

एक ने अपना गहना देकर एक हजार जीवों को बचाया, दूसरी ने एक या दो पुरुषों को अपने साथ अब्रह्मचर्य-सेवन का अवसर देकर एक हजार जीवों को छुड़ाया ।।५२।।

पाखण्डी एक को मिश्र-धर्म कहते है तो फिर दूसरी को केवल पाप कैसे हुआ ? जीव तो दोनों ने बराबर बचाये। अन्तर पड़ा तो पाप-प्रकार में पड़ा ।।५३।।

एक स्त्री ने पांचवे आश्रव परिग्रह का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आश्रव अब्रह्मचर्य का सेवन कराया। अन्तर तो इस पाप में चौथे व पांचवे की सख्या का पड़ा। धर्म यदि होगा तो दोनों को समान ही होगा ।।५४।।

एक को धर्म कहने में हिचकते नहीं, दूसरी को धर्म कहने में सशंक होते हैं। लोगों को बहकाते है। यह कुगुरुजनों का सांप की तरह दंश लेना है ।।५५।।

एक वेश्या सावद्य कामो करी, सहस्र नाणो हो लेगइ घर मांय ।
दूजी कर्तव्य करी आपणो, मरता राख्या हो सहस्र जीव छोड़ाय ॥५६॥

धन आण्यो खोटा कर्तव्य करी, तिणरै लागा हो दोनूं विध कर्म ।
दूजी जीव छोड़ाया तेहनै, उणरै लेखै हो हुवो पाप नै धर्म ॥५७॥

पाप गिणै मैथुन में, जीव वचिया हो तिणरो न गिणै धर्म ।
पांनै श्रद्धारी खबर पोतै नहीं, ताणी-ताणी हो बांधे भारी कर्म ॥५८॥

ए प्रश्न रो जाब न ऊपजै, चरचा मैं हो अटके ठाम-ठाम ।
तो पिण निरणा करे नहीं, बक ऊठे हो जीवारो ले नाम ॥५९॥

जीव जीवे काल अनाद रो, मरै तेहनी हो पर्याय पलटी जाण ।
संवर निर्जरा तो न्यारा कह्या, ते तो ले जावै हो जीवनै निर्वाण ॥६०॥

पृथवी पाणी अगन नै वायरो, वनस्पती हो छठी तसकाय ।
मोल ले छोड़ावै तेहनै, धर्म होसी हो ते तो सगला मे थाय ॥६१॥

तसकाय छोडाया धर्म कहै, पांच काय मे हो नही बोलै निशंक ।
भर्म मे पाड्या लोक नै, त्या लगाया हो मिथ्यात रा डंक ॥६२॥

त्रिविधे-त्रिविधे छकाय हणवी नही,
एहवी छै हो भगवंत री वाय ।
मोल लिया धर्म कहै मोक्ष रो,
ए फंद माड्यो हो कुगुरां कुबुद्धि चलाय ॥६३॥

देव गुरु धर्म रतन त्रिहुं, सूत्तर में हो जिन भाख्या अमोल ।
मोल लिया नहीं नीपजे, साची श्रद्धो हो आंख हियारी खोल ॥६४॥

एक वेश्या पापकारी कार्य करके सहस्र रुपए लेकर बलि-गृह में आई, दूसरी न्यायोपार्जित सहस्र रुपए लेकर। दोनों ने सहस्र-सहस्र जीव बचाए ॥५६॥

जिसने पापकारी कार्य करके धन कमाया, उसके दोनों ओर से कर्म-बंध हुआ। दूसरी ने जो जीव बचाए तो उनके अभिमतानुसार उसमें पाप और धर्म दोनों हुए ॥५७॥

अब्रह्मचर्य के सेवन में पाप माना जाता है और उससे जो जीव बचे, उसे धर्म नहीं मानते। उनकी मान्यता का पता उन्हें स्वयं नहीं चलता। व्यर्थ ही अपनी बात को तानकर सघन कर्म बाधते है ॥५८॥

इन प्रश्नों का उत्तर नही आता। चर्चा-प्रसग में बात-बात पर अटकते हैं तो भी निर्णय नही करते और जीवों का नाम लेकर बहक उठते हैं ॥५९॥

जीव अनादि काल से जी रहा है। जो मरता है, वह तो उसकी पर्याय बदलती है। सवर व निर्जरा की तो बात ही अलग है। वे तो आत्मा को मोक्ष ले जाने वाले हैं ॥६०॥

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; इन छ प्रकार के जीवों को मूल्य पर खरीदकर बचाने में यदि धर्म है तो इन सभी प्रकार के जीवो को तथाप्रकार से बचाने मे धर्म है ॥६१॥

केवल त्रसकाय को छुडाने में धर्म कहते हैं। पाच कायो को बचाने में निःशक बात नहीं कहते। उन्होंने लोगों को भ्रम मे डाला है और उनके मिथ्यात्व का डक मारा है ॥६२॥

तीन करण व तीन योग से छ काया के जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, ये भगवद्-वाक्य है। जीवों को मोल लेकर बचाने में जो मोक्ष-धर्म कहा जाता है, वह कुगुरुओं की कुबुद्धि का प्रपंच है ॥६३॥

शास्त्र में देव, गुरु व धर्म इन तीन रत्नों को जिन भगवान् ने अमूल्य कहा है। ये तीनों रत्न मोल लेने से प्राप्य नहीं हैं। हृदय की आंखें खोलकर सम्यक प्रकार से इस कथन में भरोसा करना चाहिए ॥६४॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप, मोक्ष जावा हो मारग छै च्यार।
त्यानैं भिन-भिन ओलख आदरै, शुद्ध पालै हो ते पामैं भव-पार ।।६५।।

दुहा

दया-दया सबको कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नै पालसी, त्यानै मुगत नजीक ।।१।।

आ दया तो पहिलो व्रत छै, साधु श्रावक नों धर्म।
पाप रुके तिण सूं आवता, नवा न लागै कर्म ।।२।।

छ काय हणै हणावै नहीं, हणिया भलो न जाणै ताय।
मन वचन काया करी, या दया कही जिनराय ।।३।।

आ दया चोखै चित्त पालसी, तिरै घोर रुद्र संसार।
वले याहिज दया परूपनै, भवि जीवानै उतारै पार ।।४।।

एक नाम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिणमें भेषधारी भूला घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ।।५।।

ढाल : ८

[राग—पाषंड मत रो निरणो कीजे]

द्रव्ये लाय लागी भावे लाय लागी, द्रव्येई कूवो नै भावेई कूवो।
भेद न जाणै मूढ मिथ्याती, संसार नै मुगत रो मारग जूवो।
भेषधर नै भूला रो निरणो कीज्यो ।।१।।

कोइ द्रव्ये लाय सूं बलतो राखै,
द्रव्ये कूवा सूं पड़ता नै झाल बचायो।
यो तो उपगार कह्यो इण भवरो,
जे विवेक विकल त्यानै खबर न कायो ।।२।।

मोक्ष-गमन के चार मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से पहचान कर, स्वीकार कर, शुद्ध प्रकार मे पालन करने वाला इस भव-सिन्धु से पार उतर जाता है।।६५।।

दोहा

दया-दया सभी कहते हैं और दया धर्म सही भी है। जो दया की छ न-बीन कर उसका पालन करेंगे, उनके मुक्ति निकट होगी।।१।।

यह दया तो साधु और श्रावक का पहला व्रत व धर्म है। इसमे आने वाले कर्म रुकते है व नये कर्मों का बन्ध नहीं होता।।२।।

मन, वचन, काया से षट्कायिक जीवों की हिंसा करे नहीं, करावे नही और करने वाले को अच्छा समझे नही, यह दया है; ऐसा जिन भगवान ने कहा है।।३।।

इसी दया का शुद्ध हृदय मे पालन कर मनुष्य घोर रौद्र संसार को तर जाता है और इसी दया की प्ररूपणा करके जीव संसार सिन्धु के पार उतर जाता है।।४।।

एक लौकिक दया है। उसके अनेक भेद है, जिनमे वेशधर साधु भूल रहे हैं। यह अब विवेकपूर्वक सुनो।।५।।

गीति : ८

आग लगी है और पापरूप आग लगी है। कुआं है और संसार रूप कुआं है। इन भेदो को मूर्ख मिथ्यादृष्टि नही जानते। संसार और मोक्ष का तो मार्ग ही पृथक्-पृथक् है।···साधु का वेश लेकर भी कैसे भूले है, इसका निर्णय करो।।१।।

कोई इस अग्नि में जलने से बचाता है या इस कुए में पड़ने से बचाता है; ये सब तो लौकिक उपकार है। विवेक-शून्य लोगों को इसका ज्ञान नही है।।२।।

घट में ज्ञान घाल नै पाप पचखावै,
तिण पड़तो राख्यो भव कूवा मांह्यो।
भाव लाय सू बलता नै काढे ऋषेश्वर,
ते पिण गेहलां भेद न पायो ॥३॥

सूनै चित सूत्तर वांचै अज्ञानी,
त्यांरै द्रव्य नै भाव रा नहीं निवेड़ा।
परवार सहित कुपंथ में पड़िया,
त्यां नरक सु सन्मुख दीधा डेरा ॥४॥

गृहस्थ नै औषध-भेषद देई नै,
अनेक उपाय करै जीवां बचावै।
ए संसार तणा उपगार कियां मैं,
मुगति रो मारग मूढ बतावै ॥५॥

करै मंत्र-जंत्र झाड़ा नै झपटा,
सर्पादिक नों जहर देवे उतारी।
काढ़े डाकण-साकण भूत यक्षादिक,
तिणमे इ धर्म कहै सांगधारी ॥६॥

एहवा किरतब सावद्य जाणी,
त्रिविधे-त्रिविधे साधा त्यागज कीधो।
भेषधारी लोका सू मिलनै अज्ञानी,
त्यां जीव बचावण रो सरणो लीधो ॥७॥

उवे जीव बचावण रो मुख सू कहै पिण,
काम पडयां बोलै फिरती बाणो।
भोला लोकां नै भ्रम में पाड बिगोया,
ते पिण डूबै छै कर-कर ताणो ॥८॥

कीड़यां मकोड़ा नै लटां गजायां,
ढांढां रा पग हेठै चींथ्या जावै।

किसी के घट में ज्ञान पैदा कर पाप का प्रत्याख्यान करा दिया तो उसने उस व्यक्ति को संसार कूप में पड़ने से बचाया। इसी प्रकार साधु जन्म-मरण की अग्नि से जीवो को बचा लेते हैं। विक्षिप्त लोगो ने इसका भी रहस्य नहीं समझा है ॥३॥

मिथ्यादृष्टि लोग सूने मन से शास्त्र का अध्ययन करते हैं। उन्हें ऐहिक, पारलौकिक आदि भेदों का पता नही है। वे तो सपरिवार कुपथ में पड़कर नरक के नजदीक डेरा डाल रहे है ॥४॥

गृहस्थ को औषध-भैषज्य देकर अथवा अनेक अन्य उपाय करके बचाया। यह जो संसार का उपकार किया गया, उसे मूढ़ लोग मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं ॥५॥

यन्त्र, मन्त्र, झाड़ा-झपटा करके सर्पादिक का जहर उतार देते हैं, डाकिन, शाकिन, भूत, यक्ष आदि को निकाल देते हैं। वेशधारी साधु इन कार्यों में भी धर्म कहते हैं ॥६॥

इस प्रकार के कार्यो को सावद्य समझकर साधुओं ने तीन करण, तीन योग से छोड़ा है। वेशधारी साधुओं ने लोगो से मिलकर जीवों को जिलाने का शरण लिया है ॥७॥

वे जीवों को जिलाने की बात मुख से कहते है, किन्तु काम पड़ने पर बदल जाते है। भोले लोगों को भ्रम में डुबोया है और आग्रह कर-करके स्वयं भी डूबते हैं ॥८॥

कीड़े-मकोड़े, लट और गजाई आदि जीव भैंस आदि पशुओं के पैरों तले कुचले जाते हैं। वेशधारी साधु कहते हैं, हम जीव बचाते हैं तो उन जीवों को एक-

भेषधारी कहै म्हैं जीव बचावां,
तो चुण-चुण जीवांनैं क्यूं न बचावैं ॥९॥

कोइ आखै चोमासैं उपदेश देवैं तो,
दश पाच जीवानें दोरा समझावैं।
जो उद्यम करैं च्यार महिनां मांहे,
तो लाखा गमैं जीव तेह बचावैं ॥१०॥

सो घरा रै अं।र कोइ लेवैं सथारो,
तो तुरत आलस छोड़ देवण जावैं।
सो पगला गयां लाखा जीव वचै छै,
त्या जीवांनें जाये क्यूं न बचावैं ॥११॥

घर छोड़तो जाणैं सो कोशा उपरैं,
तो साग पहिरावण मताब सू जावैं।
एक कोश गया जीव कोड़ां ब रै छै,
त्यां जीवानें जाय क्यूं न बचावैं ॥१२॥

जब तो कहै म्हारो कल्प नहीं छै,
म्हे तो संसार थी हूवा न्यारा।
कब ही कहै म्है जीव बचावा,
उवे बाणी न बोलै एकण धारा ॥१३॥

साधु तो आपरा व्रत राखण नै,
त्रिविधे-त्रिविधे जीव नही सतावैं।
संसार माहे जीव पच रह्या छै, त्यां सू तो साधु हुवा निरदावैं।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ॥१४॥

जीवणो मरणो त्यांरो नही चावैं,
समझतो देखे तो साधु समझावैं।
ज्ञानादिक गुण घट मे घाली,
मुगत नगर में साधु पहुंचावैं ॥१५॥

एक करके क्यो नहीं चुग लिया करते ? ॥९॥

सारे चौमासे में उपदेश करके दस-बीस आदमियों को भी बड़ी कठिनता से समझाते है। यदि चार महीनों तक उक्त प्रकार से जीव बचाने का काम करें तो वे लाखों जीवों को सहज ही बचा सकते है ॥१०॥

सौ घरो की दूरी पर कोई व्यक्ति आमरण अनशन करता है तो आलस्य छोड़कर एकदम उसे अनशन दिलाने के लिए जाते है। सौ कदम जाने से ही लाखों जीव बच जाते है तो उन जीवों को जाकर क्यों नहीं बचाते ? ॥११॥

सौ कोस दूर भी कोई आदमी दीक्षा लेना चाहता है, वे वेशधारी उसे वेश देने के लिए बडे अभिमान से जाते है। एक कोस दूर जाने में करोड़ों जीव बचते है, तो उन जीवो को जाकर क्यों नही बचाते ? ॥१२॥

तब कहते है, हम संसार से अलग हो गये है, ऐसा करना हमारा आचार नही है। कभी कहते है, हम जीव बचा सकते है। इस प्रकार एक जैसी बात नही कहते ॥१३॥

साधु तो अपने व्रत रखने के लिए तीन करण, तीन योग से किसी भी जीव को सताते नही। संसार में जीव लीन हो रहे है, उनसे साधुओं का लगाव नही है।" यही श्रद्धा जिन-भासित है ॥१४॥

उनका जीना, मरना साधु नहीं चाहते। समझने के योग्य वे होते हैं तो साधु उनको समझाते है। उनके घट में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि डालकर उन्हे मोक्ष-नगर पहुंचा देते हैं ॥१५॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
भेषधारी कहै म्हें तुरत बतावां।
ते पिण जीव बचावण काजै,
म्हें सर्व जीवारो जीवणो चावां ॥१६॥

अव्रती जीवारो जीवणो वांछै,
तिण धर्म रो परमारथ नही पायो।
या श्रद्धा अज्ञान्यांरी पग-पग अटके,
ते सांभलज्यो भवियण चित ल्यायो ॥१७॥

गृहस्थ रै तेल जाये मूण फूटां,
ते कीड़्यां रा दर माहे रेलो आवै।
बिच मैं जीव आवै ते तेल सू बहिता,
बले तेल बुहो-बुहो अगनि मैं जावै ॥१८॥

जो अगनि ऊठै तो लाय लागै छै,
तो तस स्थावर जीव मार्‌या जावै।
गृहस्थ रा पग हेठै जीव बतावै,
तो तेल ढुलै ते बासण क्यू न बतावै ॥१९॥

पग सूं मरता जीव बतावै,
तेल सू मरता जीवांनै नहीं बतावै।
या खोटी श्रद्धा उघाड़ी दीसे,
पिण अभिन्तर आधारै नजर न आवै ॥२०॥

बले भेषधारी विहार करतां मारग मै,
त्यानें श्रावक माहमां मिलिया आयो।
ते मारग छोड नें उज्जड पड़िया,
तस थावर जीवानै चीथता जायो ॥२१॥

श्रावकां नें उज्जड़ पडिया जाणै,
तस थावर जीवांनै मरता देखै।

गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आ रहा है तो वेशधारी साधु कहते है, हम उसे तुरन्त बचाते हैं और यह भी कहते हैं कि जीव-रक्षा के उस समय हम सभा जीवों का जीना चाहते है ॥१६॥

जो अव्रती जीवों का जीना चाहते है, उन्होंने धर्म का परमार्थ नहीं पाया। उन अज्ञानियों की मान्यता कदम-कदम पर अटकती है। भव्य जनों को चित्त लगाकर उसका न्याय सुनना है ॥१७॥

गृहस्थ का तेल-भाजन फूट जाने से तेल बह रहा है। चीटियों के बिल में उसकी धाराए बहकर आती है। तेल के साथ बहते हुए जीव भी आ रहे है और वह तेल बहता हुआ अग्नि मे जा रहा है ॥१८॥

जो अग्नि उठती है तो लाय लग सकती है। त्रस और स्थावर जीव मर सकते हैं। गृहस्थ के पैरों के नीचे आने वाले जीवो को बताते है तो जिस भाजन से तेल बह रहा है, उसे क्यो नही बताते ? ॥१९॥

पैर से मरते जीवों को तो बतलाते है और तेल से मरते जीवों को नही बतलाते, यह तो प्रत्यक्ष ही विपरीत मान्यता है, किन्तु जिनके ज्ञानरूप नेत्र नही है, उनके समझ मे नही आती ॥२०॥

वेशधारी साधु विहार कर रहे है, रास्ते मे कुछ श्रावक उन्हे सामने आकर मिले। वे सब मार्ग-भ्रष्ट होकर त्रस-स्थावर जीवों को रौदते हुए उजड़ जा रहे हैं ॥२१॥

उज्जड़ पड़े हुए श्रावकों को और मरते हुए त्रस-स्थावर जीवों को वे देख रहे हैं। गृहस्थ के पैरों मे आने वाले जीव को यदि वे बताते हैं तो उनके कथनानुसार

गृहस्थ रा पग हेठे जीव बतावै,
तो मारग बताय देणो इण लेखै ॥२२॥

एक पग हेठै जीव मरै ते बतावै,
तो थोड़ा सा जीवानें बचता जाणो।
श्रावकां नै उज्जड़ सू मारग घात्या,
घणा जीव बचे तस स्थावर प्राणो ॥२३॥

एक पग हेठै जीव बचावै अज्ञानी,
ठालै बादल अंबर ज्यू गाजै।
त्याने श्रावक उजाड़ में मार्ग पूछै तो,
मोन साझै बोलना कांय लाजै ॥२४॥

थोड़ी दूर बताया थोड़ो धर्म हुवै तो,
घणी दूर बतायां घणो धर्म जाणो।
घणी दूर रो नाम लिया वक उठै,
त्यारी खोटी श्रद्धारा ए अहलाणो ॥२५॥

कोई आंधो पुरुष गामातरे जाता,
ऊ आंख बिना जीव किणविध जोवै।
कीडया मकोड़ादिक चीथतो जावै,
तस स्थावर जीवारी घमसाण होवै ॥२६॥

भेषधारी सहजाई साथे जाता,
आंधा रा पग सू जीव मरता देखै।
जो पग-पग जीवानै नहीं बतावै,
तो खोटी श्रद्धा जाणज्यो इण लेखै ॥२७॥

त्यांनें बताय-बताय ने जीव बचावणा,
के पूजी-पूजी ने करणो दूरो।
इण धर्म कारण सू तो पोतैई लाजै,
तो दूजो कुण मानसी यो मत कूड़ो ॥२८॥

उन श्रावकों को मार्ग भी बता देना चाहिए ।।२२।।

किसी एक के पैरो के नीचे आने वाले जीवों को बतलाने से तो थोडे से जीव ही बचते है । श्रावकों को उज्जड़ से मार्ग डालने मे त्रस-स्थावर बहुत सारे जीव बच जाते है ।।२३।।

किसी एक के पैर नीचे आने वाले जीवों को तो अज्ञानी बतलाते है, खाली बादल की तरह आकाश में गूजते है; पर जंगल में श्रावक मार्ग पूछते है तो बोलते लज्जित होकर मौन क्यों रखते है ।।२४।।

थोड़ी दूर बताने मे थोड़ा धर्म होता है तो अधिक दूर बताने में अधिक धर्म होना चाहिए। अधिक दूर का नाम लेते ही बकने लगते है। यह असत्य मान्यता की निशानी है ।।२५।।

कोई अन्धा पुरुष दूसरे गांव जा रहा है। वह आख के बिना जीवों को कैसे देख सकता है ? वह वनस्पति प्रभृति स्थावर और चीटी-मकोड़े प्रभृति त्रस जीवो को कुचलता चलता है। इस प्रकार जीवो का सहार होता ।।२६।।

वेशधारी साधु सहज ही उसके साथ चल रहे है और अन्धे पुरुष के पैरों से मरने वाले जीवों को भी उन्होने देख लिया है, ऐसी स्थिति मे यदि वे कदम-कदम पर जीवों को नही बचाते तो उनकी मान्यता को अशुद्ध मान लेना ही चाहिए ।।२७।।

या तो उस अन्धे को बता-बताकर जीवो को बचाना चाहिए या प्रमार्जन कर-करके उन्हे दूर करना चाहिए। ऐसा धर्म करने से यदि स्वयं ही लज्जित होते है तो कौन इस असत्य मत को मानेगा ।।२८।।

बले ईल्या सुलसुलियां सहित आटो छै,
ते गृहस्थ रै ढुलै मारग मांयो।
तपती रेत उनालारी तिण मैं,
पड़त पाण जुदा हुवै जीव कायो ॥२६॥

गृहस्थ नहीं देखै आटो ढुलतो,
ते भेषधारचां री निजरयां आवै।
उवे पग सू मरता जीव बतावै,
आटे ढुलते मरता जीव क्यू न बतावै ॥३०॥

इत्यादिक गृहस्थ रा अनेक उपधि सू,
तस स्थावर जीव मूवानै मरसी।
ते पग हेठै जीव बतावै त्यानै,
सगली ठोड़ बतावणा पड़सी ॥३१॥

किणहिक ठोड़ै जीव बतावै,
किणहिक ठोड़ शका मन आणै।
समझ पड़चा बिन श्रद्धा परूपै,
पीपल बाधी मूर्ख ज्यू ताणै ॥३२॥

ए पग-पग जाव अटकता देखै,
कदा सर्व आरै हुवै अज्ञानी थूलो।
कूड़-कपट करै मत कुशले राखण नै,
पिण बुद्धिवंत बात न मानै मूलो ॥३३॥

गृहस्थ रो न वाछणो जीवणो मरणो,
ते वाछ बतायां लागै पाप कर्मो।
राग द्वेष रहित रहणो निरदावै,
एहवो निकेवल श्रीजिन धर्मो ॥३४॥

समोसरण ते एक जोजन मांडला मे,
तठे नर-नारचां रा वृन्द आवै नै जावै।

इल्ली और सुलसल्यों सहित आटा है, किसी गृहस्थ से मार्ग में गिर रहा है। ग्रीष्म-काल की तप्त धूलि में उन जीवों के पड़ते ही प्राण व शरीर जुदा हो रहे हैं ।।२६।।

उस गृहस्थ को आटा गिरने का ध्यान नही है और वह वेशधारी साधुओं की नजरों में आ गया है। वे पैर से दबकर मरने वाले जीवों को बताते हैं तो आटा गिरने से मरने वाले जीवों को क्यों नही बताते है ? ।।३०।।

इस प्रकार गृहस्थ के अनेक उपकरणों से त्रस-स्थावर जीव मरते रहे है और मरते रहेंगे। यदि पैर के नीचे आने वाले जीवों को बतलाते हैं तो उन्हे सभी जीवों को बतलाना पड़ेगा ।।३१।।

किसी स्थान पर वे जीवों को बतलाते है और किसी स्थान पर वे ऐसा करने में सशक होते हैं। बिना समझे बूझे जो अपनी मान्यता स्थिर करते है, वे मूर्ख बहू की तरह पीपल के तने को बाधकर खीचते है ।।३२।।

जब वे अपने उत्तर को स्थान-स्थान पर रुकते हुए देखते हैं तो कभी-कभी वे स्थूल अज्ञानी सभी प्रसगो पर जीव बतलाने की हाँ करते है। यह सब झूठ और कपट की मान्यता को सकुशल रखने के लिए किया जाता है, परन्तु बुद्धिमान् जरा भी उनकी बात को नही मानते ।।३३।।

गृहस्थ के जीने और मरने की वांछा न करनी चाहिए। वांछा करके बताने में पाप-कर्म का बन्ध होता है। जिनेश्वर देव के धर्म के अनुसार तो राग-द्वेष रहित होकर तटस्थ रहना चाहिए। निकेवल यही श्रद्धा जिन-भाषित है।।३४।।

चार कोश गोलाकार स्थान मे समवसरण लगता है। वहां स्त्री-पुरुषों के समूह आते हैं, जाते हैं। अरिहन्त देव की वाणी सुनने के लिए वे आते है और

अरिहंत आगै बाणी सुणवा त्यांने,
भगवंत भिन्न-भिन्न भाव सुणावै ॥३५॥

च्यार कोश मा हे त्रस-स्थावर हूंता,
मर गया जीव उराणे आया।
नर-नारयां रा पग सू बिन उपयोगे,
पिण भगवत कठेयन दीसे बताया ॥३६॥

नन्द मणियारो डेडको हुई नै,
वीर वांदण जातो मारग मांयो।
तिण नै चींथ मारयो श्रेणिक रे बछेरे,
वीर साधु साहमा मेहली क्यू न बचायो ॥३७॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
साधा नै बतावणो कठेय न चाल्यो।
भारी कर्मा लोका नैं भिष्ट करण नै,
यो पिण घोचो कुगुरा रो घाल्यो ॥३८॥

जब साधा रो नाम तो अलगो मेलै,
श्रावकां री चरचा मुख ल्यावै।
साधा सू मरता जीव साधु बतावे,
ज्यू श्रावक श्रावका नै जीव बतावै ॥३९॥

सिद्धांतरा बल बिन बोलै अज्ञानी,
श्रावका रो संभोग साधां ज्यूं बतायो।
ए गाला ए गोला मुख सू चलाया,
ते न्याय सुणो भवियण चित ल्यायो ॥४०॥

साधां रा पग हेठै जीव मरे ते,
संभोगी साधु देखी जो नहीं बतावै।
तो अरिहंतनी आज्ञा लोपावै,
पाप लागो नें विराधक थावै ॥४१॥

अरिहन्त देव उन्हे विविध विषय समझाते हे ।।३५।।

चार कोश के उस क्षेत्र मे त्रस-स्थावर अनेक जीव थे। स्त्री-पुरुषों के बिना उपयोग से उन के पैरों में आकर अनेकों जीव यों ही मर गये होगे ? किन्तु भगवान् ने उन जीवों को बताया हो; ऐसा कही नही आता ।।३६।।

नन्दन मणिहारा अपने मेंढ़क के भव में भगवद्-वंदन के लिए जा रहा था। श्रेणिक के घोड़े के पैर के नीचे आकर वह मर गया। महावीर स्वामी ने साधुओं को सामने भेजकर उसे क्यों नही बचाया ? ।।३७।।

गृहस्थ के पैर के नीचे जीव आते हों, साधु उसे बताये, यह कही नही आया है। बहुकर्मी लोगों को भ्रष्ट करने के लिए कुगुरु लोगों का ही मारा । यह तीर है।।३८।।

तब वे साधुओं का नाम तो अलग कर देते हे और श्रावकों की चर्चा मुह पर लाते हे। कहते हे—साधु से मरते हुए जीवो को जैसे साधु बतलाते हं, वैसे ही श्रावक मे मरते हुए जीवो को श्रावक बतलाते हे ।।३९।।

अज्ञानी लोग शास्त्र के बल बिना बोलते हे और साधुओ की तरह श्रावकों का भी पारस्परिक संभोग बतलाते हे। ये कपोल-कल्पित बाते मुह से यों ही कह दी। भव्यजन चित्त लगाकर इसका न्याय सुनें ।।४०।।

किसी साधु के पैर के नीचे आकर कोई जीव मर रहा है। यदि कोई संघ का साधु उसे जानते हुए भी नहीं बताता तो वह अरिहन्त की आज्ञा का लंघन करता है, पाप-उपार्जन करता है और वह विराधक अर्थात् आराधना रहित हो जाता है।।४१।।

साधु तो साधां नें जीव बतावै,
ते पोता रो पाप टलावण रै काजै।
श्रावक श्रावकां नै जीव नहीं बतावै,
तो किसो पाप लागो किसो व्रत भाजै ॥४२॥

श्रावक श्रावक नें न बतायां पाप लागो कहै,
यो भेषधारचा मत काढ्यो कूड़ो।
श्रावका रै संभोग साधा ज्यू हुवै तो,
पग-पग बंध जाये पाप रा पूरो ॥४३॥

पाट बाजोटादिक साधु बारै मेले नै,
ठरड़ै मात्रादिक कारज जावै।
लारै और साधु त्यांनै भीजतो देखै,
जो ऊ न लेवै तो प्रायश्चित आवै ॥४४॥

रोगी गरड़ा गिलाण साधु री व्यावच,
न करे तो श्रीजिन-आज्ञा बारै।
महामोहणी कर्म तणो बध पाड़ै,
इहलोक नें परलोक दोनूं बिगाड़ै ॥४५॥

आहार पाणी साधु बहिरी आणै,
सभोगी साधां नै बाट देवा री रीत।
आप आण्यो जाणी नै अधिको लेवै तो,
अदत्त लागै नै जावै परतीत ॥४६॥

इत्यादिक साधु-साधु रै अनेक बोलां रो,
संभोगी साधां सू न किया अटके मोखो।
या हिज बोलां रो श्रावक श्रावकां रे,
न करे तो मूल न लागै दोषो ॥४७॥

श्रावका रे संभोग साधां ज्यू हुवै तो,
श्रावक-श्रावक नें पिण इणविध करणो।

एक साधु दूसरे साधु को जीवादि बताता है, वह तो अपना पाप टालने के लिए। श्रावक श्रावक को यदि जीवादि नहीं बतलाते तो उनका कौनसा व्रत टूटता है व कौनसा पाप लगता है ? ॥४२॥

श्रावक श्रावक को यदि जीव नहीं बताता तो पाप है, यह वेशधारियों ने झूठा मत निकाला है। यदि श्रावकों का पारस्परिक संभोग अर्थात् आचार-कल्प साधुओं जैसा ही हो तो पग-पग पर पाप की गठरी बंधती रहेगी ॥४३॥

चौकी, तख्त आदि बाहर पड़े रहते है। साधु शरीर-चिंता की निवृत्ति के लिए गये हैं। पीछे जो साधु हैं, वे वर्षादि मे पाट-बाजोट आदि भीगते हुए देखते रहें, उन्हें उठाकर अन्दर न लाएं तो उन्हें प्रायश्चित्त आता है ॥४४॥

रोगी, वृद्ध और ग्लान साधु की वैयावृत्ति (सेवा) साधु न करे, यह जिन-आज्ञा के विरुद्ध है। वैयावृत्ति न करने वाला साधु महामोहनीय कर्म का बन्धन करता है और अपने लोक व परलोक दोनों बिगाड़ता है ॥४५॥

आहार व पानी साधु गोचरी (भिक्षा) से लाता है। उसके लिए अपने संभोगी साधु को संविभाग देने का विधान है। वह लाया है, इसलिए वह अधिक ले, तो उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है ॥४६॥

इस प्रकार अनेकों बोल हैं, जो संभोगी साधु के साथ यदि नहीं किये जाते हैं तो मोक्ष-गमन रुकता है, पर ये सभी बोल यदि श्रावक श्रावक के लिए नहीं करता तो उसे जरा भी दोष नहीं लगता ॥४७॥

श्रावक के भी साधुओं की तरह यदि संभोग हो तो उन्हें भी साधुओं की तरह करना चाहिए। अज्ञानी इस मान्यता का निर्णय नहीं निकालते। उन्होंने तो नीति

ए श्रद्धा रो निरणो न काढ़ै अज्ञानी,
त्यां विकल थई लीधो लोका रो सरणो ॥४८॥

जो ए श्रावक श्रावका रा नहीं करे तो,
भेषधारचा रे लेखै भागल जाणो।
त्या श्रावका रे सभोग साधा ज्यू परुप्यो,
ते पड़ गया मूरख उलटी ताणो ॥४९॥

श्रावक रे संभोग तो श्रावक सू छै,
बले मिथ्याती सू राखै भेलापो।
त्यारो संभोग तो अव्रत में छै,
ते त्याग किया सू टलसी पापो ॥५०॥

त्या सू सरीरादिक नो संभोग टालै नै,
ज्ञानादिक गुण रो राखै भेलापो।
उपदेश देइ निरदावै रहिणो,
पेलो समझ नै टालै तो टलसी पापो ॥५१॥

लाय लागी जो गृहस्थ देखै तो,
तुरत बुझावै छ काया मारी।
ए सावद्य किरतब लोक करै छै,
तिण मांहे धर्म कहै सांगधारी ॥५२॥

अगनि पाणी छ काय मरी त्यारो,
थोड़ासो पाप कहा हुवै कानी।
और जीव बच्या त्यारो धर्म बतावै,
लाय बुझावण री करै छै सानी ॥५३॥

ए पाप नें धर्म रो मिश्र परूपै,
तोटा बिचै लाभ घणो बतावै।
त्यां भेषधारचा री प्रतीत आवै तो,
लाय बुझावण दोड़चा जावै ॥५४॥

एहवी दया बतावै अज्ञानी,
छ काय रा पीहर नाम धरावै।

भ्रष्ट होकर गृहस्थों का शरण लिया है ॥४८॥

यदि श्रावक श्रावक के प्रति ये कार्य नहीं करते हैं तो वेशधारियो के मतानुसार वे व्रत-भ्रष्ट हैं। श्रावकों के संभोग को साधु-संभोग की तरह बताने वाले उल्टी खींचातान में पड़ गये ॥४९॥

श्रावक के श्रावक से सभोग है और मिथ्यात्वी से भी है। वे संभोग तो अव्रत में है। उनका तो परित्याग करने से ही पाप टलेगा ॥५०॥

उनसे शरीर आदि का संभोग टालना चाहिए और ज्ञानादि गुणों की एकता रखनी चाहिए। उपदेश देकर तटस्थ रहना चाहिए। अगला व्यक्ति समझ कर पाप टालना चाहेगा, तभी पाप टलेगा ॥५१॥

लाय लगते ही यदि गृहस्थ देख लेता है तो तत्काल छः काया की हिंसा करके भी उसे बुझाता है। यह सावद्य आचार लोगों का है, उसमें भी वेशधारी धर्म कहते हैं ॥५२॥

अग्नि, पानी आदि छः काय के जीवों की हिंसा हुई, उसमें थोडा-सा पाप कहकर अलग हो जाते हैं और जो जीव बचे उनका धर्म बतला कर अग्नि बुझाने का संकेत करते है ॥५३॥

यह पाप और धर्म की मिश्र-प्ररूपणा करते हैं। हानि से अधिक लाभ बतलाते है। इन वेशधारियों का विश्वास करते है, वे अग्नि बुझाने के लिए दौड़ते हुए जाते हैं ॥५४॥

इस प्रकार की दया अज्ञानी बतलाते हैं और छः काय के रक्षक होने का दावा

मिश्र धर्म कहै लाय बुझायां,
पिण प्रश्न पूछयां रो जाब न आवै ॥५५॥

छ काय जीवांरी हिसा कीधा,
और जीव बच्या त्यांरो कहै छै धर्मो।
ए श्रद्धा सुण-सुण नें बुद्धिवंता,
खोटा नाणा ज्यू काढ़चो भर्मो ॥५६॥

नित्य रा नित्य पाच सो जीवांनै मारै,
कोई करै कसाई अनारज कर्मो।
जो मिश्र धर्म छै लाय बुझायां,
तो इण नैई मारचा हुवै मिश्र धर्मो ॥५७॥

लाय सू बलता जीव जाणी नै,
छ काय हणै नै लाय बुझाई।
ज्यू कसाई सू मरता जीवांन देखै,
कोइ जीव बचावण हणै कसाई ॥५८॥

जो लाय बुझाया जीव बचै तो,
कसाई नै मारचां बचै घणा प्राणो।
लाय बुझाया, कसाई नै मारचा,
ए दोया रो लेखो बरोबर जाणो ॥५९॥

बले नाहर सिंघादिक चिता बघेरा,.
ए दुष्ट जीव करै पर घाता।
जो लाय बुझायां जीव बचै तो,
यांनेई मारचां घणा रै हुवै साता ॥६०॥

दुहा

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिण मैं अवगुण अनेक।
दया धर्म मैं गुण घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ॥१॥

करते हैं। अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म कहते हैं, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसका जबाव नहीं आता ।।५५।।

षट्कायिक जीवों की हिंसा करने में जो दूसरे जीव बचे, उनका धर्म कहते है, इस मान्यता को सुनकर जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने तो खोटे रुपये की तरह पहचान कर भ्रम निकाल दिया है ।।५६।।

कोई अनार्य कर्मी कसाई प्रतिदिन पांच सौ जीवों को मारता है। यदि अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म है तो कसाई को मार देने में भी मिश्र-धर्म होना चाहिए ।।५७।।

अग्नि मे जलते जीवों के लिए षट्कायिक जीवों की हिंसा करके आग बुझाई जाती है, वैसे ही कसाई से मरते हुए जीवों को देखकर कोई जीवों को बचाने के लिए कसाई की हत्या कर डालता है ।।५८।।

जो अग्नि को बुझाने से जीव बचते हैं तो कसाई को मार देने से बहुत सारे जीव बच जाते हैं। अग्नि को बुझाने और कसाई को मार देने, इन दोनो का लेखा बराबर समझना चहिए ।।५९।।

सिंह, चीता, बाघ, नाहर ये दुष्ट जीव दूसरे जीवों की हत्या करते है। यदि अग्नि बुझाने में जीव बचते हैं तो उन दुष्टों को मार देने में भी बहुत लोगों के साता हो जाती है ।।६०।।

दोहा

जीव-हिंसा अति बुरी है। उसमें अनेक अवगुण भरे हैं। जो दया धर्मी होते हैं, उनमें अनेक गुण होते हैं। उन्हें विवेक पूर्वक सुनो ।।१।।

ढाल : ९

[राग—यो भल रे सीता पति आयो]

दया भगोती छै सुखदाई, ते मुगति पुरी नी साई जी।
साठ नाम दया रा कह्या जिन, दशमां अंग रै माहि जी।
दया धर्म श्रीजिनजी री बाणी ।।१।।

पूज्यनीक नाम दया रो भगोती, मंगलीक नाम छै नीको जी।
जे भवि जीव आया इण सरणे, त्यांनै छै मुगति नजीको जी ।।२।।

त्रिविधे-त्रिवधे छ काय न हणवी, या दया कही जिनरायो जी।
तिण दया भगोती रा गुण छै अनंता, ते पूरा केम कहिवायो जी ।।३।।

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय जीवा नै, भय नही उपजावै तामो जी।
ए अभय दान कह्यो भगवंते, ए पिण दया रो नामो जी ।।४।।

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय मारण रा, त्याग करै मन सुद्धे जी।
या पूरी दया भगवंते भाषी, तिण सूं पाप रा बारणा रूंधे जी ।।५।।

त्याग किया बिन हिंसा टालै, तो कर्म निर्जरा थायो जी।
हिंसा टाल्यां शुभ जोग वर्ते छै, तिहां पुन्न रा थाट बंधायो जी ।।६।।

इण दया सूं पाप कर्म रुक जावै, बले कर्म करै चकचूरो जी।
यां दोय गुणां मैं अनंत गुण आया, ते पालै छै बिरला सूरो जी ।।७।।

याहिज दया छै महाव्रत पहिलो, तिणमें दया दया सर्व आई जी।
ते पूरी दया तो साधु जी पालै, बाकी दया रही नही कांई जी ।।८।।

गीति : ९

दया भगवती अत्यन्त सुखदायी है। वह मोक्षपुरी की स्वीकृति है। दशवें अंग प्रश्नव्याकरण सूत्र में दया के साठ नाम कहे हैं। ···दया धर्म जिनेश्वर देव की वाणी है ।।१।।

दया का पूज्यनीय और मांगलिक नाम भगवती है। जो भव्य प्राणी इसकी शरण आये है, उनके मुक्ति निकट है ।।२।।

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवो की हिंसा न करना, जिनेश्वर देव ने इसे दया कहा है। उस दया भगवती के अनन्त गुण हैं, उन्हें पूरा कैसे कहा जा सकता है ? ।।३।।

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों को भय न उपजाना, इसे भगवान् ने अभयदान कहा है। यह भी दया का एक नाम है ।।४।।

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों को मारने का शुद्ध मन से त्याग करना, यही पूर्ण दया भगवान् ने कही है, इससे पाप-आगमन के द्वार रुकते है ।।५।।

त्याग किये बिना भी यदि दया पाली जाती है, तो भी कर्म टूटते है। हिंसा से बचाने में शुभ योगों की प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य समूह का बन्धन होता है ।।६।।

इस दया से आने वाले पाप कर्म रुक जाते है और संचित कर्म चूर-चूर हो जाते हैं। इन दो गुणो में अनन्त गुण आ जाते है। बिरले शूर ही इस दया का पालन करते है ।।७।।

यही दया तो प्रथम महाव्रत है, जिसमें समग्र दया का समावेश है। उस पूर्ण दया का पालन साधु करते है। उससे अवशेष कोई दया नही रह जाती ।।८।।

छ काय नें हणे हणावै नांहो, बले हणतां ने नहीं सरावै जी।
इसड़ी दया निरन्तर पालै, त्यांरे तुले बीजो कुण आवै जी ॥६॥

याहिज दया चोखै चित पालै, ते केवलियां री छै गादी जी।
याहिज दया सभा मैं परूपै, तिणनैं वीर कह्यो न्यायवादी जी ॥१०॥

याहिज दया केवलियां पाली, मनपर्यव अवधिज्ञानी जी।
बले मतिज्ञानी नै श्रुतिज्ञानी, याहिज दया मन मानी जी ॥११॥

याहिज दया लब्धीधारयां पाली, या ही पूर्वधर ज्ञानी जी।
शंका हुवै तो निशंक सू जोवो, सुतर मैं नही छै वात छानी जी ॥१२॥

देश थकी दया श्रावक पालै, तिणनैं पिण साधु बखाणै जी।
ते श्रावक हिंसा करै घर बैठो, पिण तिण मांहे धर्म न जाणै जी ॥१३॥

प्राण भूत जीव नें सत्व,
त्यांरी घात न करणी लिगारो जी।
या तीन काल रा तीर्थंकरा नी वाणी,
आचारंग चोथा अध्येन मझारो जी ॥१४॥

मत हणो मत हणो कह्यो अरिहंतां,
तो ए जीव हणै किण लेखै जी।
ज्यांरी अभितर आंख हिया री फूटी,
ते सूतर साहमो न देखै जी ॥१५॥

जीव री हिंसा छै महा दुखदाई,
ते नरक तणी छै साई जी।
खोटा-खोटा नाम तीस हिंसा रा,
कह्या दशमा अंग रै मांहि जी।
हिंसा धर्म कुगुरा री वाणी ॥१६॥

छः काय के जीवों को मारे नहीं, मरवाये नहीं और मारने वाले की प्रशंसा करे नहीं; ऐसी दया का जो निरन्तर पालन करते हैं, उनकी तुलना में दूसरा कौन आ सकता है ? ॥९॥

इसी दया का भले मन से पालन किया जाता है तो वह केवलियों का परम्परा है। इसी दया का जो सभा में निरूपण करता है, उसे भगवान् महावीर ने न्यायवादी कहा है ॥१०॥

केवलज्ञानियों ने भी इसी दया का पालन किया है और मनःपर्यव ज्ञानियों अवधिज्ञानियों, मति ज्ञानियो व श्रुत ज्ञानियों ने भी इसी दया का पालन किया है ॥११॥

इसी दया का पालन लब्धिधर साधुओं ने भी किया है। इसी दया का पालन पूर्वधरो ने किया है। शका हो तो नि.शंक रूप से शास्त्रों को देख लेना चाहिए ॥१२॥

उसी दया का आंशिक पालन श्रावक करता है, उसकी भी साधु प्रशंसा करते हैं, परन्तु जो श्रावक घर बैठा हिंसा करता रहता है, उसे साधु धर्म नहीं मानते ॥१३॥

आचारांग सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है, प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों ही काल के तीर्थंकरों की वाणी है ॥१४॥

अरिहन्त प्रभु ने साधु को माहण अर्थात् 'मत हणो' इस शब्द से सम्बोधित किया है तो फिर यह जीवों की हिंसा किस आधार से करते हैं। जिनके अन्तरंग नेत्र लुप्त हो गये हैं, वे आगम की ओर नहीं देखते ॥१५॥

जीव-हिंसा दुःख देने वाली है। वह नरक-गमन की स्वीकृति है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के तीस नाम बहुत ही बुरे-बुरे बतलाये हैं। ···हिंसा धर्म कुगुरु की वाणी है ॥१६॥

प्राण घात हिंसा छै खोटी,
ते सर्व जीवां नै दुखदायो जी।
तिण जीव हिंसा मैं अवगुण अनेक,
ते पूरा केम कहिवायो जी ॥१७॥

केई कहै म्हें हिंसा कियां मे,
जाणा छां पाप एकंतो जी।
पिण हिंसा कियां बिना धर्म न हुवै,
म्हें किणविध पूरा मन खंतो जी ॥१८॥

केई कहै म्हें हणा एकेन्द्री, पंचेन्द्री जीवां रे तांई जी।
एकेन्द्री मार पचेन्द्री पोष्या, धर्म घणो तिण मांहि जी ॥१९॥

एकेन्द्रिय थी पचेन्द्रिय ना, मोटा घणा पुन्य भारी जी।
एकेन्द्री मार पंचेन्द्री पोष्या, म्हाने पाप न लागै लिगारी जी ॥२०॥

केई इसड़ो धर्म धारी ने बैठा, ते तो कुगुरा तणो सीखायो जी।
निशंक थका छ काय ने मारै, बले मन माहै हर्षित थायो जी ॥२१॥

कोई पांच स्थावर नै सहल गिणी नें, मारचा न जाणै पापो जी।
तिण सू त्यांनें हणतां शंक न आणै,ए तो कुगुरा तणो परतापोजी ॥२२॥

पाच थावर नां आरंभ सेती, दुर्गति दोष बधारै जी।
कह्यो दशवैकालिक छठे अध्येने, तो बुद्धिवंत किणविध मारैजी ॥२३॥

छ काय जीवा नै जीवा मारी नै, सगासेण न्यात जीमावै जी।
ए प्रत्यक्ष सावद्य संसार नों कामो, तिण मांहें धर्म बतावै जी ॥२४॥

जीवां नै मारी नै जीवांनै पोषै,ते तो मारग संसार नों जाणो जी।
तिण मांहैं साधु धर्म बतावै, ते पूरा छै मूढ़ अयाणो जी ॥२५॥

हिंसा को प्राण-घात भी कहते है। वह सब जीवों के लिए दुःखदायी है। उस जीव-हिंसा में अनेकों अवगुण हैं, उन्हें पूरा कैसे कहा जा सकता है ? ॥१७॥

कुछ कहते है, हम जानते है कि हिंसा करने में एकान्त पाप होता है, पर हिसा किये बिना धर्म भी नही होता। हम अपनी धर्म-भावना को किस प्रकार पूरी करें ? ॥१८॥

कुछ लोग कहते है, पंचेन्द्रिय जीवों के लिए हम एकेन्द्रिय जीवों का विनाश करते है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवो को मारकर पंचेन्द्रिय जीवो को पोषित करने में बहुत बड़ा धर्म होता है ॥१९॥

एकेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय जीवो के पुण्य अधिक होते है, इसलिए एकेन्द्रिय जीवों को मार कर पंचेन्द्रिय जीवों को पोषित करने में हमें जरा भी पाप नहीं लगता ॥२०॥

जो ऐसा धर्म मन मे धारण किये बैठे है, वह तो कुगुरु लोगों का सिखाया हुआ है। वे निःशक होकर छः काय के जीवों को मारते है और मन मे हर्षित होते है ॥२१॥

कुछ लोग पाच प्रकार के स्थावर जीवों को सहज समझ कर उन्हें मारने में पाप नहीं समझते, इसलिए उन्हे नि.शंक रूप से मारते है। यह कुगुरु का प्रताप है ॥२२॥

पांच स्थावर की हिंसा मे दुर्गति रूप दोष बढ़ते हैं। दशवैकालिक के छठे अध्ययन मे जब यह कहा गया है तो बुद्धिमान् हिंसा कैसे करेंगे ? ॥२३॥

छः काय के जीवों को मारकर अपने सगे-सम्बन्धी व बिरादरी को खिलाते हैं, यह प्रत्यक्ष ही पापकारी और सांसारिक कार्य है। इसमे भी धर्म बतलाते है ॥२४॥

जीवों की हिंसा कर जीवों का पोषण करते हैं, यह संसार का मार्ग है। इसमें जो साधु धर्म बतलाते हैं, वे पूरे मूर्ख और अज्ञानी है ॥२५॥

मूला गाजर सकरकंद कांदा, इत्यादिक निलोती अनेको जी।
ते पिण दान दियां में पुन्न परूपै, तै बूडे छै बिना विवेको जी ॥२६॥

केई जीव खवायां में पुन्य परूपै, केई मिश्र कहै छै मूढ़ोजी।
ए दोनुंई हिसाधर्मी अनारज, ते बूडे छै कर कर रूढ़ोजी ॥२७॥

जीव खवायां मैं पुन्य परूपै, त्यारी जीभ बहै तलवारो जी।
बले पहरण सांग साधुरो राखै, धिग त्यांरो जमवारो जी ॥२८॥

केइ साधुरो बिड़द धरावै लोका मैं, बले बाजे भगवंन रा भगताजी।
पिण हिंसा मांहे धर्म परूपै, त्यारा तीन व्रत भागै लगता जी ॥२९॥

छ काय मारचा मे धर्म परूपै, त्यानें हिंसा छ काय री लागै जी।
तीन काल री हिंसा अनुमोदी, तिण सू पहलो महाव्रत भागै जी ॥३०॥

हिसा में धर्म तो जिन कह्यो नांहीं, हिंसा मे धर्म कह्या झूठ लागैजी।
इसड़ो झूठ निरन्तर बोलै, त्यांरो बीजोई महाव्रत भागै जी ॥३१॥

ज्यां जीवां नें मारचां धर्म परूपै,
त्या जीवां रो अदत्त लागोजी।
बले आज्ञा लोपी श्री अरिहंत नी,
तिण सु तीजोई महाव्रत भागो जी ॥३२॥

छ काय मारचां में धर्म बतावै, त्यारी श्रद्धा घणी छै ऊंधी जी।
ते मोह मिथ्यात मे जड़िया अज्ञानी, त्यानैं श्रद्धा न सूझै सूधीजी ॥३३॥

त्यांनें पूछयां कहै म्हें दयाधर्मी छां, पिण निश्चै छ काय रा घातीजी।
त्यां हिंस्या धर्म्यां ने साधु श्रद्धे केई, ते पिण निश्चै मिथ्याती जी ॥३४॥

मूला, गाजर, सकरकन्द, प्याज इत्यादि अनेक प्रकार की वनस्पति का दान करने में पुण्य का निरूपण करते हैं, वे बिना विवेक से डूब रहे है ॥२६॥

कुछ एक जीव-खिलाने में पुण्य की प्ररूपणा करते हैं और कुछ मूर्ख मिश्र-धर्म की। ये दोनों ही प्रकार के लोग हिंसाधर्मी हैं, अनार्य हैं और रूढ़िवश डूब रहे है ॥२७॥

जीवों की हिंसा में पुण्य का निरूपण करने वालों की जीभ तलवार की तरह चलती है। वे साधु का स्वांग रखते हैं। उनके जीवन को धिक्कार है ॥२८॥

कुछ लोग साधु होने का गौरव रखते हैं। लोगों में भगवान् के उपासक कहलाते हैं, पर हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते है। उनके तीन महाव्रत टूट जाते हैं ॥२६॥

छः काया की हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते हैं, उन्हें छः काया की हिंसा का दोष लगता है। तीन काल की हिंसा का अनुमोदन हुआ, इससे प्रथम महाव्रत भंग हुआ ॥३०॥

जिनेश्वर देव ने हिंसा मे धर्म कहा नही है और वे ऐसा कहते हैं, इसलिए उन्हें झूठ का दोष लगता है। फिर ऐसा झूठ वे निरन्तर बोलते रहते हैं, इसलिए उनका दूसरा महाव्रत टूट जाता है ॥३१॥

जिन जीवों को मारने में धर्म प्ररूपते है, उन जीवों का अदत्त लगता है। दूसरी बात हिंसा में धर्म की प्ररूपणा कर वे अरिहन्त प्रभु की आज्ञा का लघन करते है, इससे तीसरा महाव्रत भी भग हो जाता है ॥३२॥

छः काया को मारने में धर्म बतलाते है, उनकी मान्यता बहुत ही विपरीत है। वे अज्ञानी मोह और मिथ्यात्व मे जकड़े है। उन्हे सम्यक् मान्यता नहीं सूझ सकती ॥३३॥

वे भी पूछे जाने पर कहते हैं, हम दयाधर्मी हैं, पर वास्तव में वे छः काया के हिंसक हैं। उन हिंसाधर्मियो को यदि कोई साधु मानता है, वह भी निश्चित रूप से मिथ्यात्वी है ॥३४॥

केइ कहै साधु जीव बचावं, राखै रखावै भलो जाणैजी।
ते जिनमारग रा अजाण अज्ञानी, इसड़ी चरचा आणै जी ॥३५॥

साधु तो जीवां नें क्यां नै बचावै, ते पचे रह्या निज कर्मो जी।
कोई साधुरी संगत आय करै तो, सीखाय देवै जिन धर्मो जी ॥३६॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यारो जीवणो मरणो चावैजी।
त्यांरो जीवणो मरणो साधु बंछैतो, राग द्वेप बेहू आवै जी ॥३७॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो जीवणो मरणो खोटो जी।
त्यांनै हणवारो त्याग कियो तिण मांहें, दया तणो गुण मोटोजी ॥३८॥

असंजमजीतब नै बाल मरण, यां दोयांरी वांछा न करणी जी।
पंडित मरण नै सजमजीतब, यांरी आशा बंछा धरणी जी ॥३९॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो असंजमजीतब जाणोजी।
सर्व सावद्य त्याग किया त्यांरो, संजमजीतब एह पिछाणोजी ॥४०॥

त्रिविधे त्राइ छ काय रा साधु, त्यांरी दया निरंतर राखैजी।
ते छ कायरा पीहर छ काय नें मारयां, धर्म किसै लेखै भाखैजी ॥४१॥

छ कायरा जीवां नै हणै संसारी, त्यांरै बिचै पड़ै नहीं जायोजी।
बिचै पडयां व्रत भागै साधुरो, ते विकलां नै खबर न कायोजी ॥४२॥

केइ तो कहै साधु नै बिचै न पड़णो, केइ कहै बिचै पड़णोजी।
साधु नैं समभावे रहिणो, ते विकला रै नहीं छै निरणोजी ॥४३॥

कोई कहते हैं, साधु जीव बचाते हैं, जीव की रक्षा करते हैं, दूसरों से रक्षा करवाते है और रक्षा करने वाले को अच्छा समझते हैं। वे जैनधर्म के अजाण व अज्ञानी हैं जो ऐसी चर्चाए करते हैं ॥३५॥

साधु जीवों को क्यों बचाने लगेगे ? जीव तो अपने-अपने कर्मो के अनुसार सुख-दुःख पा रहे हैं। कोई निकट आकर साधु की सगति करेगा तो वे उसे जैन धर्म सिखलाएगे ॥३६॥

अव्रती जीव तो छः काया के शस्त्र है। साधु उनका जीना या मरना नहीं चाहेगा। यदि चाहेगा तो उसके मन में राग व द्वेष की प्रवृत्ति होगी ॥३७॥

छः काया के शस्त्र अव्रती जीवों का जीना व मरना दोनो ही बुरे हैं। उन जीवों को मारने का जो त्याग करता है, उस व्यक्ति में दया का विशेष गुण है ॥३८॥

असंयमजीवितव्य और बाल-मरण इन दोनों की वांछा नहीं करनी चाहिए। पंडितमरण और सयमजीवितव्य की वांछा करनी चाहिए ॥३९॥

अव्रती जीव षट्कायिक जीवो के शस्त्र है। उनके जीवन को असंयमी जीवन समझना चाहिए। जिन्होने सब प्रकार के सावद्य का त्याग किया है, उनका जीवन सयमी जीवन कहा जाता है ॥४०॥

साधु तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों के त्राता (रक्षक) है। वे उनके प्रति निरन्तर दया-भाव रखते है। वे षट्काय के रक्षक साधु षट्काय को मारने मे धर्म किस आधार से कहते है ? ॥४१॥

ससारी प्राणी छः ही काया के जीवों की हिंसा करते हैं। साधु उनके बीच में नही पडते। बीच में पड़ने से साधु का व्रत भग होता है। विवेकशून्य लोगो को इसकी खबर नही पड़ती ॥४२॥

कुछ तो कहते हैं, साधु को बीच में नहीं पड़ना चाहिए और कुछ कहते हैं, उन्हे बीच में पड़ना चाहिए। विवेकशून्य लोग यह नहीं समझ पाते कि साधु को तो समभाव से ही रहना चाहिए ॥४३॥

साधु नें बिचे पड़णो त्रिविधे निषेध्यो,
ते हणतां बिचे न पड़े जायो जी।
पिण गृहस्थ में धर्म कहै बिचे पड़ियां,
तो घररो धर्म कांय गमायो जी ॥४४॥

हणे जीतब नें प्रसंसा रे हेत, हणे मान नें पूजा रै कामोजी।
बले जनम-मरण मूकावा हणै छै, हणै दुःख गमावण तामो जी ॥४५॥

यां छ कारणा छ काय नें मारै तो, अहेत रो कारण थावे जी।
जनम-मरण मूकावण हणे तो, समकित रतन गमावे जी ॥४६॥

ए छ कारणे छ काय नें मारयां, आठ कर्मारी गांठ बंधायो जी।
मोहनें मार बधे घणी निश्चे बले पड़े नरक में जायोजी ॥४७॥

अर्थे अनर्थे हिंसा कीधां, अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रै कारण हिंसा कीधां, बोध बीजरो नाशो जी ॥४८॥

ए छ कारणे छ काय नें मारै, ते तो दुःख पामैं इण संसारोजी।
ए तो आचारंग रै पहले अध्ययने,छ उद्देशां मैं कह्यो विस्तारोजी ॥४९॥

केई समण माहण अनारज पापी, करै हिंसा धर्मरी थापो जी।
कहै प्राण भूत जीव नें सत्व, धर्म हेते हण्यां नहीं पापो जी ॥५०॥

एहवी ऊंधी परूपणा करै अनारज,
त्यांनै आरज बोल्या धर प्रेमोजी।
थें भूंडो दीठो नै भूंडो साभंलियो,
भूंडो मान्यो भूंडो जाण्यो एमोजी ॥५१॥

जीव मार्‌यां मैं धर्म परूपै,
ए तो अनारज री बाणोजी।
ते तो मूढ़ मिथ्याती भारी कर्मा,
त्यांरी सुध-बुध नहीं ठीकाणोजी ॥५२॥

साधु को बीच में पड़ने का तीन करण, तीन योग से निषेध है, इसलिए वे जीव-बध के समय बीच में नहीं पड़ते। फिर भी गृहस्थ के बीच में पड़ने में धर्म कहते हैं। तब उन्होंने घर के धर्म को ऐसे ही क्यों गमा दिया ? ॥४४॥

प्रशसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म व मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए और दुःख गमाने के लिए हिंसा की जाती है ॥४५॥

इन छः कारणों से छः कायों की हिंसा की जाती है तो वह अहित का कारण बनती है और यदि जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए हिंसा की जाती है तो सम्यक्त्वरूप रत्न ही गुम हो जाता है ॥४६॥

इन छः करणो से छः काय की हिंसा करने से आठ कर्मों की गांठ बंध जाती है। मोह और दुःख की निश्चित ही अभिवृद्धि होती है और जीव नरक में जाता है ॥४७॥

अर्थ या अनर्थ किसी भी रूप में हिंसा की जाती हो, वह अहित का कारण है। धर्म के लिए हिंसा करने में बोधि-बीज का नाश होता है ॥४८॥

छः कारण से छः काय की जो हिंसा करता है, वह इस संसार में दुःख पाता है। आचारांगसूत्र के पहले अध्ययन में छः उद्देशों के अन्तर्गत यह विस्तार से कहा गया है ॥४९॥

कुछ एक पापी श्रमण, ब्राह्मण, अनार्य हिंसा धर्म की स्थापना करते हैं। कहते है—धर्म के लिए प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा करने में पाप नहीं है ॥५०॥

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा अनार्य करते हैं। उन्हें आर्य लोग कहते हैं—"यह तुमने बुरा देखा, बुरा सुना, बुरा जाना और बुरा माना" ॥५१॥

जीव मारने में धर्म कहना, यह अनार्य की वाणी है। ऐसी प्ररूपणा करने वाले भारी कर्म वाले मूढ़ मिथ्यात्वी हैं, उनकी सुध-बुध ठिकाने नहीं है ॥५२॥

त्यां हिंसा धर्म्यां नै आरज पूछयो,
थांनैं मारयां धर्म के पापोजी।
जब तो कहै म्हांनैं मारयां छै पाप एकंत,
. साच बोले कीधी शुद्ध थापोजी ॥५३॥

जब आरज कहै थानैं मारयां पाप छै,
तो सर्व जीवा नै इम जाणो जी।
ओरां नैं मारयां धर्म परूपै,
थें कांय बूडो कर-कर ताणो जी ॥५४॥

इम हिंसा धर्मी अनारज त्यांनें,
कीधा जिन मार्ग सुं न्यारोजी।
जोवो आचारंग चोथा अध्ययन माहें,
बीजै उद्देशै विस्तारोजी ॥५५॥

ओरां नै मारयां धर्म परूपै,
आप नै मारयां कहै पापोजी।
या श्रद्धा विकलांरी ऊंधी,
तिण में कर रह्या मूढ़ विलापो जी ॥५६॥

अर्थ अनर्थ धर्म रै काजै,
जीव हणै छ कायो जी।
तिण नै मंद बुद्धि कह्यो दशमें अंगे,
पहिला अध्येन रे मांयो जी ॥५७॥

छ काय जीवां रो घमसाण करनै,
श्रावकां ने जीमावैजी।
उणनै मंद बुद्धि तो कह दियो भगवंत,
तिण नें धर्म किसी विध थावै जी ॥५८॥

कोई तो जीवा नै मार खवावै,
कोई जीव खवावै आखा जी।
तिण मांहैं एकंत धर्म परूपे,
ते अनारज री भाखा जी ॥५९॥

उन हिंसाधर्मियों को आर्य ने पूछा—तुम्हारा कोई बध करे तो वह धर्म है या पाप ? तब तो कहते हैं—हमें मारने में एकान्त पाप है। ऐसे अवसर पर तो सच बोलते हैं, शुद्ध मान्यता की स्थापना करते हैं ।।५३।।

जब आर्य कहते हैं—तुम्हें मारने में यदि पाप है तो सब जीवों के विषय में यही समझना चाहिए। दूसरों को मारने में धर्म कहकर और उसकी खींचातान कर क्यों डूब रहे हो ?।।५४।।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के चौथे अध्ययन के दूसरे उद्देशक में हिंसाधर्मी अनार्यों को जिन मार्ग से सविस्तार पृथक् किया गया है ।।५५।।

अन्य जीवों को मारने में धर्म कहते हैं और उन स्वयं को कोई मारे तो पाप कहते हैं। मूर्ख व ग्रथिल जनों की यह श्रद्धा विपरीत तथा प्रलाप मात्र है ।।५६।।

प्रयोजन से या बिना प्रयोजन से जो छः काया के जीवों की हिंसा करता है, उसे दशवे अंग सूत्र प्रश्नव्याकरण में मंद बुद्धि वाला कहा गया है ।।५७।।

छः काया के जीवों का संहार करके जो श्रावकों को खिलाता है, भगवान् ने जब उसे मन्द बुद्धि वाला कह दिया है तो फिर उसमें धर्म कैसे होगा ? ।।५८।।

कुछ लोग जीवों को मारकर खिलाते है और कुछ ज्यों-के-त्यों ही खिला देते हैं। इसमें एकान्त धर्म कहना, यह अनार्य-भाषा है ।।५९।।

केइ जीव मारयां में धर्म कहै छै,
ते पूरा अज्ञानी ऊंधाजी।
त्यांनें जाण पुरुष मिलै जिन मारग रो,
तो किणविध बोलावै सूधाजी ।।६०।।

लोह नों गोलो अगनी तपायो,
ते अग्नी वरणो करै तातोजी।
ते पकड़ संडासे आयो त्यां पासे,
कहै बलतो गोलो थें झालो हाथो जी ।।६१।।

जब पाषंडियां हाथ पाछो खेंच्यो,
जब जाणपुरुष कहै त्यांनैं जी।
थें हाथ पाछो खेंच्यो किण कारण,
थांरी श्रद्धा म' राखो छानैंजी ।।६२।।

जब कहै गोलो म्हें हाथे ल्यां तो,
म्हांरो हाथ बलै लागै तापोजी।
तो थांरो हाथ बालै तिणनैं पाप के धर्म,
जब कहै उणनैं लागै पापोजी ।।६३।।

थांरो हाथ बालै तिण नै पाप लागै तो,ओरां नै मारयां धर्म नाहिजी।
थें सर्व जीव सरीषा जाणो, सोच देखो मन माहिजी ।।६४।।

जे जीव मारयां में धर्म कहै तै, रूलै काल अनंतोजी।
सूयगड़ांग अध्ययन अठारमें, भाष गया भगवंतोजी ।।६५।।

स्थानक करावै छ काय हणै ते, करै अनंत जीवांरी घातोजी।
अहेतनो कारण निश्चै हुवो छै, धर्म जाणै तो आवै मिथ्यातोजी ।।६६।।

जब कहै म्हें स्थानक करावां तिण में, जाणा छां एकंत पापोजी।
तिण कहिवा नैं पाप कह्यो झूठ बोलै,श्रद्धा गोप बिगोयो आपो जी ।।६७।।

जो जीव मारने में धर्म कहते हैं, वे पूरे अज्ञानी व विपरीत हैं। उनको कोई जैनधर्म का ज्ञाता मिल जाता है तो उससे वे सीधी बात किस तरह करेंगे ।।६०।।

वह ज्ञाता-पुरुष एक लोह के गोले को तपाकर उसे अग्नि वर्ण जैसा लाल बनाकर, सडासे में पकड़ कर उन लोगों के पास आया और बोला यह गरमागरम गोला आप अपने हाथों में लें ।।६१।।

तब उन पाखंडियों ने अपना हाथ पीछे खींच लिया तो उस ज्ञाता-पुरुष ने उनसे कहा—तुमने अपना हाथ पीछे क्यों खींचा ? यह हमें स्पष्ट बताओ ।।६२।।

उन्होंने कहा—यदि यह गोला हम हाथ में लेते हैं तो ताप लगता है और हाथ जलता है। जब उनसे पूछा गया कि तुम्हारा हाथ जलाता है तो उसे पाप है या धर्म ? तो कहते हे पाप ।।६३।।

तुम्हारे हाथ जला देने में ही यदि पाप है तो दूसरों को मार देने में धर्म कैसे होगा ? मन में चिन्तन करके सभी जीवों को समान रूप से देखो ।।६४।।

जो आदमी जीवों को मारने में धर्म कहता हे, वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। सूत्रकृतांग सूत्र के अठारहवें अध्ययन में भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है ।।६५।।

छः काया के अनन्त जीवों की घात कर स्थानक बनवाते हे। यह निश्चित ही अहित का कारण है। उसमें यदि धर्म समझा जाता है तो मिथ्यात्व की निष्पत्ति होती है ।।६६।।

तब कहते हें—हम स्थानक कराते हैं, उसमें एकान्त पाप समझते हें। यह तो केवल कहने की बात है। असत्य बोलकर अपनी मान्यता छिपाई जाती है, अपने सत्व को नष्ट किया जाता है ।।६७।।

कोई मनुष्य आंतरियो छै तिण काले,धन उदके स्थानक काजोजी ।
जोऊ पाप जाणं तो परभव जाते, इसड़ो कांय कियो अकाजो जी ।।६८।।

घररो धन दे नै जीव मराया, ते अर्थ न दीसै कांईजी ।
अनर्थ पिण जाण्यो नहि दीसै, धर्म जाण्यो दीसै तिण मांहिजी ।।६९।।

हिंसारी करणी में दया नहीं छै, दयारी करणी में हिंसा नांहिजी ।
दया नै हिंसारी करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नै छांहीजी ।।७०।।

और वस्तु में भेल हुवै पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी ।
ज्यूं पूरव नै पश्चिम रो मारग, किणविध खाये मेलो जी ।।७१।।

केई दया नै हिंसारी मिश्र करणी कहै, ते कुड़ा कुहेत लगावै जी ।
मिश्र थापण नै मूढ़ मिथ्याती, भोला लोकां नै भरमावै जी ।।७२।।

जो हिंसा किया में मिश्र हुवै तो, मिश्र हुवै पाप अठारोजी ।
एक फिरचा अठारै फिरै छै, कोई बुद्धिवंत करज्यो विचारोजी ।।७३।।

जिन मारग री नींव दया पर, खोजी हुवै ते पावैंजी ।
जो हिंसा मांहे धर्म हुवै तो, जल मथियां घी आवैंजी ।।७४।।

संवत अठारै नै वर्ष चमालै, फागुण सुद नवमी रविवारोजी ।
जोड़ कीधी दया धर्म दीपावण, बगड़ी शहर मझारोजी ।।७५।।

दुहा

नमूं वीर शासण धणी, गणधर गौतम स्वाम ।
त्यां मोटा पुरुषां रा नाम थी, सीझै आतम काम ।।१।।

त्यां घर छोड़ी संजम लियो, भगवंत श्री वर्द्धमान ।
बारे वर्ष नें तेरे पखे, छदमस्थ रह्या भगवान ।।२।।

कोई मनुष्य मृत्यु-शय्या पर है। अपना धन स्थानक के लिए निकालता है। यदि वह पाप समझता है तो परभव जाते-जाते ऐसा अकार्य क्यों करता है ॥६८॥

अपना धन देकर जीवों को मरवाया, यह कोई अर्थ हिंसा हुई हो, ऐसा नहीं लगता। अनर्थ पाप भी उसको जाना हो, ऐसा नहीं लगता। सम्भव यही है कि उसने उसमें धर्म माना है ॥६९॥

हिंसा युक्त कार्य में दया नहीं है और दयायुक्त कार्य में हिंसा नहीं है। दया और हिंसा के कार्य इतने पृथक् हैं, जितने कि धूप और छाया ॥७०॥

और वस्तु में मिलावट हो सकती है, किन्तु दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मेल खा सकते हैं ? ॥७१॥

कुछ लोग दया और हिंसा से युक्त क्रिया को मिश्र क्रिया कहते हैं। उसके लिए असत्य हेतु लगाते हैं। अपनी उस मिश्र-क्रिया की स्थापना के लिए भोले लोगों को भरमा देते हैं ॥७२॥

जो हिंसा करने से मिश्र-धर्म होता है तो वह अठारह ही पाप करने से भी होगा। एक फिर जाने से अठारह फिर जाते है। बुद्धिमान् लोगों को इसका विचार करना चाहिए ॥७३॥

जैन-धर्म की नींव दया के ऊपर है। जो गवेषणा करता है, वही उसे पा सकता है। यदि हिंसा करने में धर्म हो सकता है तो जल मथने से घृत निकल सकता है ॥७४॥

विक्रम संवत् अठारह सौ चवालीस फाल्गुन शुक्ला नवमी रविवार के दिन बगड़ी शहर मे दया धर्म की प्रभावना के लिए यह रचना मैंने की है ॥७५॥

दोहा

शासनाधिनायक भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर गौतम स्वामी को प्रणाम करता हूं। उन महापुरुषों के नाम से आत्मा के कार्य सिद्ध होते हैं ॥१॥

भगवान् श्री महावीर ने गृहवास छोड़कर संयम ग्रहण किया। बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् छद्मस्थ रहे ॥२॥

त्यां गोसाला नैं चेलो कियो,ते तो निश्चै अजोग साख्यात ।
सराग भाव आयो तेहथी,ते पिण छदमस्थपणा री बात ।।३।।

तीर्थंकर छदमस्थ थकां, चेलो न करै दीक्षा देवै नांहि ।
धर्म कथा पिण कहै नही, जोवो सूतर रै मांहि ।।४।।

बारे वर्ष नें तेरे पख मझे,
दीक्षा दे चेलो न करयो कोय ।
एक गोसाला अजोग नें चेलो कियो,
निश्चै होणहार टलै नहीं सोय ।।५।।

तीर्थंकर साथे दीक्षा लिये, तिण नें दीक्षा दे जिनराय ।
पछै केवली नही हुवै त्यां लगै, किण नैं दीक्षा देवै नांय ।।६।।

गोसाला नें वीर बचावियो, छदमस्थ पणा रो सभाव ।
मोहराग आयो तिण ऊपरै, तिणरो विकल न जाणै न्याव ।।७।।

गोसाला नै वीर बचावियो, तिणरो मूरख थापै धर्म ।
सूने चित बकवो करै, ते भूला अज्ञानी भर्म ।।८।।

कहै भगवंत दीक्षा लियां पछै, न कियो किंचित प्रमाद नें पाप ।
जाणतां नें अजाणतां, कहै दोष न सेव्यो जिन आप ।।९।।

इम कही भोला लोकां भणी, न्हांखै छै फंद मांय ।
तिणरो न्याय निरणो यथातथ्य कहूं,ते सुणज्यो चित लाय ।।१०।।

ढाल : १०

[राग—पाषंड बधसी आरै पांचमैं]

गोसाला नें बचायो वीर सराग थीरे,
तिण मांहैं धर्म नहीं लिगार रे ।
यो तो निश्चै होणहार टलै नही रे,
तिणरो भोला नहीं जाणे मूल विचार रे ।
कुपात्र नें बचायां धर्म किहां थकी रे ।।१।।

उन्होंने गोशालक को अपना शिष्य बनाया। वह वास्तव में ही अयोग्य था। भगवान् उस समय छद्मस्थ थे। यह सब रागभाव के कारण हुआ ॥३॥

छद्मस्थ तीर्थंकर अपनी साधु-अवस्था में दीक्षा देकर किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते, न वे धर्म-कथा ही करते हैं। स्थानांगसूत्र के नवम ठाणे के अर्थ में यह बात कही है ॥४॥

बारह वर्ष और तेरह पक्ष में भगवान् ने किसी को शिष्य नहीं बनाया। केवल एक अयोग्य गोशालक को शिष्य बनाया। यह न टल सकने वाली भवितव्यता थी ॥५॥

तीर्थंकरों के साथ जो लोग दीक्षा लेते है, उन्हें तीर्थंकर दीक्षा देते हैं। फिर जब तक वे केवली नही बन जाते, तब तक किसी को दीक्षा नहीं देते ॥६॥

भगवान् श्री महावीर को छद्मस्थ स्वभाव के कारण मोह आया और उन्होंने गोशालक को बचाया। विवेकशून्य लोग इस न्याय को नहीं समझते ॥७॥

गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया। उसमें मूर्ख व्यक्ति धर्म कहते हैं। वे अज्ञानी भ्रम में भूल, बेभान होकर प्रलाप करते हे ॥८॥

कहते हैं, भगवान् ने दीक्षा लेने के पश्चात् ज्ञात-अज्ञात अवस्था में किंचित् भी प्रमाद व पाप का आचरण नहीं किया और न किसी अन्य दोष का सेवन ॥९॥

इस प्रकार कह कर अज्ञानी लोगों को फन्दे मैं डालते है। इस विषय का यथोचित न्याय मै अब यथाविधि कहता हूं। मन लगाकर सुनो ॥१०॥

गीति : १०

गोशालक को भगवान् ने सराग भाव से बचाया। उसमें किंचित् भी धर्म नहीं। यह तो निश्चित होनहार की बात थी। अज्ञानी इस मूल विचार को नहीं जान सकते। ...कुपात्र को बचाने में धर्म कहां से होगा ? ॥१॥

कुपात्र नैं बचायो वीर सराग थी रे,
तिण में म' जाणो कोई कूड़ रे।
शंका हुवै तो भगोती रो अर्थ देखनै रे,
खोटी श्रद्धा नै करद्यो दूर रे ॥२॥

भारी कर्मा जीवां नैं समझ पड़ै नहीं रे,
ते तो कुगुरां रे बदलै बोलै कूड़ रे।
ताणा-ताण में जासी ताणिया रे,
बहती अगाध नदी रे पूर रे ॥३॥

गोसालो तो अधर्मी अवनीत थो रे,
भारी कर्मो कुपात्र जीव रे।
बले दावानल छै जिन धर्म रो रे,
दुष्टयां में दुष्टी घणो अतीव रे ॥४॥

भगवंत ने झूठा पाण पापीये रे,
तिल नै उखेलियो पापी जाण रे।
मिथ्यात पड़िवजियो श्री भगवंत थी रे,
त्यांरी मूल न राखी पापी काण रे ॥५॥

जगत तणा सगला चोरां थकी रे,
गोसालो छै अधिको चोर निशंक रे।
बले कूड़ ने कपट तणो थो कोथलोरे,
तिणरे करड़ो मिथ्यात तणो छै डंक रे ॥६॥

तिण नै वीर बचायो बलतो जाणनै रे,
लब्धि फोड़वी सीतल लेश्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरै रे,
छदमस्थ गया तिण काले चूक रे ॥७॥

केई भेषधारी भागल इसड़ी कहै रे,
गोसाला नैं बचायां हुवो धर्म रे।
त्यां धर्म जिनेश्वर रो नहीं ओलख्यो रे,
ते तो भूल गया अज्ञानी भर्म रे ॥८॥

इसमें जरा भी असत्य नहीं है कि भगवान् ने उस कुपात्र को सराग भाव से बचाया था। किसी को शंका हो तो भगवतीसूत्र का अर्थ देखकर उस बुरी मन्यता को दूर कर देना चाहिए ॥२॥

बहुकर्मी जीवों को समझ नहीं होती। वे तो कुगुरु के बदले असत्य बोलते हैं। वे खींचातान करनेवाले, इसी खींचातान मे बहती नदी के अगाध पूर में बह जाएंगे ॥३॥

गोशालक तो अधर्मी, अविनीत, बहुकर्मी, कुपात्र, जैनधर्म के लिए दावानल और दुष्टों में अति दुष्ट था ॥४॥

भगवान् महावीर को असत्य करने के लिए उस पापात्मा ने तिल के पौधे को उखाड़ा। भगवान् का जरा भी आदर न रखकर उनके प्रति मिथ्यात्व का आचरण किया ॥५॥

जगत के चोरों में वह सबसे बड़ा चोर था और झूठ व कपट का भण्डार था। उसके मिथ्यात्व का डंक बहुत कठोर लगा हुआ था ॥६॥

उसे जलता देखकर भगवान् ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर बचाया। उस पापी के ऊपर उन्हें राग आया। भगवान् छद्मस्थ अवस्था में थे, इसलिए यह उनकी चूक हुई ॥७॥

कुछ नियम-भ्रष्ट वेशधारी ऐसा कहते है—गोशालक को बचाने में धर्म हुआ। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं पहचाना। वे अज्ञानी तो भ्रम में भूल रहे हैं ॥८॥

बले कहै छै भगवंत तो घर छोड़यां पछै रे,
दोष न सेव्यो मूल लिगार रे।
प्रमाद किंचित मात्र सेव्यो नहीं रे,
बले आश्रव न सेव्यो किण ही बार रे ॥६॥

इम कही कही नें सत्यवादी हुवै रे,
पिण एकंत बोलै छै मूसा वाय रे।
त्यां धर्म जिनेश्वर नों नहीं ओलख्यो रे,
फूटा ढोल ज्यूं बोलै बिरुवा वाय रे ॥१०॥

ते झूठ बोलै छै सुध-बुध बाहिरा रे,
त्यांरी श्रद्धारी त्यांनें खवर न काय रे।
त्यां विकला री श्रद्धा मैं परगट करूं रे,
ते भवियण सांभलज्यो चित ल्याय रे ॥११॥

भगवंत आहर कियो छै जाणनै रे,
तिण में कहे छै प्रमाद नें आश्रव पाप रे।
बले निद्रा लीधां मैं कहै पाप छै रे,
ते निद्रा पिण लीधी भगवंत आप रे ॥१२॥

परमाद न सेव्यो कहै भगवान नें रे,
बले कहैता जावै पापी परमाद रे।
न्याय निरणो विकलां रे छै नहीं रे,
यूं ही करै कूड़ो विषवाद रे ॥१३॥

मोह कर्म उदय सूं सावद्य सेवियो रे,
छदमस्थ थकां श्री भगवान रे।
अजाण पणै नें बिन उपयोग छै रे,
ते बुद्धिवंत सुणो सुरत दे कान रे ॥१४॥

दश सुपनां पिण भगवंत देखिया रे,
दश सुपनां रो पाप लागो छै आण रे।
ते पिण दशूं सुपनां रो पाप जुवो-जुवो रे,
तिणरी शंका मत करज्यो चतुर सुजाण रे ॥१५॥

वे लोग कहते हैं, गृहवास छोड़ देने के बाद भगवान् ने ज़रा भी दोष नहीं लगाया और न उन्होंने प्रमाद तथा अन्य किसी आश्रव का आचरण किया ॥९॥

ऐसा कहकर वे सत्यवादी बनते हैं, पर वे नितान्त असत्य बोलते हैं। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं पहचाना। फूटे ढोल की तरह वे विरूप वचन बोलते हैं ॥१०॥

वे सुध-बुध भूलकर झूठ बोलते हैं। उन्हें अपनी मान्यता का भी पता नहीं है। उन विकल लोगों की मान्यता को प्रकट करता हूं। भव्य जन ध्यान लगाकर सुनें ॥११॥

भगवान् जान-बूझकर आहार करते थे, उसे प्रमाद आश्रव कहते हैं और निद्रा लेने में पाप कहते हैं। भगवान् ने निद्रा भी ली थी ॥१२॥

भगवान् ने प्रमाद का आचरण नही किया, यह कहते हैं और साथ-साथ यह भी कि यह भगवान् का प्रमाद था। विकल लोगों के न्याय-निर्णय कुछ भी नहीं। ऐसी ही असत्य व बेमेल बाते करते रहते है ॥१३॥

छद्मस्थ भगवान् ने मोहकर्म के उदय से इस सावद्य आचार का सेवन किया। अज्ञातावस्था और अनुपयोगावस्था की बात थी। बुद्धिमान् पुरुष ध्यान लगाकर सुनें ॥१४॥

दश स्वप्न भी भगवान् ने देखे थे और उनका पृथक्-पृथक् पाप भी उन्हें लगा था। विज्ञजनों को उसमें शंका नहीं करनी चाहिए ॥१५॥

कोई कहै भगवंत तो घर छोड्यां पछै रे,
पाप रो अंग न सेव्यो मूल रे।
जो उवे सुपनां देख्या में पाप परूपसी रे,
तो त्यां रे लेखै त्यारी श्रद्धा में धूल रे ॥१६॥

सात प्रकारे छदमस्थ जाणिये रे,
कह्यो छै ठाणांग सूतर माहि रे।
हिंसा लागै छै प्राणी जीवरी जी,
बले लागै मिरपा नै अदत्त ताहि रे ॥१७॥

शब्दादिक आस्वादे रागे करी रे,
पूजा सत्कार वांछे छै मन मांय रे।
कदै असणादिक पिण सावद्य भोगवै रे,
वागरे जैसी करणी नावै ताय रे ॥१८॥

ए सातूई सावद्य रा स्थानक कह्या रे,
छदमस्थ सेवै छै किण ही बार रे।
त्यांरो पिण प्रायश्चित्त यथायोग छै रे,
जाण-अजाण सेव्यांरो करै विचार रे ॥१९॥

ए सातूई बोल न सेवै केवली रे,
छदमस्थ पिण निरंतर सेवै नांहि रे।
सेवै तो मोह कर्म उदय हुवा रे,
शंका हुवे तो जोवो सूतर मांहि रे ॥२०॥

गोसाला नै वीर बचायो तिण दिनै रे,
छदमस्थ हुता जिण दिन भगवान रे।
मोह राग आयो भगवत नै तिण दिनै रे,
निश्चै होणहार टलणी नहीं आसान रे ॥२१॥

छदमस्थ थकां पिण श्री भगवान ने रे,
समें समे लागता कर्म सात रे।
मोह कर्म विशेष थकी उदय हुवो रे,
कुपात्र ने बचाय लियो साख्यात रे ॥२२॥

कुछ लोग कहते हैं—भगवान् ने गृह-त्याग के पश्चात् पाप का अंशमात्र भी सेवन नहीं किया। यदि वे स्वप्न देखने में पाप की प्ररूपणा करेंगे तो उनके अभि-प्रायानुसार उनकी मान्यता में ही धूलि गिरेगी ॥१६॥

ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि सात प्रकार से छद्मस्थ जाना जाता है। प्राणी विशेष की हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, शब्दादि में सराग आस्वाद लेने से, पूजा सत्कार की इच्छा करने से, सावद्य असनादिक भोगने से और जैसा मुख से कहा जाता है, वैसा न करने से ॥१७-१८॥

ये सात सावद्य-स्थान कहे गये हैं। छद्मस्थ कभी-कभी इनका सेवन कर बैठता है। उसका भी यथायोग्य प्रायश्चित्त-विधान है। उसमें ज्ञात-अज्ञात पापाचार के सेवन का विचार है ॥१९॥

इन सात ही बातों का सेवन केवली नहीं करते। छद्मस्थ भी निरन्तर उनका सेवन नहीं करते। मोह कर्म का उदय होने से ही सेवन करते हैं। यदि शंका हो तो सूत्र ग्रन्थों मे देखना चाहिए ॥२०॥

गोशालक को जिस दिन भगवान् ने बचाया, उस दिन वे छद्मस्थ थे। उस दिन भगवान् को मोह राग आया। निश्चित भवितव्यता को टाल देना आसान नहीं है ॥२१॥

छद्मस्थ अवस्था मे भगवान् के प्रति समय सात कर्म लगते थे। मोह कर्म का विशेष उदय हुआ तो उन्होंने गोशालक को साक्षात रूप से बचाया ॥२२॥

गोसालो दावानल श्री जिनधर्म नों रे,
दुष्टां मै दुष्ट घणो अतीव रे।
बले कोथलो कूड़ कपट रो तेहनें रे,
बचायां रा फल सुणो भवि जीव रे ॥२३॥

गोसाले तेजू लेश्या मेल नै रे,
दोय साधांरी कीधी घात रे।
ऊंधो अंवलो बोल्यो भगवान नै रे,
वीर सूं पड़िवजियो मिथ्यात रे ॥२४॥

बले लेश्या मेली छै पापी वीर नै रे,
त्यांरी. पिण एकंत करवा घात रे।
तिण जाण्यो जमाऊं शासन मांहरो रे,
एहवो गोसालो दुष्ट कुपात रे ॥२५॥

तिलरो प्रश्न पूछ्यां भगवंते कह्यो रे,
सूघणी मांहें तिल बताया सात रे।
जब वीर नें झूठा घालण पापीये रे,
तिल उखेल् नें कीधी घात रे ॥२६॥

तेजू लेश्या सीखाई गोसाला भणी रे,
तिण लेश्या सूं कीधी साधांरी घात रे।
बले लोहीठाण कियो भगवंत नें रे,
इसड़ा काम किया पापो साख्यात रे ॥२७॥

गोसाला पापी नै वीर बचावियो रे,
तो बधियो भरत में घणो मिथ्यात रे।
घणा जीवां नै पापी बोईया रे,
ऊंधी श्रद्धा दिया मैं घात रे ॥२८॥

कूड़ कपट करे नें पापिये रे,
झूठोइ शासन दियो थाप रे।
अणहुंतो तीर्थंकर बाज्यो लोक मैं रे,
वीर नों शासण दियो उत्थाप रे ॥२९॥

गोशालक जिन-धर्म के लिए दावाग्नि था। वह दुष्टों में भी अति दुष्ट और कूड़-कपट का भंडार था। उसको बचाने से जो फल हुआ, ध्यान लगाकर सुनो ॥२३॥

गोशालक ने तेजोलेश्या छोड़कर दो साधुओं को मार डाला। वह भगवान् महावीर से भी उल्टा-सीधा बोलता रहा और उनके साथ मिथ्यात्व का प्रवर्तन किया ॥२४॥

फिर उसने भगवान् पर तेजोलेश्या छोडी और वह भी उनकी घात करने के लिए। उसने सोचा—मैं आसन जमाऊ। वह इस प्रकार का दुष्ट और कुपात्र था ॥२५॥

तिल का प्रश्न पूछने पर भगवान् ने कहा—फली में सात तिल हैं। पर भगवान् को झूठ करने के लिए तिल वृक्ष को उखाड़ कर हिंसाचरण किया ॥२६॥

भगवान् ने गोशालक को तेजोलेश्या की विधि बतलाई। उसी तेजोलेश्या से उसने साधुओं का बध किया और स्वयं भगवान् के लोहीठाण अर्थात् रुधिर-स्राव किया। ये सारे कार्य उसने प्रत्यक्ष रूप से किये ॥२७॥

गोशालक को भगवान् ने बचाया, इससे भरतक्षेत्र में बहुत मिथ्यात्व बढा। उस पापात्मा ने बहुत लोगों को विपरीत मान्यता देकर डुबोया ॥२८॥

झूठ, कपट के द्वारा उस पापी ने झूठे धर्म-शासन की स्थापना की। वीर प्रभु के शासन का विघटन किया और स्वयं तीर्थंकर न होते हुए भी तीर्थंकर कह-लाया ॥२९॥

गोसाला नै वीर बचायो तठा पछै रे,
घणा जीवांरै हुवो बिगाड़ रे।
यो पापी धाड़ायत हुवो धर्म नों रे,
इण गुण तो न कीधो मूल लिगार रे ॥३०॥

गोसालो पापीड़ो बचियां पछै रे,
तिण कीधा पापीड़ै अनेक अकाज रे।
तिण दुष्टी नें बचायां धर्म किहां थकी रे,
विकलां नें मूल न आवै लाज रे ॥३१॥

गोसाला नें बचायां धर्म कहै तिके रे,
गोसाला रा केड़ायत जाण रे।
त्यां धर्म न जाण्यो श्री जिनराज रो रे,
यूं ही बूडे अज्ञानी कर-कर ताण रे ॥३२॥

जो धर्म होसी गोसाला नें बचावियां रे,
तो छ ही काय बचायां होसी धर्म रे।
जो उवे जीव बचायां धर्म गिणै नहीं रे,
तो विकलांरी श्रद्धा रो निकल्यो भर्म रे ॥३३॥

गोसाला नै वीर बचायो जिणविधे रे,
श्रावक नें तिणविध बचावै नांहि रे।
कहै छै तिणहिज विध करै नहीं रे,
तो धूड़ छै त्यांरी श्रद्धा मांहि रे ॥३४॥

पेट दुःखे छै सो श्रावकां तणो रे,
जुदा हुवै छै जीव नैं काय रे।
साधु पधारया छै तिण अवसरै रे,
त्यांरे हाथ फेरे तो साता थाय रे ॥३५॥

लब्धिधारी तो साधु पधारया देखनें रे,
गृहस्थ बोल्या छै इम वाय रे।
हाथ फेरो त्यांरा पेट ऊपरै रे,
नहीं फेरो तो श्रावक जीवां जाय रे ॥३६॥

गोशालक को बचाने के बाद बहुत सारे जीवों का बिगाड़ हुआ। वह पापात्मा तो धर्म का डाकू था। उससे अच्छा तो कुछ हुआ ही नहीं ॥३०॥

बचने के बाद उस पापी ने अनेकों अकार्य किये। विवेकशून्य लोगों को जरा भी लज्जा नहीं है। उस दुष्ट आत्मा को बचाने में धर्म कैसे होगा ? ॥३१॥

गोशालक को बचाने में धर्म कहने वाले उसके वंशज हो सकते हैं। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं समझा है। अज्ञानी यों ही खींचातान में डूबते हैं ॥३२॥

यदि गोशालक को बचाने मे धर्म होगा तो छः ही काया के जीवों को बचाने मे धर्म होगा। यदि उन जीवों को बचाने में वे धर्म नहीं मानते तो उन विवेकशून्य लोगो की श्रद्धा का भ्रम निकल जाता है ॥३३॥

जिस विधि से महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया, वे उस विधि से अपने श्रावक को नही बचाते। जैसा कहते है, वैसा करते नहीं तो उनकी मान्यता में क्या खाक धरा है ॥३४॥

सौ श्रावकों का पेट दुःख रहा है। शरीर और प्राण अलग हो रहे हैं। उस समय साधु आए, वे हाथ फिराएं तो साता हो सकती है ॥३५॥

लब्धिधारी साधुओं को आए देखकर उन गृहस्थों ने कहा—हमारे पेट पर आप हाथ फिराएं नहीं तो हम श्रावक जीवों मर जाएंगे ॥३६॥

जब कहै म्हांनें तो हाथ न फेरणो रे,
ए मरो भावे दुःखी घणा हुवो तामरे।
मरणो-जीवणो मूल न वांछे तेहनों रे,
म्हारे गृहस्थ सूं काइ काम रे ॥३७॥

तो गोसाला दुष्टी नैं वीर बचावियो रे,
तिण मांहें कहे छै निकेवल धर्म रे।
तो श्रावक मरतां नें नही बचाविया रे,
त्यांरी श्रद्धा रो त्यांहिज काढ़्यो भर्म रे ॥३८॥

श्रावक नैं बचायां धर्म गिणै नहीं रे,
गोसाला नै बचाया गिणै धर्म रे।
ते विवेक विकल छै सुध-बुध बाहिरा रे,
ऊंधी श्रद्धा सूं बांधै पाप कर्म रे ॥३९॥

गोसाला पापी दुष्टी रे कारणै रे,
लब्धि फोड़ी छै श्री जगनाथ रे।
तो सो श्रावक जीवां मरता देखनैं रे,
थें कांई न फेरो त्यांरे हाथ रे ॥४०॥

धर्म कहै गोसाला नै बचाविया रे,
तो पोते काइ छोड़ी धर्म री रीत रे।
सो श्रावक मरता नें बचावै नहीं रे,
त्यां विकलांरी विकल करै परतीत रे ॥४१॥

गोसाला दुष्टी नै वीर बचावियो रे,
तिण माहै धर्म कहै साक्षात रे।
सो श्रावक मरतां नें नही बचाविया रे,
त्यां विकलांरी बिगड़ी श्रद्धा बात रे ॥४२॥

श्रावक आखड़ नै पड़ मरतो हुवै रे,
जिण नै पड़तां झेलै राखे नांहि रे।
गोसाला नैं बचाया में कहै धर्म छै,
यो पिण अंधारो त्यारै मांहि रे ॥४३॥

तब कहते है, हमें तो हाथ नहीं फिराना है। चाहे वे श्रावक मरे या दुःखी हों। हम गृहस्थ का जीना या मरना कुछ भी नही चाहते। हमें उससे क्या काम है ? ॥३७॥

दुष्ट गोशालक को भगवान् ने बचाया, उसमें तो एकान्त धर्म कहते हैं और मरते हुए श्रावकों को नहीं बचाते। अपनी श्रद्धा का भ्रम उन्होंने अपने-आप ही प्रकट कर दिया ॥३८॥

श्रावक को बचाने मे धर्म नही मानते और गोशालक को बचाने में धर्म मानते हैं। वे बिना सुध-बुध के अज्ञानी अपनी विपरीत श्रद्धा से पाप-कर्म का बन्धन करते हैं ॥३९॥

दुष्ट आत्मा और पापी गोशालक के लिए भगवान् महावीर ने लब्धि फोड़ी तो सौ श्रावकों को मरते देखकर भी वे हाथ क्यों नहीं फेरते ? ॥४०॥

गोशालक को बचाने में धर्म कहते है तो स्वयं उस धर्म की रीति को क्यों छोड देते है ? मरते हुए सौ श्रावको को नहीं बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगों का विवेक-भ्रष्ट ही विश्वास करते है ॥४१॥

दुष्ट आत्मा गोशालक को महावीर प्रभु ने बचाया। कहते हैं, उसमें तो साक्षात् धर्म हुआ और मरते हुए सौ श्रावकों को नहीं बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगों की श्रद्धा और बात दोनों ही बिगड़ गई ॥४२॥

श्रावक आखड़ कर गिर रहा है। उसे सहारा देकर रक्षा नहीं करते और गोशालक को बचाने में धर्म कहते है, यह भी उनके घट में अंधेरा है ॥४३॥

ज्ञान दर्शन नै देश चारित्र श्रावक मझै रे,
गोसालो तो एकांत अधर्मी जाण रे।
तिण नै बचायां धर्म किहां थकी रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ़ अयाण रे ॥४४॥

गोसाला नैं बचायां रो कहै धर्म छै रे,
श्रावकां नैं बचायां कहै पाप रे।
एहवो अंधारो छै विकला तणै रे,
ऊंधी श्रद्धा री कर राखी छै थाप रे ॥४५॥

बारे वर्ष नें तेरे पख मझै रे,
छदमस्थ रह्या छै श्री भगवान रे।
तिण मे एक गोसाला नै बचावियो रे,
और किण नें न बचायो श्री वर्द्धमान रे ॥४६॥

गोसाला दुष्टी नें बचाविया रे,
जो धर्म कोई जाणै स्वाम रे।
तो दोनूई साधु बचावत आपरा रे,
बले रात नें दिन करता ओहिज काम रे ॥४७॥

गोसाला दुष्टी नैं वीर बचावियो रे,
तिण मांहै धर्म जाणै जिनराय रे।
दोय साधु मरता नहीं राख्या आपरा रे,
यो पिण किणविध मिलसी न्याय रे ॥४८॥

अकाले जगत नें मरतो देखियो रे,
पिण आड़ा न दीधा भगवंत हाथ रे।
धर्म हुवै तो भगवंत आघो नहि काढ़ता रे,
निश्चैई तिरण तारण जगनाथ रे ॥४९॥

अनंत चोबीसी तो आगै हुई रे,
हिवड़ां तो ऋषभादिक चौबीस रे।
त्यां तारया भवजीवां नें समझाय नै रे,
पिण मरता न राख्या श्री जगदीस रे ॥५०॥

श्रावक में ज्ञान, दर्शन और देश चारित्र होते हैं और गोशालक तो एकान्त अधर्मी था। उसे बचाने में धर्म कैसे होगा? अज्ञानी लोग इस न्याय को नहीं समझ सकते ॥४४॥

गोशालक को बचाया, इसमें धर्म कहते हैं और श्रावकों को बचाने में पाप। उन विवेक-भ्रष्ट लोगों के घट में इतना अंधेरा है। विपरीत श्रद्धा की उन्होंने स्थापना कर रखी है ॥४५॥

बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। इस बीच में केवल एक गोशालक को बचाया और किसी को नही बचाया ॥४६॥

दुष्ट गोशालक को बचाने में यदि भगवान् कहीं धर्म समझते तो अपने दोनों साधुओं को भी बचाते और रात-दिन बचाने का ही काम करते ॥४७॥

दुष्ट गोशालक को बचाने में यदि जिनेश्वर देव धर्म जानते तो अपने दो साधुओं को मरते हुए क्यों नहीं बचाते? यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥४८॥

भगवान् जगत को अकाल-मृत्यु मे मरते देखते थे, पर उन्होंने कभी उनके संरक्षण के लिए हाथ नहीं बढ़ाया। धर्म होता तो भगवान् जो कि तरणतारण प्रभु हैं, उन्हें बचाने में जरा भी देर नहीं करते ॥४९॥

अनन्त चौबीसियां तो पहले हो चुकी है और ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकर अब हुए है। उन सभी ने सांसारिक जीवों को प्रतिबोध देकर भव-समुद्र के पार किया, परन्तु उन्हे मरने से बचाने का प्रयत्न कभी नहीं किया ॥५०॥

एक गोसालो वीर बचावियो रे,
ते तो निश्चैई होणहार रे।
मोह राग आयो भगवान नें रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ़ गिंवार रे ।।५१।।

संवत अठारै तेपनैं समै रे,
आसाड़ विद इग्यारस नै मंगलवार रे।
गोसाला कुपातर नै ओलखायवा रे,
जोड़ कीधी छै मांढ़ा गाम मभार रे ।।५२।।

दुहा

दोय उपगार जिन-भाषिया, त्यांरो बुद्धिवंत करज्यो विचार।
तिण में एक उपगार छै मोक्षरो, बीजो संसार नों उपगार ।।१।।

उपगार करै कोई मोक्ष रो, तिणमें जिन आज्ञा दे आप।
उपगार करै संसार नों, तिहां आप रहै चुपचाप ।।२।।

उपगार करै कोई मोक्षरो, तिण मैं निश्चैई धर्म साख्यात।
उपगार करै संसार नों, तिण में धर्म नहीं तिलमात ।।३।।

दोनूं उपगार छै जुवा-जुवा, ते कठेई न खावै मेल।
पिण मिश्र पाखंड्यां परूप नै, कर दियो भेल संभेल ।।४।।

कुण कुण उपगार छै मोक्षरो, कुण कुण संसार ना उपगार।
त्यांरा भाव भेद परगट करूं, ते सुणज्यो विस्तार ।।५।।

ढाल : ११

[राग—आ अनुकम्पा जिण आगना में]

ज्ञान दर्शन चारित्र नें बले तप,
यां च्यारां रो कोई करे उपगार।
तिण नैं निश्चैई निर्जरा धर्म कह्यो जिन,
बले श्री जिन आज्ञा छै श्रीकार।
यो तो उपगार निश्चैई मुगतरो ।।१।।

एक गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, यह तो निश्चित होनहार थी। भगवान् को राग-भाव आया था। इस न्याय को मूर्ख और गंवार नहीं समझ सकते है ।।५१।।

संवत् अठारहसौ तिरेपन, आषाढ़ कृष्ण एकादशी मंगलवार के दिन माढ़ा नामक गांव में कुपात्र गोशालक की पहचान के लिए यह रचना की है ।।५२।।

दोहा

दो प्रकार के उपकार श्री जिनेश्वर देव ने कहे है। बुद्धिमान् लोगों को इसका विचार करना चाहिए। उनमे एक प्रकार मोक्ष सम्बन्धी है और दूसरा ससार सम्बन्धी ।।१।।

कोई मोक्ष सम्बन्धी उपका र करता है, वहा जिनेश्वर देव स्वयं आज्ञा देते हैं। यदि कोई ससार का उपकार करता है तो वे मौन रहते हैं ।।२।।

मोक्ष का कोई उपकार करता है, उसे निश्चय ही धर्म होता है। ससार का जो उपकार करता है, उसमे तिलमात्र भी धर्म नहीं होता ।।३।।

दोनों उपकार पृथक्-पृथक है, ये कहीं भी मेल नहीं खाते, किन्तु पाखण्डी लोगों ने मिश्र-धर्म कहकर दोनों उपकारों का भेल-सम्भेल कर दिया है ।।४।।

कौन से उपकार मोक्ष के हैं और कौन से संसार के, उनके इस स्वरूप और भेदों का विस्तार सहित वर्णन करता हूं; उसे सुनो ।।५।।

गीति : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों के रूप में कोई उपकार करता है, उसे जिनेश्वर देव ने निश्चित ही निर्जरा धर्म कहा है और उसमे जिनेश्वर देव की शुभ आज्ञा है।···वह तो निश्चित ही मोक्ष का उपकार है ।।१।।

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप,
यां च्यारां बिना कोई करे उपगार।
तिण में धर्म नहीं जिन भाख्यो,
बले जिन आज्ञा पिण नहीं छै लिगार।
यो तो उपगार संसार तणो छै ॥२॥

संसार तणो उपगार करे छै,
तिण रै निश्चैई संसार बधतो जाणो।
मोक्ष तणो उपगार करे छै,
तिणरे निश्चैई नेड़ी दीसै निरवाणो ॥३॥

कोइ दलद्री जीव ने धनवंत कर दे,
नव जातिरो परिग्रहो देइ भरपूर।
बले विविध प्रकारे साता उपजावै,
उणरो जाबक दालिद्र करदे दूर ॥४॥

छ काय रा शस्त्र जीव अव्रती,
त्यांरी साता पूछै नें साता उपजावै।
त्यांरी करै बियावच विविध प्रकारे,
तिण ने तीर्थंकर देव तो नही सरावै ॥५॥

गृहस्थरी साता पूछयां नै वियावच कीया,
साधु तो तिण सू होय जावै अणाचारी।
साता पूछयां नै वियावच कीयां में,
जिन आज्ञा पिण नही छै लिगारो ॥६॥

साता पूछयां तो साधु नै पाप लागै छै,
तो साता कीधां में धर्म किहां थी होवै।
पिण मूढ़ मिथ्याती विवेक रा विकल,
ते श्री जिन आज्ञा साहमों न जोवै ॥७॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के बिना कोई भी उपकार करता है, उसमें निश्चित ही न तो धर्म है और न जिनेश्वर देव की आज्ञा ही।'''यह उपकार संसार का है ।।२।।

सांसारिक उपकार करने वाले के निश्चित ही संसार-वृद्धि होती है। जो मोक्ष का उपकार करने वाला है, उसके निश्चित ही मोक्ष निकट होता है ।।३।।

किसी दरिद्र व्यक्ति को सोना, चांदी आदि नव प्रकार का परिग्रह देकर उसकी दरिद्रता दूर कर दी और उसे विविध प्रकार से सुख दिया, यह सांसारिक उपकार है ।।४।।

अव्रती जीव षट्कायिक जीवों के शस्त्र होते हैं। उनका कुशल क्षेम पूछा जाता है। उनकी सेवा विविध प्रकार से की जाती है। उसका तीर्थंकर देव तो अनुमोदन नहीं करते ।।५।।

गृहस्थ का कुशल-क्षेम पूछने में और उसकी सेवा करने मे साधु तो अनाचारी हो जाते है। उनकी साता पूछने में और सेवा करने में जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नहीं होती ।।६।।

कुशल-क्षेम पूछने में साधु को यदि पाप लगता है तो उसका कुशल-क्षेम करने में धर्म कहाँ से होगा ? किन्तु मूर्ख, मिथ्यादृष्टि और विवेक-भ्रष्ट लोग जिनेश्वर देव की आज्ञा की ओर नहीं देखते ।।७।।

कोइ मरता जीव ने जीवां बचावै,
झाड़ा-झपटा करै ओषध देई ताम।
वले अनेक उपाय करै नें तिणनें,
मरतो राख्यो साजो कियो तमाम ॥८॥

कोइ मरता जीव नै सूस करावै,
च्यारू शरणा देई नै करावै संथारो।
ज्ञान ध्यान माहे परिणाम चढ़ावै,
न्यातीला सू देवै मोह उतारो ॥९॥

श्रावक नों खाणो पीणो छै सर्व अव्रत मै,
ते सेवै तो सावद्य जोग व्यापारो।
वले नव ही जातरो परिग्रहो अव्रत मे,
तिणने सेवाड़े छै कोइ बारुंवारो ॥१०॥

श्रावक नों खाणो पीणो छै सर्व अव्रत में,
तिणरो त्याग करावै चढ़ावै वैरागो।
वले नव ही जात रो परिग्रहो अव्रत मे,
ते छोड़े छोड़ावै त्यारे सिरभागो ॥११॥

कोई लाय सू बलतां नें काढ़ बचायो,
वले कूवै पड़ता नै झाल बचायो।
तलाव में डूबतां ने बारे काढ़ै,
वले ऊंचाथी पड़ता नै झाले लियो तायो ॥१२॥

जन्म-मरण री लाय थी बारै काढै,
भव कूवा मांहि थी काढ़ै बारै।
नरकादिक नीच गति माहें पडतां नै राखै,
संसार समुद्र थी बारै काढ़ उधारे ॥१३॥

किण रै लाय लागी घर बलै छै,
तिण में नाना मोटा जीव बलै लाय मांहि।
कोइ लाय बुझाय त्यांनें बारै काढ़ै,
घणा रै साता कीधी लाय बुझाई ॥१४॥

कोई किसी मरते जीव को मंत्र या औषधि के उपचार से या अन्य अनेक उपायों से बचाता है, स्वस्थ करता है तो वह सांसारिक उपकार ही कहा जाता है ॥८॥

कोई मरते जीव को किसी प्रकार का त्याग कराते है अथवा चारों शरण दिलाकर आमरण अनशन करा देते है, पारिवारिक जनों से मोह उतारकर ज्ञान-ध्यान मे उसे अनुरक्त करते है। यह उपकार निश्चित ही मोक्ष का है ॥९॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत में है। उसका यदि सेवन करते हैं तो वह सावद्य योग का व्यापार है और नव ही प्रकार का परिग्रह अव्रत मे है। उसका कोई बार-बार सेवन कराते है। यह उपकार निश्चित ही सांसारिक है ॥१०॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत में है। वैराग्य चढ़ाकर यदि कोई उसका त्याग दिला देता है और नौ ही प्रकार का परिग्रह जो अव्रत में है उसको छोड़ता है या छुड़ाता है, वह भाग्यशाली है ॥११॥

कोई अग्नि में गिरते मनुष्य को बाहर काढ़ लेता है, कोई कुएं में पड़ते हुए व्यक्ति को सभाल कर बचा लेता है, तालाब में डूबने वाले व्यक्ति को बाहर निकाल लेता है और ऊपर से गिरने वाले व्यक्ति को झालकर बचा लेता है; ये उपकार निश्चित ही सासारिक है ॥१२॥

जन्म-मरण की अग्नि से और संसारकूप से जो व्यक्ति को बाहर निकाल लेते हैं, नरक आदि नीच गति में पड़ने से उसे बचा लेते हैं और संसार-समुद्र से उसका उद्धार कर देते हैं। वे उपकार निश्चित ही मोक्ष के है ॥१३॥

किसी व्यक्ति के घर में आग लगी है, वह जल रहा है। छोटे-बड़े जीव जल रहे है। किसी ने अग्नि बुझाकर उन जीवों को बाहर निकाल लिया। बहुत सारे जीवों को सुखी कर दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥१४॥

किणरै तृष्णा लाय लागी घट भितर,
ज्ञानादिक गुण बलै तिण मांय।
उपदेश देइ तिणरी लाय बुझावै,
रूम रूम साता दीधी वपराय ॥१५॥

कोई टाबर पालै नै मोटो करे छै,
आछी आछी वस्तु तिणनैं खवाय।
बले मोटे मंडाणे करी परणावै,
धन-माल देवै कमाय-कमाय ॥१६॥

कोइ बेटा नैं रूड़ी रीत समझाये,
धन-माल सगलोई देवै छोड़ाय।
काम भोग स्त्रियादिक खावो नें पीवो,
भली भात सू त्याग करावै ताय ॥१७॥

मात-पितारी सेवा करै दिन रात,
बले मन मान्यां भोजन त्यानें खवावै।
बले कावड़ कांधे लिया फिरे त्यांरी,
बले बेहु टकांरो स्नान करावै ॥१८॥

कोई मात-पिता नें रूड़ी रीते,
भिन भिन कर नें धर्म सुणावै।
ज्ञान दर्शन चारित्र त्यानें पमावै,
काम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावै ॥१९॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत में,
तिण नै मन मानें ज्यू खवावै पीवावै।
बले मागे जिको तिण नै धन-धान आपै,
विविध पणै तिण नें साता उपजावै ॥२०॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत में छै,
तिणनें उपदेश देई नें परहो छोड़ावै।
तिणरै ज्ञानादिक गुण घट में घालै,
तिणरी तृष्णा लाय नै परी मिटावै ॥२१॥

किसी व्यक्ति के घट में तृष्णा की लाय लगी है और ज्ञान, दर्शन आदि गुण उसमें जल रहे हैं। उपदेश देकर उसके घट की अग्नि को किसी ने बुझा दिया। उसके रोम-रोम में सुख ला दिया। यह उपकार मोक्ष का है ॥१५॥

कोई व्यक्ति लड़के को पाल-पोषकर खिला-पिलाकर मोटा करता है और बड़े आडम्बर से उसका विवाह करता है। कमा-कमाकर धन आदि देता है। यह सांसारिक उपकार है ॥१६॥

कोई व्यक्ति पुत्र को प्रतिबोध देकर धन-माल छुड़ा देता है। स्त्री, काम-भोग, खाने-पीने आदि का भली प्रकार से त्याग करा देता है। यह उपकार मोक्ष-सम्बन्धी है ॥१७॥

कोई दिन-रात माता-पिता की सेवा करता है और उन्हें मन-माने भोजन खिलाता है। कावड़ में बिठाकर कधे पर लिये फिरता है और दोनों समय उन्हें स्नान कराता है। यह उपकार सांसारिक है ॥१८॥

कोई व्यक्ति माता-पिता को भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म सुनाता है। उन्हे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ कराता है। काम-भोग और शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों को छुड़ाता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥१९॥

जिसका खाना-पीना, आभूषण आदि अव्रत में है, उसे मन चाहे ढंग से कोई व्यक्ति खिलाता-पिलाता है और जैसे वह चाहता है, उसे धन-धान्य देता है और विविध प्रकार से साता उपजाता है। यह उपकार सांसारिक है ॥२०॥

कोई व्यक्ति जिसका खाना-पीना, आभूषण आदि अव्रत में है, उसे उपदेश देकर उनका भोगोपभोग छुड़ा देता है और उसके घट में ज्ञानादि गुण डाल देता है, उसकी तृष्णा अग्नि को मिटा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२१॥

किणरा बाला काढ़ै किणरा कीड़ा काढ़ै,
बले लटां जूवादिक काढ़ै छै ताहि।
कानसिलाया बुगादिक काढ़ै,
घणी साता उपजावै शरीर रै मांहि ॥२२॥

किणरै बाला कीड़ा नै लटां जूंवादिक,
शरीर में उपना जीव अनेक।
तिण नै बारै काढ़ण रा त्याग करावे,
कहै शरीर बारै काढ़णो नहीं एक ॥२३॥

गृहस्थ भूलो उज्जड़ वन में,
अटवी नै बले उजाड़ जावै।
तिण नें मारग बताय नै घरे पोंहचावै,
बले थाको हुवै तो खाधे बेसावै ॥२४॥

संसार रूपणी अटवी में भूला नै,
ज्ञानादिक शुद्ध मारग बतावै।
सावद्य भार नै अलगो मेलाए,
सुखे-सुखे शिवपुर मे पोंहचावै ॥२५॥

नाग नागणी हुता बलता लकड़ा में,
त्यांनै पारसनाथजी काढ़्या कहै छै बार।
अग्नी में बलता नै राख्या जीवता,
पाणी ने अग्न्यादिक रा जीवां नै मार ॥२६॥

पारसनाथजी घर छोड़ काउसग्ग कीधो जब,
कमठ उपसर्ग कर वर्षायो पाणी।
जब पद्मावती हेठे कियो सिंघासण,
धरणेंद्र छत्र कियो सिर आणी ॥२७॥

नाग नागणी नै नवकार सुणाए,
च्यांरू सरणा नै सूंस दराया जाणी।
ते शुभ परिणामा सूं मरनै हुवा,
धरणेंद्र नें पद्मावती राणी ॥२८॥

कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के शरीर से नहरुआ, कीड़ा, लट, जू, कनखजूरा, बग आदि काढ़ देता है। और भी बहुत प्रकार की साता कर देता है। यह उपकार सासारिक है ॥२२॥

किसी व्यक्ति के शरीर मे लट, जू आदि अनेक जीव उत्पन्न हो गये। किसी व्यक्ति ने एक भी जीव को शरीर से बाहर निकाल देने का उसे त्याग कराया। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२३॥

कोई गृहस्थ भूलकर वन मे उजाड़ पड़ गया और उजाड ही चला जा रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे मार्ग बताकर, थका हो तो कंधे पर बिठाकर उसके घर पर पहुचा देता है। यह उपकार सासारिक है ॥२४॥

संसार रूप अटवी मे भूले हुए किसी व्यक्ति को कोई दूसरा व्यक्ति ज्ञान, दर्शन आदि का शुद्ध मार्ग बतला देता है, उसके पाप रूप भार को अलग रखवा कर उसे सुख-शान्तिपूर्वक मोक्ष मे पहुचा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२५॥

जलते हुए लक्कड़ मे जो नाग-नागिनी थे, उन दोनों को पार्श्वकुमार ने बाहर निकाला। अग्नि में जलते हुओं को पानी और अग्नि के जीवों की हिंसा करके भी जीवित रखा। यह उपकार सासारिक है ॥२६॥

पार्श्वकुमार ने संयम लेकर जब ध्यान किया, तब कमठ देव ने उन पर पानी बरसा कर उपसर्ग किया। उस समय पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ के नीचे सिंहासन बनाया और धरणेन्द्र ने उनके सिर पर छत्र किया। यह उपकार सासारिक है ॥२७॥

नाग-नागिनी को नमस्कार-मंत्र सुनाकर चारो शरण दिलाते हुए जो त्याग-प्रत्याख्यान कराये, उन शुभ परिणामों से मरकर वे नाग-नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२८॥

सुग्रीव सूं उपगार कियो राम नै लिछमण,
जब सुग्रीव हुवो त्यांरो सखाई।
सीतारी खबर आण रावण नें मरायो,
तिण पाछो उपगार कियो भीड़ आई ॥२६॥

कोइ दुष्टी जीव जू नै मारतो थो,
तिण नैं वरज नें जू नै बचाई।
ते जूं रो जीव मनुष्य हुवो जब,
इणरो कजियो इण पिण दियो मिटाई ॥३०॥

धणीरा मूहढ़ा आगै सेवग मरनै,
धणी नें कुशले खेमे जीवतो काढ़ै।
जब धणी तूठो थको रिजक रोटी दे,
इणरो इहलोक रो काम मिराडे चाढ़ै ॥३१॥

दोय इंद्र आया कोणक री भीड़ी,
कोणक रै साता कर दीधी ताम।
एक कोड़ असी लाख मनुष्यां ने मारै,
कोणक रो सुधारयो काम ॥३२॥

एकीका जीव नै अनंती बार बचाया,
त्यां पिण इणनें अनंती बार बचायो।
आमां साहमां उपगार ससार ना,
कीधा त्यां सू जीवरी गरज सरी नहीं कायो ॥३३॥

हांती नेंहतादिक दे आमां साहमां,
लाडू खोपरादिक दे आमां साहमां।
अथवा कोइ क आघा पिण देवै,
इत्यादिक अनेक संसार नां कामां ॥३४॥

सुग्रीव पर राम और लक्ष्मण ने उपकार किया और सुग्रीव उनका सहयोगी बना। उसने सीता की खबर मंगाकर रावण को मरवाया। इस प्रकार राम और लक्ष्मण की दुविधा में काम आकर उसने प्रत्युपकार किया। यह उपकार सांसारिक है ॥२६॥

कोई दुष्ट जीव जू को मार रहा था। उसे समझा कर जूं को किसी व्यक्ति ने बचाया। उस जूं का जीव जब मनुष्य हुआ तो उस उपकार करने वाले व्यक्ति का कोई झगड़ा उसने मिटा दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥३०॥

सेवक स्वामी के सामने मर जाते हैं और अपने स्वामी को सकुशल बचा लेते हैं। तब स्वामी तुष्ट होकर उसे पट्टा-परगना देता है और उसका लौकिक कार्य सिद्ध कर देता है। यह उपकार सांसारिक है ॥३१॥

दो इन्द्र कोणिक के सहयोग में आए और उसे सुखी कर दिया। एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों को मार कर कोणिक का काम सुधार दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥३२॥

किसी एक जीव ने दूसरे एक जीव को अनन्त बार बचाया है और उस जीव ने भी उसे अनन्त बार बचाया है। ये सांसारिक उपकार परस्पर किये, पर इनसे जीव का कार्य सिद्ध नहीं हुआ ॥३३॥

हांती [परोसा], न्योते परस्पर दिये जाते है। लड्डू, खोपरे परस्पर दिये जाते हैं। अथवा कोई अपनी ओर से ही देते हैं। इस प्रकार संसार के अनेक काम हैं, पर ये सब सांसारिक उपकार हैं ॥३४॥

संसार नो उपगार करे जिण सेती,
कदा ते पिण पाछो करे उपगार।
एतो उपगार एकीका जीवां सूं,
कीधा छै अनंत अनंती बार।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ॥३५॥

संसार नां उपगार सब ही फीका,
ते तो थोड़ा माहे बिले होय जावै।
संसार ना उपगार फीका छै त्या सूं,
सुगति तणा सुख कोय न पावै ॥३६॥

संसार तणा उपगार किया में,
केइ मूढ़ मिथ्याती धर्म बतावै।
ते श्रीजिन मारग ओलखिया बिन,
मन मानें ज्यूं गाला रागोला चलावै ॥३७॥

जितरा उपगार संसार तणा छै,
जे जे करै ते मोह वस जाणो।
साधु तो त्याने कदे न सरावै,
संसारी जीव तिणरा करमी बखाणो ॥३८॥

ससार तणा उपगार कियां मै,
जिन धर्म रो अश नही छै लिगार।
संसार तणा उपगार किया में,
धर्म कहै ते तो मूढ़ गिवार ॥३९॥

किण ही जीव नैं खप करनै बचायो,
किण ही जीव उपजाय नै कीधो मोटो।
जो धर्म होसी तो दोयां नें धर्म होसी,
तोटो होसी तो दोयां नै तोटो ॥४०॥

सासारिक उपकार जिस जीव के प्रति किया जाता है, कदाचित् वह भी प्रत्युपकार करता है। ये पारस्परिक उपकार तो एक-एक जीव से अनन्त बार किये जा चुके है। यह श्रद्धा श्री जिनेश्वर देव ने कही है ॥३५॥

ससार के उपकार सभी फीके होते है। ये तो थोड़े में ही नष्ट हो जाते हैं। उन नितान्त फीके उपकारों से कोई मुक्ति को नही पा सकता ॥३६॥

सांसारिक उपकार करने में कोई मूर्ख मिथ्यादृष्टि धर्म बतलाते हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म को समझे बिना मनचाही गप्पें हांकते है ॥३७॥

जितने भी सासारिक उपकार है, वे सब मोहवश किए जाते हैं। साधु तो उनकी कभी सराहना नहीं करते। सांसारिक जीव ही उनके बखान करते हैं ॥३८॥

सासारिक उपकार करने में जैन धर्म का अश भी नही है। सासारिक उपकार करने में जो धर्म कहते हैं, वे मूढ़ और गंवार है ॥३९॥

किसी ने किसी जीव को प्रयत्न करके बचाया और किसी जीव ने किसी जीव को पैदा करके मोटा किया। यदि धर्म है तो दोनों में है और यदि नुकसान है तो दोनों ही के है ॥४०॥

बचावण वाला बिचे तो उपजावण वालो,
साम्प्रत दीसै उपगारी मोटो।
यां रो निरणो कियां बिनधर्म कहै छै,
त्यांरो तो मत निकेवल खोटो ॥४१॥

बचावण वालो नें उपजावण वालो,
ए तो दोनूं संसार तणाउपगारी।
एहवा उपगार करै आहमा साहमां,
तिण में केवली रो धर्म नही छै लिगारी ॥४२॥

जीव नें जीवां बचावै तिण सूं,
बंध जावै तिणरे राग-सनेह।
जो परभव में ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सूं नेह ॥४३॥

जीव नें जीवा मारे छै तिण सूं,
बंध जाय तिण सूं द्वेष विशेष।
जो परभव मे ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सूं द्वेष ॥४४॥

मित्री सूं मित्री पणो चलियो जावै,
वैरी सूं वैरी पणो चलियो जावै।
ए तो राग द्वेष कर्मा रा चाला छै,
श्री जिन धर्म मांहे नही आवै ॥४५॥

कोई अनुकम्पा आणी घर मंडावै,
कोइ मंडता घर नै देवै भंगाय।
यो प्रत्यक्ष राग नै द्वेष उघाड़ो,
ते आगै लगा दोनूं चलिया जाय ॥४६॥

कोई तो पेलारा काम नै भोग बधारै,
कोइ काम भोगनीं देवै अंतराय।
यो पिण राग नै द्वेष उघाड़ो,
ते आगै लगा दोनूं चलिया जाय ॥४७॥

बचाने वाले की अपेक्षा तो पैदा करने वाला प्रत्यक्ष ही बड़ा उपकारी लगता है। इन बातों का निर्णय किये बिना ही धर्म कहा जाता है, उनका अभिमत तो निकेवल बुरा है॥४१॥

बचाने वाला और पैदा करने वाला; ये दोनों तो संसार के उपकारी हैं। ऐसे जो उपकार-प्रत्युपकार होते है, उनमें जरा भी केवली-प्ररूपित धर्म नहीं है॥४२॥

जीव को जीव बचाता है तो उससे उसका राग-बन्धन हो जाता है। वह जीव यदि परलोक मे कहीं मिल जाता है तो उसे देखते ही स्नेह जागृत होता है॥४३॥

जीव को जीव मारता है, उससे उसके प्रति द्वेष का बन्धन हो जाता है। परलोक में यदि वह आ मिलता है तो देखते ही उसके प्रति द्वेष जागृत हो जाता है॥४४॥

मित्र से मित्रता और शत्रु से शत्रुता भवान्तरों में भी चलती जाती है। यह राग-द्वेष रूप कर्म प्रपञ्च जिनेश्वर देव के धर्म में नहीं आता॥४५॥

कोइ व्यक्ति अनुकम्पा करके किसी का घर मंडाता है अर्थात् विवाह करा देता है और कोई किसी के बनते घर को बिखेर देता है। यह तो प्रत्यक्ष ही राग और द्वेष है, जो आगे तक चलते जाते हैं॥४६॥

कोई किसी के काम-भोग की वृद्धि करता है और कोई किसी के काम-भोग मे अन्तराय दे देता है। यह भी स्पष्ट राग और द्वेष है जो आगे तक चलते जाते है॥४७॥

कोइ पेला रो धन गमियो बतावै,
वले स्त्रियादिक पिण गमिया बतावै।
कोइ लाभ नैं तोटो लोका नैं बतावै,
तिण सू आगै लगो राग चलियो जावै ॥४८॥

कोइ वेदगरो कर कर नें लोका रो,
रोग गमाय नैं जीवां बचावै।
यो उपगार लोकां सू कीधा,
आगै लगो राग चलियो जावै ॥४९॥

कहि कहि नै कितरो एक कहूं,
संसार तणा उपगार अनेक।
ज्ञान दर्शन चारित्र नें तप बिना,
मोक्ष तणो उपगार नहीं छै एक ॥५०॥

संवर ना भेद बीस कह्या जिन,
निर्जरा तणा भेद कह्या छै बार।
ए बतीसूई बोल उपगार मुगतिरा,
और मोक्ष रो उपगार नहीं छै लिगार ॥५१॥

संसार नें मोक्ष तणा उपगार,
समदिष्टी हुवै ते न्यारा न्यारा जाणै।
पिण मिथ्याती नें खबर पड़े नही सूधी,
तिण सूं मोह कर्म बस ऊंधी ताणै ॥५२॥

संसार नै मोक्ष रो मारग ओलखावण,
जोड़ कीधी खेरवा शहर मझार।
संवत अठारै नें वर्ष चोपनै,
आसोज सुद बीज नें शुक्रवार ॥५३॥

दुहा

चोबीसमां जिनवर हुवा, महावीर विख्यात।
त्यांरो पहली वाणी निर्फल गई,ते हुवो अछेरो आश्चर्य बात ॥१॥

कोई किसी का खोया हुआ धन और स्त्री बता देते है। कोई लोगों को लाभ व नुकसान की बात बता देता है। यह राग भाव भी आगे तक चलता जाता है ॥४८॥

कोई व्यक्ति वैद्यवृत्ति कर रोग गमाता है और उन्हे मरने से बचाता है। यह उपकार भी लोगों के साथ करने से तत्सम्बन्धी राग-भाव आगे तक चलता जाता है ॥४९॥

संसार के अनेकों उपकार है। कितनों का बखान कर सकता हूं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के बिना मोक्ष का उपकार एक भी नही है ॥५०॥

जिनेश्वर देव ने संवर के बीस भेद कहे हैं और निर्जरा के बारह भेद। ये बत्तीस भेद मोक्ष-सम्बन्धी उपकार के है और कोई भी मोक्ष का उपकार नहीं है ॥५१॥

जो सम्यक्दृष्टि होते है, वे संसार और मोक्ष के उपकार को पृथक्-पृथक् समझ लेते है। परन्तु मिथ्यादृष्टि को उसका सम्यक् ज्ञान नही होता। इसलिए मोहकर्मवश वह उल्टी खींचातान करता है ॥५२॥

संवत् अठारहसौचौवन, आश्विन शुक्ल द्वितीया, शुक्रवार के दिन संसार और मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए खेरवा शहर में यह रचना की है॥५३॥

दोहा

चौबीसवें तीर्थंकर विश्वविख्यात भगवान् महावीर थे। उनकी पहली देशना निष्फल गई। यह एक अछेरा (आश्चर्य) हुआ॥१॥

जंभीक ग्राम नें बाहिरे, स्याम नाम कर्षणी रै खेत।
तिहां साल नामा वृक्ष थो, गहर गंभीर पान समेत ।।२।।

तिण साल वृक्ष हेठे आविया, भगवंत श्री वर्द्धमान।
बेसाख सुदि दशमी दिने, उपनो केवल ज्ञान ।।३।।

केवल महोछव करवा भणी, तिहां देवता आया अनेक।
पिण मनुष्यां नें ठीक पड़ी नहीं, तिण सू मनुष्य न आयो एक ।।४।।

देवतां नै वाणी वागरी, थित साचववा काम।
कोई साधु श्रावक हुवो नहीं, तिण सू वाणी निर्फल गई ताम ।।५।।

जो धन थकी धर्म नीपजै, तो देवता पिण धर्म करंत।
वीर वाणी सफली करे, मन मांहे पिण हर्ष धरंत ।।६।।

व्रत पचखाण न हुवै देवता थकी, धन सू पिण धर्म न थाय।
तिण सू वीर वाणी निर्फल गई, तिणरो न्याय सुणो चितल्याय ।।७।।

ढाल : १२

[राग—जीव मोह अनुकम्पा न आणिये]

जिनधर्म हुवै सोनईया दियां,
तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा,
वीर वाणी निर्फल न गमात जी।
भवि करज्यो परख जिनधर्म री ।।१।।

रत्न हीरा नें माणक पना,
मन माने ज्यू देवता देत जी।
वीर वाणी सफली करे,
देवता पिण लाहो लेत जी ।।२।।

धन दियां हुवै धर्म जिन भाषियो,
देवता दान दे दग चाल जी।
यूं कियां वीर वाणी सफल हुवै,
तो अछेरो नहीं हुवै तिण कालजी ।।३।।

जंभिक ग्राम के बाहर साम नामक किसान के खेत में एक फल-पत्रों-सहित सघन शाल वृक्ष था ।।२।।

उस शाल वृक्ष के नीचे भगवान् महावीर आये। वहां वैशाख शुक्ला दसमी के दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ ।।३।।

केवल महोत्सव करने के लिए वहा अनेकों देव आये, परन्तु मनुष्यों को पता नहीं चला, इसलिए एक भी मनुष्य वहां नहीं पहुंचा ।।४।।

केवल रीति निभाने के लिए देवों के सम्मुख भगवान् ने देशना दी। कोई भी व्यक्ति साधु या श्रावक नही बना, इसलिए उनकी वाणी निष्फल गई ।।५।।

यदि धन से धर्म होता तो देवता भी कर लेते। भगवान् की वाणी को ही सफल कर देते और अपने मन में भी हर्षान्वित होते ।।६।।

देवता से व्रत या प्रत्याख्यान नहीं होता। इसी प्रकार धन से भी धर्म नही होता। इससे उनकी वाणी निष्फल गई। इसका न्याय मन लगाकर सुने ।।७।।

गीति : १२

स्वर्ण मुद्राएं देने से यदि धर्म होता तो देवता उसी समय करते। अपने मन के मनोरथ भी पूरते और वाणी को भी निष्फल नही गमाते। ···भव्य लोगों! जैन धर्म की परीक्षा करो ।।१।।

हीरा, माणिक, पन्ना आदि रत्न देवता मन चाहेरूप से देते और भगवान् की वाणी को सफल कर अपने-आपको धन्य मानते ।।२।।

धन देने से यदि धर्म होता तो देवता खुले हाथों धन देते। ऐसा करने से वाणी सफल होती तो उस समय भगवान् की वाणी के असफल होने का अछेरा (आश्चर्य) नही होता ।।३।।

धन धानादिक लोका नै दिया,
ए तो निश्चैई सावद्य दान जी।
तिण में धर्म नही जिनराज रो,
ते भाष्यो छै श्री भगवान जी ॥४॥

जो जीव बचाया जिन धर्म हुवै,
यो तो देवता रे आसान जी।
अनंता जीवा नें बचाय नें,
वाणी सफल करता देव आण जी ॥५॥

असंख्याता समदिष्टी देवता,
एकीको बचावत अनंत जी।
जो धर्म हुवै तो आघो न काढता,
वीर री वाणी सफल करत जी ॥६॥

साधु श्रावक रो धर्म छै बरत में,
जीव हणवा रा करै पचखाण जी।
ए धर्म देवता थी हुवै नहीं,
तिण सू निर्फल गई वीर-वाण जी ॥७॥

जीवा ने जीवा वचाविया हुवै,
संसार तणो उपगार जी।
यू तो सफल न हुवै वाणी वीरनी,
धर्म रो नहीं अंश लिगार जी ॥८॥

असंजती ने जीवा बचाविया,
बले असंजती ने दिया दान जी।
इम किया वीर वाणी सफल हुवै,
ओ तो देवता रे पिण आसान जी ॥९॥

कुपात्र जीवा नै बचाविया,
कुपात्र नै दीधा दान जी।
यो सावद्य किरतब संसार नो,
भाख्यो श्री भगवान जी ॥१०॥

धन-धान्य आदि लोगों को जो दिया जाता है, वह तो निश्चित ही सावद्य दान है। इसमें जिनेश्वर देव का धर्म नहीं है। यह भगवान् ने स्वयं कहा है ॥४॥

यदि जीव बचाने में भी धर्म होता तो वह देवताओं के लिए आसान बात थी। अनन्त जीवों को बचाकर भगवान् की वाणी सफल करते ॥५॥

असंख्य समदृष्टि देव हैं। एक-एक अनन्त जीवों को बचा देता। यदि उसमें धर्म होता तो भगवान् की वाणी सफल करने में जरा भी देर नहीं करते ॥६॥

साधु और श्रावक का धर्म व्रत में है। वे जीव-हिंसा करने का त्याग करते हैं। यह धर्म देवता में नहीं होता, इसलिए भगवान् की वाणी निष्फल गई ॥७॥

जीवों को जीवित रखने में सांसारिक उपकार होता है, इससे भगवान् की वाणी सफल नहीं होती। इसमें धर्म का जरा भी अंश नहीं ॥८॥

असंयति को जीवित रखने में और असंयति को दान देने में यदि भगवान् की वाणी सफल होती तो देवों के लिए यह बहुत ही आसान काम था ॥९॥

कुपात्र जीवों को बचाना और कुपात्र को दान देना, यह संसार का सावद्य कर्तव्य है, ऐसा भगवान् ने कहा है ॥१०॥

उत्तराध्येन अठावीस में कह्यो,
मोक्ष नां मारग भाष्या च्यार जी।
बाकी सर्व काम संसार ना,
सावद्य जोग व्यापार जी ॥११॥

जो धर्म हुवै सावद्य दान में,
असंजती नें बचायां हुवै धर्म जी।
तो निश्चैई समदिष्टी देवता,
यो धर्म करे काटै कर्म जी ॥१२॥

कर्म कटै इण सावद्य धर्म सूं,
एहवा सावद्य काम अनेक जी।
ते तो थोड़ा सा परगट करूं,
ते सुणज्यो आण विवेक जी ॥१३॥

मच्छगलागल लग रही,
सारा द्वीप समुद्रा मांय जी।
मोटो मच्छ छोटा ने भखे,
उणनूं मोटो उणने ई खाय जी ॥१४॥

जो उद्यम करे एक देवता,
ता एक दिन में बचावै अनेक जी।
धर्म हुवै तो आघो काढ़ै नहीं,
यो तो छै देवता में विवेक जी ॥१५॥

जीव बचायां अभय दान हुवै,
तो अभय दान घणा नै देत जी।
धर्म जाणै जीव बचावियां,
देव भव मे पिण लाहो लेत जी ॥१६॥

मछला बचावै एक दिन मझे,
लाखां कोड़ाई गिणिया न जाय जी।
इण में धर्म हुवै जिन भाषियो,
तो देवता देवै मछला छुड़ाय जी ॥१७॥

उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग कहे हैं। बाकी सब काम संसार के हैं और उनमें सावद्य योग का व्यापार है ।।११।।

यदि सावद्य दान में और असंयति को बचाने में धर्म होता तो निश्चित ही समदृष्टि देवता उस धर्म का अनुष्ठान कर अपने कर्म नष्ट करते ।।१२।।

इस प्रकार के सावद्य कार्य से यदि कर्म कटते हैं तो ऐसे अनेकों कार्य हैं। उनमे से थोड़े से कार्यों को मैं प्रकट करता हूं। मन में विवेक जगाकर सुनो ।।१३।।

समस्त द्वीप समुद्रों में मच्छगलागल लग रही है। बड़ा मच्छ छोटे मच्छ को खा रहा है और उससे बड़ा उसे खा रहा है ।।१४।।

यदि एक देवता भी परिश्रम करे तो एक दिन में अनेक जीवों को बचा देता है। धर्म हो तो वह ऐसे कार्य में विलम्ब नहीं करेगा; क्योंकि इतना विवेक तो उसमें है ही ।।१५।।

जीव बचाने में यदि अभयदान होता है तो वह बहुतों को अभयदान दे देता। जीवों को बचाने में यदि धर्म मानता तो देव-योनि मे भी यह कार्य खूब करता ।।१६।।

एक दिन में लाखों-करोड़ों और अगणित मच्छों को बचाया जा सकता है। यदि इसमें धर्म होता तो देवता मच्छों को अवश्य बचाते ।।१७।।

मच्छ आगा सू मच्छ छोड़ाविया,
उणरे पड़ी जाणै अंतराय जी।
तो अचित मच्छ उपजाय नें,
उणनें पिण देवै खवाय जी ॥१८॥

जो धर्म हुवै मछला नै बंचावियां,
मछला नें पोख्यां हुवै धर्म जी।
एहवो धर्म तो हुवै देवता थकी,
यू कर कर काटे कर्म जी ॥१९॥

जो धर्म हुवै तो देवता,
असंख्याता मछला ने बचाय जी।
असंख्याता पोपे माछला,
आलस पिण न करे ताय जी ॥२०॥

पृथवी पाणी तेउ वाउ मझे,
जीव कह्या असंख्यात जी।
वनसपती मे अनत छै,
या ने पिण देव बचात जी ॥२१॥

तीन विकलेंद्री मनुष्य तिर्यचनें,
बचाया धर्म जाणै जो देव जी।
तो त्यानैई बचावण री खप करे,
समदिष्टी देवता स्वयमेव जी ॥२२॥

नाहर चित्तादिक दुष्ट जीव छै,
करै गायांदिकरी घात जी।
गायादिक नै तो खावा दे नही,
त्याने पिण देव अचित्त खवात जी ॥२३॥

जीव जीव तणो भक्षण करै,
त्याने बचावै अचित्त खवाय जी।
जो यू किया मै धर्म नीपजै,
तो देवता करे ओहिज उपाय जी ॥२४॥

यदि मत्स्य के मुह से मत्स्य को छुडाने में उसके अन्तराय होती लगे तो अचित्त मत्स्य को पैदा करके उसे वह खिला देता ॥१८॥

यदि मत्स्यो को बचाने मे और पोष देने में धर्म होता तो यह धर्म देवता से भी सम्भव था और उसे करके वह अवश्य कर्म काटता ॥१९॥

यदि धर्म हो तो देवता असख्य मत्स्यों को बचा देता और बिना किसी आलस्य के असख्य मत्स्यों का पोषण करता ॥२०॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इनमें असख्य जीव माने जाते है। वनस्पति मे अनन्त जीव होते है। उनको भी देवता बचा देता ॥२१॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, मनुष्य और अन्य तिर्यञ्चो को बचाने में यदि देवता धर्म जानता तो सम्यक्दृष्टि देवता स्वयं उनको बचाने के लिए प्रयत्न करता ॥२२॥

बाघ, चीते आदि दुष्ट जीव गाय आदि पशुओं की घात करते है, उनको भी अचित्त द्रव्य खिला कर गाय आदि वह बचा लेता ॥२३॥

जीव जीव का भक्षण करता है। उसे अचित्त खिला कर बचाया जा सकता है। यदि ऐसा करने में धर्म होता हो तो देवता यही उपाय काम मे लेता ॥२४॥

अढाइ द्वीप मैं मनुष्या तणे,
घर-घर आरम्भ करै जाण जी।
ते नो कतल करै जीवां तणी,
छ ही काय तणो घमसाण जी ॥२५॥

नित्य एकीका घर में जुवो जुवो,
आरम्भ हुवै दिन रात जी।
छेदन-भेदन करै निलोतरी,
करे अनंत जीवा री घात जी ॥२६॥

दलणो पीसणो नै पोवणो,
घर-घर चूलो धुकावै ताम जी।
आवट कूटो करै छ कायरो,
करे अनंत जीवां रो विणाम जी ॥२७॥

एकीको समदिष्टी देवता,
त्यारी शक्ति घणी छै अतंत जी।
अढी द्वीप रो आरंभ मेटनै,
बचावै जीव अनन्त जी ॥२८॥

अढी द्वीप तणा मनुष्यां भणी,
भूखा त्रपा न राखै कोय जी।
अचित्त अन्न पाणी निपजाय नैं,
सगला नैं करे तृप्ती सोय जी ॥२९॥

विविध प्रकार ना भोजन करै,
विविध प्रकार ना पकवान जी।
खादिम स्वादिम विविध प्रकार ना,
विविध प्रकारै शीतल पान जी ॥३०॥

साग व्यजन विविध प्रकार नां,
फल निलोती विविध प्रकार जी।
मनसा भोजन सगला मनुष्या भणी,
करावै देवता वार-वार जी ॥३१॥

अढाई द्वीप में मनुष्यों के घर-घर में आरम्भ होता है। वे छः हो प्रकार के जीवों का संहार करते है ॥२५॥

एक-एक घर में प्रतिदिन पृथक्-पृथक् हिंसा युक्त प्रवृत्तियां होती हैं। वनस्पति का छेदन-भेदन होता है। अनन्त जीवों की घात होती है ॥२६॥

दलना, पीसना, पोना, चुल्हा जलाना आदि रूपों में छः काय का आरम्भ-समारम्भ होता है। अनन्त जीवों का नाश किया जाता है ॥२७॥

एक-एक समदृष्टि देव अत्यन्त शक्तिशाली होते है। वे अढाई द्वीप का आरम्भ मिटा कर अनन्त जीवों को बचा सकते है ॥२८॥

अढ़ाई द्वीप के मनुष्यों की भूख और प्यास अचित्त अन्न, जल आदि देकर मिटा सकते हैं। सबको तृप्त कर सकते हैं॥२९॥

देवता विविध प्रकार के भोजन और विविध प्रकार के पक्वान्न बना सकते हैं। विविध प्रकार के मेवे और लवंग आदि द्रव्य तथा शीतल पानी, विविध प्रकार के शाक और विविध प्रकार के फल आदि से मनुष्यों को पुनः-पुनः मनोवांछित भोजन करा सकते हैं ॥३०-३१॥

ठाम-ठाम अचित्त पाणी तणा,
    कुंड भर-भर राखे ताम जी।
वले भोजन विविध प्रकार ना,
    त्यारा ढिगला करे ठाम-ठाम जी ॥३२॥

च्यारूं आहार अचित्त निपायनें,
    दीधा हुवै धर्म ने पुन्य ताम जी।
वले धर्म हुवै जीव बचावियां,
    तो देवता करे ओहिज काम जी ॥३३॥

देवता खाणो देवै मिनखां भणी,
    तो खेती रो आरम्भ टल जाय जी।
वले गहणा कपड़ा देवै देवता,
    तो घणा जीव मरे नहीं ताय जी ॥३४॥

घर हाट हवेली महलायतां,
    इत्यादिक कमठाणा ताय जी।
ए पिण निपजाय देवै देवता,
    तो अनन्ता जीव मरता रहि जाय जी ॥३५॥

ते छावणा लीपणा नहीं पड़े,
    ते तो सुन्दर ने सोभाय मान जी।
ते पिण दीसै घणा रलियामणा,
    देवता नें करता आसान जी ॥३६॥

एहवी करणी किया धर्म नीपजै,
    तो देवता आघो नहीं काढंत जी।
या करणी करै कर्म काटनें,
    काम सिराड़े देता चाढ़त जी ॥३७॥

दान दिया ने जीव बचाविया,
    जो कर्म तणो हुवै सोख जी।
तो दान दे जीव बचायनै,
    देवता पिण जावै मोख जी ॥३८॥

स्थान-स्थान पर अचित्त पानी के कुंड भर कर रख सकते है और स्थान-स्थान पर विविध प्रकार के भोजनों के ढेर लगा सकते हैं। चारों प्रकार के आहार अचित्त पैदा कर देने से यदि धर्म-पुण्य होता हो और जीवों को बचाने में धर्म होता हो तो वे समदृष्टि देवता यही काम करते ॥३२-३३॥

देवता यदि मनुष्यों को खाना देने लगे तो खेती करने का आरम्भ टल जाता है और देवता गहने, कपड़े आदि देने लग जाएं तो बहुत सारे जीव मरने से बच सकते हैं ॥३४॥

घर, हाट, हवेली, महल आदि भी यदि देवता पैदा कर दे तो अनन्त जीव मरने से बच जाते है ॥३५॥

उन देव-निर्मित मकानों को छाना या नीपना भी न पड़े। वे तो सुन्दर होते ही हैं और देवताओं के लिए उनको बनाना भी बहुत सरल है ॥३६॥

ऐसा कार्य करने में यदि धर्म होता तो देवता देरी नही करते। इस क्रिया से कर्म काट कर अपना काम सिद्ध करते ॥३७॥

दान देने में और जीव बचाने में यदि कर्मो का क्षय होता हो तो दान देकर या जीव बचा कर देवता भी मोक्ष में चले जाते ॥३८॥

अनेरा नें दियां पुन्य नीपजै,
देवता रे हुवै पुन्य रा थाट जी।
वले धर्म हुवै जीव बचाविया,
तो देव मोक्ष जावै कर्म काट जी ॥३९॥

असजती जीवा रो जीवणो,
ते सावद्य जीतव साख्यात जी।
तिण नें देवै ते सावद्य दान छै,
तिण मे धर्म नही असमात जी ॥४०॥

धर्म हुवै तो सगला मिनखा तणे,
रत्ना जड़या करदे महल जी।
ते पिण थोड़ा मे निपजाय दे,
देवता ने करता सहल जी ॥४१॥

खाणो पीणो गहणो कपड़ादिक,
गृहस्थ तणा सारा काम भोग जी।
त्यारो करै बधोतर तेहन,
बंधे पाप कर्म ना संजोग जी ॥४२॥

काम नै भोग सारा गृहस्थ तणा,
दुःख नै दुखरी छै खान जी।
त्यांने किपाक फलरी ओपमा,
उत्तराध्ययन मे कह्यो भगवान जी ॥४३॥

त्यानें भोगवावै धर्म जाण नै,
तिणरे बंधै छे पाप कर्म जी।
तिण मे समदिप्टी देवता,
अंस मात्र न जाणे धर्म जी ॥४४॥

केइ अज्ञानी इम कहै,
श्रावक नै पोख्या छै धर्म जी।
लाडू खवाय दया पलाविया,
तिणरा कट जाये पाप कर्म जी ॥४५॥

दूसरो को देने में पुण्य होता हो तो देवता के पुण्यों का ढेर लग जाए और जीव बचाने में यदि धर्म होता तो कर्म काट कर देवता भी मोक्ष चले जाते ॥३९॥

असयति जीवों का साक्षात् ही सावद्य जीवन है। उनको जो दिया जाता है वह सावद्य दान है। उसमे अशमात्र भी धर्म नहीं है ॥४०॥

धर्म होता हो तो सब मनुष्यों के लिए रत्नजटित महल बना दिये जाते। ये सब बहुत थोडे मे हो जाते, क्योंकि देवता के लिए ये सब सरल कार्य होते है ॥४१॥

खाना-पीना, गहना, कपडा आदि सारे गृहस्थ के काम-भोग है। उनकी वृद्धि करने मे पाप-कर्म की वृद्धि होती है ॥४२॥

गृहस्थ के समस्त काम-भोग दुःख की खान है। उन्हें उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् ने किंपाक फल की उपमा दी है ॥४३॥

उन काम-भोगों का आचरण कराने मे पाप-कर्मो का बन्धन होता है। सम्यक दृष्टि देवता अश मात्र भी उसमे धर्म नही मानते ॥४४॥

कुछ अज्ञानी यह कहते है कि श्रावक का पोषण करने मे धर्म है। लड्डू खिलाकर दया पलाने में पाप-कर्म कट जाते है ॥४५॥

लाडुवा साटे उपवास बेला करै,
तिणरा जीतब नै छै धिक्कार जी।
तिण नें पोषे छै लाडू मोल ले,
तिण में धर्म नही छै लिगार जी ॥४६॥

लाडुवां साटे पोषा करै,
तिण मे जिन भाख्यो नही धर्म जी।
ने तो इहलोकरै अरथे करे,
तिणरो मूरख न जाणै मर्म जी ॥४७॥

धर्म हुवै तो समदिष्टी देवता,
अचित्त लाडुवादिक निपजाय जी।
बले पाणी पिण अचित्त निपजाय नै,
श्रावका नै जीमावै धपाय जी ॥४८॥

जावजीव सगला श्रावका भणी,
लाडुवादिक अचित्त खवाय जी।
अढी द्वीप तणा श्रावकां भणी,
दया पलावै पोसा कराय जी ॥४९॥

त्यानें आरम्भ करवा दे नही,
त्यानें कल्पे ते देवता देत जी।
धर्म हुवै तो आघो नहीं काढता,
यो पिण देवता लाहो लेत जी ॥५०॥

श्रावका नें वस्तु दे चावती,
ऊणायत राखै नहीं ताय जी।
धर्म हुवै तो आघो काढ़ै नही,
त्यारें कुमिय न दीसै काय जी ॥५१॥

जो धर्म हुवै श्रावक नै पोषियां,
तो देवता पिण करे यो धर्म जी।
असंख्याता श्रावकां नें पोष नें,
काटता निज पाप कर्म जी ॥५२॥

लड्डुओं के लालच से जो उपवास या बेला करते हैं, उनके जीवन को धिक्कार है। लड्डू मोल लेकर जो उनका पोषण किया जाता है, उसमें जरा भी धर्म नहीं है ॥४६॥

लड्डुओं के लिए पोषध आदि करते हैं, उसमें जिनेश्वर देव ने धर्म नहीं कहा है। वे पौषध आदि सब इहलौकिक हैं। मूर्ख आदमी इसका मर्म नहीं जानते ॥४७॥

धर्म होता हो तो सम्यग्दृष्टि देवता अचित्त लड्डू और अचित्त पानी पैदा करके श्रावकों को अवश्य खिलाते ॥४८॥

यावज्जीवन तक अढाई द्वीप के सभी श्रावकों को लड्डू आदि अचित्त द्रव्य खिलाते और पौषध करा कर दया पलाते ॥४९॥

उन्हें हिंसा आदि आरम्भ नहीं करने देते और श्रावकों को जो कल्प्य होता, वह देवता देते। धर्म होता तो देवता देरी नहीं करते और ऐसा करके अपने-आपको कृतकृत्य करते ॥५०॥

यदि धर्म होता तो देवता श्रावकों को मनचाही वस्तु देते। जरा भी कसर नहीं रखते और न ऐसा करने में विलम्ब ही करते ॥५१॥

यदि श्रावक का पोषण करने में धर्म होता तो देवता भी यह धर्म करते। असंख्य श्रावकों का पोषण करके अपने कर्म काटते ॥५२॥

असंख्याता द्वीप समुद्र में,
असंख्याता श्रावक छै ताम जी।
त्याने पोपे समदिष्टी देवता,
जो जाणे धर्म नों काम जी ॥५३॥

श्रावक रो खाणो पीणो सर्वथा,
अव्रत में कह्या छै आम जी।
तिण सू समदिष्टी देवता,
एहवो किम करसी काम जी ॥५४॥

सक्रेंद्र ने ईशाणेंद्र छै,
तिरछा लोक तणा सिरदार जी।
हाल हुकम छै सगला ऊपरे,
असंख्याता द्वीप समुद्र मझार जी ॥५५॥

मच्छ गलागल लग रह्या,
सारा द्वीप समुद्रा माय जी।
जो धर्म हुवै जीव बचाविया,
तो इंद्र थोड़ा मे देवै मिटाय जी ॥५६॥

भगवंत कह्यो हुवै इंद्र नें,
जीव बचाया धर्म होय जी।
तो दोनू इंद्र जीव बचावता,
आलस नहीं करता कोय जी ॥५७॥

मच्छ आगा सू मच्छ छोडायनें,
मच्छा नें देता जीवा बचाय जी।
त्याने पिण भूखा नही राखता,
अचित मच्छ कर देता खवाय जी ॥५८॥

यू किया जिन धर्म नीपजै,
तो भगवंत सिखावत आप जी।
बले आज्ञा देता तेहनें,
चोड़े करता आहिज थाप जी ॥५९॥

असंख्य द्वीप समुद्रो में असंख्य श्रावक रहते है। सम्यग्दृष्टि देवता यदि धर्म समझते तो उनका अवश्य पोषण करते ॥५३॥

श्रावक का खाना-पीना आदि सब अव्रत मे कहा गया है; इसलिए सम्यग् दृष्टि देवता ऐसा कार्य नही कर सकते ॥५४॥

तिर्यग् लोक के दो मालिक है—शक्रेन्द्र और इशानेन्द्र। उनका आदेश असख्य द्वीप समुद्रों मे सर्वोपरि है ॥५५॥

सभी द्वीपों एव समुद्रो मे जीव जीव को खा रहे है। यदि जीव बचाने मे धर्म हो तो इन्द्र उस मच्छगलागल को थोड़े में ही मिटा देता ॥५६॥

भगवान् महावीर ने इन्द्र को कहा होता कि जीव बचाने मे धर्म है तो दोनों इन्द्र जीवों को बचाते। जरा भी आलस्य नहीं करते ॥५७॥

मत्स्य के मुह से मत्स्य को छुड़ा कर उसे जीवित बचा लेते और उन बड़े मत्स्यो को भी भूखा नहीं मारते। निर्जीव मत्स्यों का निर्माण कर उन्हें खिला देते ॥५८॥

ऐसा करने मे जिन-धर्म होता तो भगवान् स्वयं ऐसा सिखलाते। इन्द्र को ऐसी आज्ञा देते और प्रकट रूप मे उस बात की स्थापना करते ॥५९॥

जीव नै जीवां बचावियां,
ओ तो संसार नो उपगार जी।
तठे जिनाज्ञा जावक नहीं,
धर्म पिण नहीं छै लिगार जी ॥६०॥

छ काय ना शस्त्र बचावियां,
छ काय नो बेरी होय जी।
त्यारो जीतब पिण सावद्य कह्यो,
त्यांनें बचायां धर्म न कोय जी ॥६१॥

असंजती रा जीवणा मझे,
धर्म नहीं अंसमात जी।
वले दान देवै छै तेहनें,
ते पिण सावद्य साख्यात जी ॥६२॥

दान देवो ने जीव बचायवो,
यो तो देवता ने आसान जी।
यूं कियां धर्म हुवै तो देवता,
जाय पांचमी गति प्रधान जी ॥६३॥

जीव बचावणो नें सावद्य दान नें,
ओलखायो पुर शहर मझार जी।
संवत अठारै वर्ष सतावनें,
काति विद चौदस नें शुक्रवार जी ॥६४॥

जीवों को जीवित बचाने में सांसारिक उपकार है। जहां जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नहीं है, वहां जरा भी धर्म नहीं होता ॥६०॥

षट्कायिक जीवों के शस्त्र रूप जीव को बचाने मे वह छः काय का वैरी हो जाता है। उनका जीना भी सावद्य कहा गया है। उनको बचाने में धर्म नहीं होता ॥६१॥

असयति जीवों के जीने में तिल भर भी धर्म नही है और जो उन जीवों को दान दिया जाता है, वह भी साक्षात् सावद्य है ॥६२॥

दान देना और जीवो को बचाना, ये दोनो कार्य देवताओं के लिए आसान है। ऐसा करने मे धर्म होता तो देवता भी पंचम गति (मोक्ष) प्राप्त कर लेते ॥६३॥

संवत् अठारहसौ सत्तावन, कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी शुक्रवार के दिन जीव बचाने को और सावद्य दान को पुर शहर में भली-भाति बताया गया है ॥६४॥

परिशिष्ट १

सांकेतिक कथाएं

: १ :

हाथी के भव में मेघकुमार

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। बाल्यकाल से ही वह साधु-प्रेमी था। जब-जब भगवान् श्री महावीर राजगृह में आते, तब-तब वह वंदन के लिए जाता, व्याख्यान-श्रवण भी करता। मेघकुमार राजकुमार तो था ही, उसके साथ-साथ उसमें वह सहज व्यक्तित्व भी था कि सभी साधु उससे वार्तालाप करने को समुत्सुक रहते। इस धर्मानुराग से प्रेरित होकर वह वैरागी बना और भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होने की प्रथम रात्रि में जब साधुओं के सोने की व्यवस्था हुई तो उस व्यवस्था में मेघकुमार का क्रम सबसे अन्तिम था। पहले दिन तक वह राजमहल की सुकोमल शय्या पर लेटा करता था और आज वह सामान्य तृण-बिस्तर पर सोया था। वह गहरी नींद नहीं ले सका। उसके पास से होकर साधुओं के आवागमन का क्रम भी सारी रात चलता ही रहा। रात्रि-जागरण की उस बेला में मेघकुमार के मन में नाना दुश्चिन्ताएं उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा, कल तक सभी साधुओं का मेरे प्रति इतना आदरभाव था और आज उनके संघ में दीक्षित हो जाने के साथ ही मेरी यह उपेक्षा? न कोई हँसकर मुझसे बोल रहे है और न उन्हें मेरे सुख-दुःख की कोई चिन्ता ही दीख पड़ रही है। सभी अपने-अपने कार्य में तल्लीन हो रहे हैं। मैं व्यर्थ ही इस जंजाल में आ फंसा। खैर, अब भी क्या हुआ है? प्रातःकाल होते ही ये पात्र, रजोहरण आदि भगवान् श्री महावीर को पुनः सौंप कर मैं अपने घर चला जाऊंगा।

प्रातःकाल मुनि मेघकुमार भगवान् महावीर के पास पहुंचे तो त्रिकालदर्शी भगवान् ने स्वयं ही कहा—मेघकुमार! आज रात को तू परीषहों से पराभूत हुआ। तेरे मन में यह विचार आया कि पात्र, रजोहरण आदि सौंप कर अपने घर चला जाऊंगा। हे राजकुमार! संयम ग्रहण करके इस प्रकार दुर्बलता दिखलाना उचित नहीं है। देख, अब तो तू मनुष्य है। तेरे में हिताहित का विवेक है। तू ने अपने पिछले भव में, जब कि तू एक पशुमात्र था, मानसिक दृढ़ता का बहुत बड़ा उदाहरण उपस्थित किया था। मेघकुमार सुनने में लीन हुआ और भगवान् महावीर उसे बताने लगे—तेरा यह जीव पिछले भव में हाथी था। उससे भी पिछले भव में यह हाथी था। एक बार जंगल में आग लगी। हाथी प्राण बचा कर भागा। चलते-चलते भयंकर प्यास लगी। एक तालाब में पानी पीने के लिए वह

ज्यों ही गया, कीचड़ में ऐसा फंसा कि वह फिर निकल नहीं पाया। एक दूसरा हाथी आया और दन्त-प्रहार से उस पर आक्रमण करने लगा। वहां से आयु पूर्ण कर तेरा वह जीव पुनः हाथी के रूप मे पैदा हुआ। एक बार उसने जंगल में आग लगी देखी तो उसे जातिस्मरण हो आया। उसने सोचा यह न हो कि फिर कभी जंगल में आग लग जाए और मुझे मर जाना पड़े। उसने एक योजन मण्डलाकार भूमि को साफ कर दिया। वहां तृण, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नही रहने दिया और वहां वह सुख से रहने लगा। जंगल में फिर से आग लगी। जंगल के अन्य जीव-जन्तु भी प्राण-रक्षा के लिए उस मण्डल में आकर एकत्रित होने लगे। हाथी के चारों ओर भर गए। हाथी के लिए केवल खड़े रहने भर की जगह रह गई। अकस्मात् हाथी ने शरीर खुजलाने के लिए एक पैर ऊपर उठाया। संयोगवश एक शशक तत्क्षण उस रिक्त स्थान मे आ बैठा। हाथी ने पैर नीचे रखना चाहा तो उस शशक का उसे पता चला। उस समय उसने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की अनुकम्पा के लिए पैर उठाए रखा। एक दिन बीता, दूसरा दिन भी बीता और तीसरा दिन भी बीतने लगा। उस उत्कट अहिंसा-प्रतिष्ठान से हे मेघकुमार! तुझे उस भव मे अपूर्व सम्यक्त्व-रत्न का लाभ हुआ। उस भव में भी तूने इतना दुःसह कष्ट सहा तो अब तो तू मनुष्य है। हेयोपादेय को अधिक समझता है, तब तेरे मन मे साधारण परिषहों के प्रति भी इतना अधैर्य क्यों?

मेघकुमार भगवान् श्री महावीर की इस अमृतोपम देशना से प्रभावित हुआ। अपने अधैर्य के प्रति उसके मन मे ग्लानि हुई। आत्म-आलोचना कर पुनः संयमारूढ़ हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १ के आधार से

: २ :
अरिष्टनेमि की अनुकम्पा

सौरियपुर नगर में वसुदेव नामक राजा राज्य करता था। उसके दो रानियां थीं; एक रोहिनी और दूसरी देवकी। उन दोनों के क्रमशः बलभद्र और श्रीकृष्ण दो पुत्र उत्पन्न हुए। वसुदेव के एक भाई का नाम था; समुद्रविजय। उसकी स्त्री का नाम था; शिवा। शिवा रानी के उदर से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण ने उग्रसेन राजा की कन्या राजिमती से अपने बन्धु अरिष्टनेमि का विवाह सम्बन्ध निश्चित कर दिया। दोनों ओर से विवाह की जोर-शोर से तैयारियां हुई। अरिष्टनेमि की बरात ज्यों ही उग्रसेन राजा के यहां पहुंची, अरिष्टनेमि ने देखा कि बहुत सारे पशु-पक्षियों को बाड़ों और पिंजरों में बांध रखा है। वे अपने सारथी से बोले—ये सब सुखार्थी जीव बाड़ों और पिंजरों में किसलिए डाले गए हैं? सारथी ने कहा—ये सब भद्र प्रकृति के जीव आपके विवाह-कार्य में बहुत से पुरुषों को भोजन देने के लिए एकत्रित किये गए है। इस प्रकार प्राणियों के विनाश-सम्बन्धी वचन को सुनकर दयार्द्र हृदय राजकुमार ने कहा—

जइ मज्झ कारण एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ॥

अर्थात् यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते है तो मेरे लिए यह परलोक में कल्याणप्रद नहीं होगा। यह कह कर अरिष्टनेमि कुमार ने अपने कुण्डल, कटिसूत्र आदि आभूषण उतार कर सारथी को दे दिए और कहा—रथ को वापस मोड़ो। मुझे इस प्रकार का हिंसाकारी विवाह नही करना है। श्रीकृष्ण प्रभृति बहुतों के समझाने पर भी वे नहीं माने और उन्होंने प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की। वे २२ वे तीर्थंकर बने।

—**उत्तराध्ययनसूत्र अ० १२ के आधार से**

: ३ :

धर्मरुचि

प्राचीन काल की घटना है। धर्मघोष नामक महान् आचार्य चम्पानगरी में आए। धर्मरुचि अनगार उनके तपस्वी शिष्य थे। उनके एक महीने की तपस्या पूरी हुई। भिक्षा लाने के लिए गुरु से आज्ञा लेकर सघन बस्ती में आए। उसी नगरी में नागश्री नामक एक ब्राह्मणी (द्रौपदी के पूर्व भव का जीव) रहती थी। उसने उस दिन अपनी भोजन सामग्री मे तुम्बे का शाक भी बनाया था। बनाने के बाद ज्योंही उसने वह चखा, उसे भान हुआ कि यह तो कड़वा तुम्बा है, खाने के योग्य नही है। ज्यों ही वह उस शाक को हाथ में लेकर किसी घूरा (उकरड़ी) पर गिराने के लिए चली; घूमते-फिरते महातपस्वी धर्मरुचि अनगार उसकी रसोई के द्वार पर पहुंच गए। नागश्री ने सोचा, व्यर्थ ही मुझे कहीं दूर इसे डालने के लिए जाना पड़ता। अच्छा हुआ यह मुनि आ गया। इसके पात्र में ही यह कटुक शाक क्यों नही डाल दूं। मेरा बर्तन तो खाली हो ही जाएगा। यह सोचकर उसने मुनि के पात्र मे वह कड़वे तुम्बे का शाक डाल दिया। मुनि ने समझा, कैसी श्रद्धा है, सारा शाक एक बार मे ही बहरा दिया। मुनि उस शाक को लेकर अपने परम गुरु धर्मघोष आचार्य के पास आए और अपनी भिक्षा उन्हे दिखलाई। उस शाक को देखकर गुरु ने कहा, यह तो कड़वा तुम्बा है। यदि इसे खालोगे तो तत्काल मृत्यु हो जाएगी। यह भक्ष्य नहीं है, इसलिए एकान्त निर्वद्य स्थान में जाकर इसे परठ दो।

शाक का परिष्ठापन करने के लिए मुनि एकान्त स्थान मे आए। शाक की एक दो बूंद भूमि पर पड़ी कि बहुत सारी चीटिया वहा आ गई और देखते-देखते उस विषोपम शाक से सब मर गई। यह देख कर मुनि ने सोचा, एक दो बूंद मात्र मे इतनी चीटियां मर गई, यदि सारा शाक परठ दूगा तो न जाने कितनी चीटियों की हिंसा होगी? इस प्रकार अपने द्वारा होने वाली हिंसा को टालने के लिए मुनि ने चीटियों की अनुकम्पा की और वह सारा शाक ज्यों का त्यों अपने आप खागए। उस विषोपम शाक के भक्षण से शरीर मे प्रबल वेदना हुई तो मुनि ने आमरण अनशन (संथारा) कर लिया। समाधिपूर्वक अपनी मनुष्य भव सम्बन्धी आयु शेष कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुए। उस देव योनि से महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्यरूप में उत्पन्न होंगे और वहां संयम ग्रहण कर मोक्ष-पद प्राप्त करेंगे।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १६ के आधार से

: ४ :

भगवान् श्री महावीर और गोशालक

भगवान् श्री महावीर ने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रथम वर्ष में वे पाक्षिक तप करते रहे और अस्थि ग्राम मे उन्होंने अपना वर्षाकाल बिताया। दूसरे वर्ष में वे मासिक तप करने लगे अर्थात् एक मास की तपस्या और एक दिन भोजन। राजगृह में नालन्दा की तन्तुवायशाला में उन्होंने अपना दूसरा वर्षावास बिताया। उसी शाला के एक कक्ष में गोशालक रह रहा था। भगवान् श्री महावीर ने अपने प्रथम मासिक तप का पारणा विजय गृहपति के घर पर किया। स्वर्णादि पांच द्रव्यों की वृष्टि हुई। इस तपो-महिमा को देखकर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—हे प्रभो! आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका धर्मान्तेवासी। उस समय भगवान् ने उसके वचन को जरा भी आदर नहीं दिया, मन में भी उसे अच्छा न समझा और वे मौन रहे। दूसरे मासिक तप का पारणा आनन्द गृहपति के घर किया। उसी प्रकार तपः-प्रभाव प्रकट हुआ। गोशालक ने फिर उसी प्रकार अनुरोध किया, पर भगवान् ने नहीं माना। इसी प्रकार तीसरे मासिक पारणे पर हुआ। चौथे मास का पारणा पोल्लाक सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण के घर हुआ और उसी प्रकार तपः-प्रभाव प्रकट हुआ। इस बार गोशालक ने अपने उपकरण विशेष किसी ब्राह्मण को दे दिए और डाढी मूंछ मुंडाकर भगवान् के पास आया। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करते हुए बोला—आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका धर्मान्तेवासी हूं। भगवान् ने गोशालक के इस निवेदन को स्वीकार किया। तदनन्तर छः वर्षों तक भगवान् ने गोशालक के साथ विहार किया। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख सहा। एक बार मिगसर के महीने में भगवान् सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। एक तिल के पौधे को देख कर गोशालक ने भगवान् से प्रश्न किया—यह तिल का पौधा फलवान होगा या नहीं? इस पौधे पर जो सात फूल लगे हैं, उनके सात जीव मर कर कहां उत्पन्न होंगे? भगवान् ने कहा—यह पौधा फलवान होगा और सात तिल पुष्पों के सात जीव इसी तिल पादप की एक फली में सात तिल होंगे। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उन्हें असत्य प्रमाणित करने के लिए पीछे रह कर उस तिल वृक्ष के पास आया और समूल उखाड़ कर एक ओर फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वृष्टि हुई और वह तिल वृक्ष पुनः जड़ जमा कर खड़ा हो गया। वे सात पुष्प भी

कथित प्रकार से तिल-फली में सात तिल हो गए।

भगवान् कूर्म ग्राम आए। उस ग्राम के बाहर एक वैश्यायण नामक तपस्वी रहता था। वह तीन-तीन दिन की तपस्या करता और सूर्य के सम्मुख आतप लेता। सूर्य के ताप से उसके सिर से जूएं भूमि पर गिर रही थीं। उनकी दया के लिए वह उन्हें उठा-उठा कर पुनः अपने बालों में रख रहा था। गोशालक भगवान् के पास से उठ कर उस तपस्वी के निकट आया और बोला—तू कोई तपस्वी है या जूओं का शय्यातर (स्थान देने वाला)। तपस्वी शान्त रहा। गोशालक इसी बात को पुनः-पुनः दोहराता रहा। तपस्वी क्रोध में आ गया। वह अपनी आतापना भूमि से सात-आठ पग पीछे गया और जोश में आकर उसने अपनी तपोलब्ध तेजोलब्धि गोशालक को भस्म करने के लिए छोड दी। भगवान् श्री महावीर ने कुछ ही दूर बैठे यह सब देखा। गोशालक पर अनुकम्पा आई। उन्होंने उस वैश्यायण तपस्वी की तेजोलब्धि का प्रतिघात करने के लिए अपनी शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर डाला। उस प्रयोग से उस तपस्वी का प्रयोग विफल हो गया। गोशालक को सुरक्षित खड़ा देख कर तापस सब रहस्य समझ गया। उसने अपनी तेजोलब्धि का प्रत्यावर्तन किया और कुछ क्षणों तक बोलता रहा—भगवन्! मैने आपको जाना, मैने आपको जाना। गोशालक इस समग्र घटना चक्र से अवगत रहा। वह भगवान् के पास आकर बोला—यह जूओं का शय्यातर आपके प्रति क्या कह रहा है? भगवान् ने सारा वृत्तान्त उसे बताया। गोशालक भयभीत हुआ और मन में खुश भी हुआ कि मैं मरते-मरते बच गया। गोशालक ने भगवान् से पूछा—भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे उत्पन्न होती है? भगवान् बोले—कोई व्यक्ति छः महीने तक बेले-बेले तप करे। पारणे में एक चूलू उष्ण जल व एक मुट्ठी उड़द ग्रहण करे। प्रतिदिन ऊंची बाहें कर सूर्य के सम्मुख आतापना ले। उसे छ मास के अन्त में यह तेजोलब्धि प्राप्त होती है। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को हृदयंगम कर लिया।

एक दिन पुनः भगवान् उस कूर्म ग्राम से सिद्धार्थ ग्राम की ओर जा रहे थे। गोशालक भी साथ था। वह स्थान आया, जहाँ गोशालक ने तिल वृक्ष को उखाड़ डाला था। गोशालक ने कहा—भगवन्! तिल वृक्ष के सम्बन्ध से आपने जो कुछ मुझे कहा था, वह सब मिथ्या निकला। न वह तिल वृक्ष निष्पन्न हुआ है और न वे सात पुष्प-जीव मर कर सात तिल हुए है। भगवान् ने कहा—गोशालक! तू ने मेरे कथन को असत्य करने के लिए उस तिल वृक्ष को उखाड़ डाला था, पर आकस्मिक वृष्टि-योग से वह पुनः मिट्टी में रुप गया और वे सात पुष्प जीव भी उस तिल वृक्ष की फली में सात तिल हो गए हैं। मेरा कथन किंचित् भी असत्य नहीं

है। गोशालक उस तिल वृक्ष के पास गया और वह फली तोड़ी तो उसमें सात ही तिल निकले। गोशालक ने सोचा—जिस प्रकार वनस्पति के जीव मर कर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सभी जीव मर कर उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते है। उस प्रकार गोशालक ने अपना 'पारिवृत्य परिहार' का एक नया सिद्धान्त बना लिया। गोशालक का ध्यान तेजोलब्धि को प्राप्त करने में लगा था। वह वहां से भगवान् से पृथक् हो गया।

यथाविधि छः महीनों की तपस्या कर उसने तेजोलब्धि प्राप्त कर ली। लोगों को भविष्य आदि कहने लगा। पार्श्वनाथ भगवान् के कुछ शिथिलाचारी साधु उसके शिष्य हो गए। अनुयायियों की संख्या बढने लगी। स्वयं की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए वह भगवान् श्री महावीर की निन्दा करता और अपने-आपको तीर्थंकर कहता।

श्रावस्ती नगरी मे दोनों का एक ही समय में आगमन हुआ। कुछ लोग महवीर को तीर्थंकर कहते तो कुछ लोग मायावी गोशालक को। गौतम स्वामी ने परिषद् के बीच गोशालक के विगत जीवन के विषय में भगवान् श्री महावीर से पूछा। भगवान् महावीर ने कहा—यह डाकोत का पुत्र है। गोशाला में इसका जन्म हुआ, इसलिए इसका नाम गोशालक रखा गया। इस प्रकार भगवान् ने गोशालक का अपना शिष्य होने से लेकर अब तक का सारा वर्णन परिषद् में सुनाया। नगर मे चर्चा चल पड़ी। गोशालक को यह सब सुन कर बहुत ही क्रोध आया और भगवान् के पास आकर बोला—काश्यप! जिस मंखली पुत्त को तुम अपना शिष्य बतला रहे हो, वह मैं नहीं हूँ। वह तो मर कर कभी देवलोक में चला गया। उस गोशालक के शरीर में मेरा तो केवल पारिवृत्य हुआ है। तुम मेरे लिए तथा प्रकार का मिथ्या प्रचार कर रहे हो, यह ठीक नहीं है।

गोशालक जब इस प्रकार प्रलाप करने लगा, तब भगवान् के सुशिष्य सर्वानुभूति मुनि, गोशालक के पास आए और बोले—हे गोशालक भगवान् ने तुझे प्रव्रज्या दी, शिष्य रूप में मुण्डित किया, तुझे तेजोलेश्या बताई, तुझे पढ़ाकर बहुश्रुत किया, तू भगवान् के साथ ही इस प्रकार की अनार्यता बरत रहा है। तेरे लिए यह सुन्दर नहीं है। तू वही गोशालक है, इसमें हमें जरा भी सन्देह नही है। यह सुन कर गोशालक और अधिक क्रोधोद्धत हो गया और अपनी तेजोलब्धि को फोड़ कर उसने सर्वानुभूति मुनि को भस्म कर डाला। यह सब करके भी उसने सन्तोष नही लिया। पुनः वह उसी प्रकार कटु प्रलाप करने लगा। सुनक्षत्र नामक मुनि ने सर्वानुभूति मुनि की तरह फिर उसे टोका। गोशालक ने उन्हें भी भस्म कर डाला। तीसरी बार गोशालक और

अधिक भगवान् के प्रति जहर उगलने लगा। भगवान् ने कहा—हे गोशालक ! मैंने तुझे प्रव्रज्या दी, यावत् बहुश्रुत किया। गोशालक ने भगवान् के प्रति भी अपनी तेजोलब्धि का प्रयोग किया। यह तेजोलेश्या भगवान् के शरीर से टकराई, शरीर परितप्त हुआ, पर वह शरीर मे प्रवेश नहीं पा सकी। वह तेजोलेश्या वापिस होकर स्वयं गोशालक के शरीर में लग गई। शरीर में भीषण दाह लगी और वह जोर-जोर से बोलने लगा—यह काश्यप छः महीने के अन्दर छद्मस्थ स्थिति में ही मर जाएगा। भगवान् महावीर ने कहा—मैं तो अभी सोलह वर्ष तक गन्ध हस्ती की तरह विहार करूंगा। तुझने जो तेजोलेश्या मेरे पर छोड़ी थी, वह तेरे ही शरीर में प्रवेश कर गई है। इससे तू सातवें दिन छद्मस्थ स्थिति में ही काल-धर्म को प्राप्त होगा। नगर में चर्चा हुई कि दोनों जिन परस्पर विवाद कर रहे हैं और एक दूसरे को अभिशाप दे रहे हैं। गोशालक अपने स्थान पर चला गया। मन में तो वह समझता ही था कि महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर है। उन्होने मेरे लिए जो कहा है, वह होकर रहेगा। उसने अपने शिष्यों को एकत्रित कर सारी वस्तुस्थिति सच-सच बता दी और अपने गुरुतर पाप के लिए अपने आपकी बहुत ही भर्त्सना की। आखिर भगवान् महावीर स्वामी के कथनानुसार वह सातवें दिन काल-धर्म को प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी को छः महीनों तक उस तेजोलेश्या से निष्पन्न शारीरिक परिताप भोगना पड़ा।

गोतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—आपका अन्तेवासी कुशिष्य गोशालक मर कर कहां गया है ? भगवान् ने कहा—मेरा कुशिष्य अन्तेवासी गोशालक यहां से मर कर बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ है। क्योंकि मरते समय उसने अपनी बहुत ही आत्म-भर्त्सना की है। परन्तु उससे पूर्व जो उसने गुरुतर पाप किये हैं, उनके फल उसके बाद नाना योनियों में भोगता रहेगा।

—भगवती सूत्र शतक १५ के आधार से

: ५ :

जिनरक्ष और रयणादेवी

चम्पानगरी में माकन्दी सार्थवाह के जिनपाल और जिनरक्ष दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र की यात्रा की थी और अपने व्यापार से बहुत सारा धन एकत्रित किया था। बारहवीं बार वे फिर लवण समुद्र की यात्रा के लिए प्रस्तुत हुए। माता-पिता ने निषेध किया, पर उन्होंने वह नहीं माना और यात्रा में चल पड़े। जब जहाज समुद्र के बीच पहुँचा तो बड़े जोर का तूफान आया। समुद्र की उत्तुंग लहरों से टकरा कर जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो गया। टूटा हुआ एक काष्ठ-खण्ड डूबते हुए दोनों भाइयों के हाथ लगा। उस पर बैठकर दोनों भाई सहज गति से तैरते हुए रत्नद्वीप नामक स्थल पर जा पहुंचे। उस द्वीप की स्वामिनी का नाम रयणादेवी था। उसने उन दोनों को देखा और उन्हें अपने आश्रय में ले लिया। तब से वे दोनों भाई उस कामातुर देवी के साथ भोग-विलास करते हुए वहीं रहने लगे।

एक दिन लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित नामक देव की आज्ञा से वह रयणादेवी लवण समुद्र की सफाई करने के लिए गई। जाते समय उन दोनों भाइयों को उसने कहा, दक्षिण दिशा के वन खण्ड को छोड़ कर और किसी भी दिशा के वन खण्ड में भ्रमण कर सकते हो। पीछे से दोनों भाइयों ने इच्छानुसार भ्रमण किया। सहसा मन में आया, दक्षिण दिशा के लिए देवी ने निषेध क्यों किया? वहां अवश्य कोई रहस्य है। हमें चलकर देखना चाहिए। वहां जाकर उन्होंने देखा, सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों के ढेर लगे हुए है और एक जीवित पुरुष शूली में पिरोया पड़ा है। यह स्थिति देखकर वे बहुत घबराए और उस मरणासन्न पुरुष से कुछ जानना चाहा। उसने कहा—जहाज के टूट जाने से मैं यहां आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी में रहने वाला घोड़ों का व्यापारी हूं। बहुत दिनों तक यह देवी मेरे साथ काम-भोग भोगती रही। मेरे द्वारा एक छोटा-सा अपराध हो जाने पर उसने मुझे यह दण्ड दिया है। तुम दोनों की भी किसी दिन यही स्थिति होने वाली है। पहले भी इसने कितने लोगों को मारा है, ये हड्डियों के ढेर स्वयं बता रहे हैं। यह सुनकर दोनों भाई बहुत भयभीत हुए और वहां से भाग निकलने का उपाय उससे पूछने लगे। उसने बताया, पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नामक एक यक्ष रहता है। उसकी आराधना करने से वह तुम्हें इस देवी के प्रपंच से

छुड़ा सकता है। दोनों भाई पूर्व दिशा के वन खण्ड में आए और उन्होंने शैलक यक्ष की आराधना की। प्रसन्न मुद्रा में यक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा, मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुचा दूगा, किन्तु वह देवी मार्ग ही में आकर तुम्हारे से अनु-नय-विनय करेगी और अपने हाव-भाव से तुम्हे मोहित करना चाहेगी। यदि तुम मन से भी उसकी ओर विचलित हुए तो मै तुम्हें बीच ही में छोड़ दूंगा। दोनों भाइयो ने कहा—हम ऐसा नहीं होने देगे। किसी भी प्रकार आप हमें ले चलिए। यक्ष ने घोड़े का रूप बनाया और दोनो भाइयों को अपनी पीठ पर बैठ जाने के लिए कहा। दोनों भाई पीठ पर बैठे और घोड़ा पवन वेग से आकाश मार्ग में उड़ने लगा। देवी अपने स्थान पर लौटी और दोनों भाइयों को वहां नहीं देखा तो क्षोभ हुआ। उसने अपने देव-सम्बन्धी ज्ञान से तत्काल यह पता लगा लिया कि शैलक यक्ष की पीठ पर बैठ कर दोनों भाई आकाश मार्ग से जा रहे हैं। वह तत्काल वहां पहुची और उन्हे मोहित करने के लिए अनेक हाव-भाव दिखलाने लगी, अपने विरह की असह्य वेदना अभिव्यक्त करने लगी। जिनपाल दृढ़ रहा, विचलित नहीं हुआ। जिनरक्ष को उसकी अभ्यर्थना पर अनुकम्पा आई और वह रागपूर्वक उस की ओर देखने लगा। यक्ष ने उसे विचलित हुआ समझ कर पीठ से नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को देवी ने खड्ग मे पिरो लिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। जिनपाल सकुशल चम्पानगरी में पहुंचा। अपने माता-पिता से मिला। कुछ समय तक सांसारिक सुख भोग कर उसने दीक्षा ग्रहण की। आयु शेष कर सौधर्म देवलोक मे पहुंचा। वहां से महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० ९ के आधार से

: ६ :

हरिणेगमेषी देव और सुलसा

भद्दिलपुर नाम का नगर था। वहां नाग नामक एक गृहपति रहता था। उसकी पत्नी सुलसा थी। किसी समय एक ज्योतिषी ने सुलसा को बताया कि तू मृत बन्ध्या है अर्थात् तुम्हारे पुत्र तो होंगे, किन्तु वे मृत स्थिति में ही पैदा होगें। यह सुनकर सुलसा बहुत दुःखित हुई। उसने हरिणेगमेषी देव की आराधना की। देव उपस्थित हुआ। सुलसा ने अपने दुःख की बात देव से कही। देव ने सुलसा पर अनुकम्पा करते हुए कहा—मृत को जीवित करना किसी के बस की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक मैं यह कर सकता हूं कि तुम्हारे मृत पुत्रों को और किसी प्रसूता के यहां रख दू और उसके स्वस्थ बालकों को तत्काल तुम्हारे यहा लाकर रख दू। सुलसा ने देव की बात स्वीकार कर ली।

देव ने अपने ज्ञान-बल से जानना चाहा कि जब-जब सुलसा के पुत्र पैदा होगे, तब-तब और किस स्त्री के पुत्र होने वाले हैं। उसे पता चला महाराजा वसुदेव की रानी देवकी के एक-एक कर छः पुत्र होने वाले हैं और राजा कंस एक-एक कर उन सब को मारने वाला है। देवता को यही सुन्दर उपाय सूझा कि देवकी के पुत्रों को सुलसा के यहा रख दिया जाए और सुलसा के पुत्रों को देवकी के यहां। देव ने वैसा ही किया। महारानी देवकी ने समझा, मेरे छवों पुत्र कंस द्वारा मार दिए गए हैं, पर वे चरम शरीरी छवों पुत्र सुलसा के यहा सकुशल जीवित रहे। उन छवों पुत्रों ने बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और किसी समय जब नेमिनाथ भगवान् द्वारिका में आए तो सहज संयोग से दो-दो कर वे सभी देवकी के यहां भिक्षा के लिए आए। देवकी को उन्हें देखने से सहज स्नेह उत्पन्न हुआ। नेमिनाथ भगवान् के पास जाकर जब उसने उसका कारण पूछा, तब नेमिनाथ भगवान् ने बताया कि ये छवों तेरे ही पुत्र है!

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: ७ :

हरीकेशी मुनि

एक चाण्डाल कुल में बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम माता-पिता ने हरिकेशी रखा। वह अत्यन्त कुरूप था। बड़ा हुआ तो अत्यन्त कटुभाषी और हो गया। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दोषों के कारण प्रत्येक आदमी उससे घृणा करता। यहां तक कि कटुम्ब के लोग भी उसे अपने से दूर बैठने के लिए कहते। एक दिन जाति-भोज का प्रसंग आया। सब लोग आमोद-प्रमोद में एक साथ बैठ कर खा रहे थे। हरिकेशी को उस मधुर गोष्ठी से दूर कर दिया गया। उसका अपमानित हृदय कुछ सोच ही रहा था, उसी समय उस मधुर गोष्ठी के पास एक विषैला सर्प निकल आया। चाण्डाल लोग देखते ही उस पर टूट पड़े और तत्क्षण उसे मार डाला। कुछ ही समय पश्चात् एक निर्विष दुमुहा जन्तु निकला। चाण्डालों ने उसे मारा नहीं, प्रत्युत उसकी पूजा की। हरिकेशी को इस घटना ने आश्चर्य में डाल दिया। वह सोचने लगा, यह क्या? एक की तर्जना और एक अर्चना। तत्काल उसके ध्यान में आया, सविषता और निर्विषता ही इसका एकमात्र कारण है। अपनी आत्मा के बारे में भी उसे यही सूझा। दूसरे लोगों का अनादर नहीं होता और मेरा होता है, इसका भी एकमात्र हेतु यही है कि मेरी वाणी में जहर भरा है। इस आत्म-चिन्ता में उसे जाति-स्मरण हो आया। प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और पूर्व संचित कर्मों के साथ लोहा लेने के लिए घोर तप करने लगे। उनके तपः-प्रभाव से एक यक्ष भी उनकी सेवा में रहने लगा।

एक दिन मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए एक यज्ञ-मण्डप में आ पहुंचे। वहां ब्राह्मणों ने मुनि के रंगरूप और चर्या की भर्त्सना की। यक्ष से यह सब न देखा गया। उसने मुनि के शरीर में प्रवेश कर उनसे वाद-विवाद करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी ब्राह्मण भिक्षा देने के लिए तैयार नही हुए, प्रत्युत तत्रस्थित विप्र-पुत्र बेंत, दण्डे और कोड़े से मुनि को पीटने लगे। मुनि के अनुकम्पक यक्ष ने अपने देव-बल से उन विप्र-पुत्रों को औंधे मुख धरती पर गिरा दिया और सबके मुंह से रुधिर बहने लगा। अन्त में सभी लोगों ने आकर मुनि से क्षमा-याचना की, तो मुनि ने कहा—मेरा तुम लोगों के प्रति जरा भी रोष नहीं है। यह जो कुछ था, वह यक्षविहित था। उसने मेरी अनुकम्पावश यह सब किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १२ के आधार से

: ८ :

धारिणी रानी की गर्भानुकम्पा

धारिणी रानी अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए यत्नापूर्वक बैठती थी, यत्नापूर्वक खड़ी होती थी, यत्ना के साथ सोती थी और वह अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए ऐसा आहार करती जो न अति तीक्ष्ण, न अति कटुक, न अति कषैला, न अति खट्टा और न अति मीठा होता। देश काल के अनुसार उस गर्भ के लिए हितकारक, परिमित व पथ्य आहार करती थी। अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह, अति भय तथा अति त्रास अपने-आपको नहीं होने देती। गन्धमाल्य व अंलकारों से युक्त होकर सुखपूर्वक अपने गर्भ का वहन करती थी।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १ के आधार से

: ६ :

रानी धारिणी

श्रेणिक राजा की एक रानी का नाम धारिणी था। एक बार जब वह गर्भवती हुई तो उसे अकाल मेघ का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद की पूर्ति के अभाव में वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी। राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने यह बात अपने पुत्र अभयकुमार से कही। अभयकुमार ने कहा—मैं दोहद-पूर्ति का उपक्रम करूंगा। वह अपने पूर्व भव के मित्र देव की आराधना में बैठा। तीन दिनों के उपवास की सफल आराधना से देव उपस्थित हुआ। अभयकुमार ने उसके सामने अपनी समस्या उपस्थित की। उस देव ने अपनी वैक्रयिक शक्ति से तत्काल मेघ बरसाया। रानी धारिणी राजा के साथ हाथी पर बैठ कर राजगृह के निकटस्थ वैभार पर्वत की अपत्यकाओ मे आनन्दपूर्वक विहार करने लगी। इस प्रकार देवता ने अपने मित्र अभयकुमार पर अनुकम्पा की।

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: १० :

श्रीकृष्ण द्वारा वृद्ध की अनुकम्पा

बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। संवाद पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव अपने विस्तृत परिकर के साथ वन्दन करने के लिए चले। दूर से उन्होने देखा, एक वृद्ध पुरुष ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठा कर अपने घर मे रख रहा है। श्रीकृष्ण को वृद्ध पर अनुकम्पा आई। उन्होंने राह चलते ही उस ढेर से एक ईंट उठा कर उस वृद्ध के घर रख दी। पीछे चलने वाले लोगों ने भी श्रीकृष्ण का अनुकरण किया। एक-एक ईंट उठा कर उन्होंने भी उसके घर रख दी। वृद्ध का श्रम-साध्य कार्य थोड़े मे निपट गया।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ३ के आधार से

: ११ :

गजसुकुमाल

गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। वे बहुत सुकुमार थे। एक बार २२वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी में आए। श्रीकृष्ण के साथ गजसुकुमाल भी वन्दन करने के लिए आये और वहां भगवान् नेमिनाथ की देशना सुनी। चरम शरीरी होने के कारण गजसुकुमाल को तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हुआ और इस नश्वर संसार के प्रति अत्यन्त ग्लानि हुई। माता देवकी और ज्येष्ठ बन्धु श्रीकृष्ण ने उन्हें दीक्षा न लेने के लिए बहुत कुछ समझाया, पर वे अपने संकल्प में दृढ रहे। अन्ततोगत्वा माता और बन्धु को उनके दीक्षा-ग्रहण में सहमत हो जाना पड़ा। गजसुकुमाल दीक्षित हो गए। भगवान् नेमिनाथ की आज्ञा लेकर दीक्षा के प्रथम दिन ही उन्होंने भिक्षु की बारहवीं पड़िमा (प्रतिमा) अंगीकार की। रात को श्मशान-भूमि में जाकर ध्यानस्थ मुद्रा में बैठ गए।

सौमिल नामक ब्राह्मण की एक सुरूपा कन्या को गजसुकुमाल के साथ ब्याह देने के लिए श्रीकृष्ण ने संकल्प कर रखा था। जब उस सौमिल को यह पता चला कि गजसुकुमाल ने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया है तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुआ। रात को वह उसी श्मशान-भूमि में आया और गजसुकुमाल को ध्यानस्थ मुद्रा मे देखकर और भी क्रोधित हुआ। उस क्रोध विह्वल सौमिल ने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल लगा दी और बीच में श्मशान-भूमि के जल-जलते अंगारे लाकर रख दिए। गजसुकुमाल के धैर्य और अहिंसा की वह अग्नि-परीक्षा थी। गजसुकुमाल अडोल मेरु की तरह स्थिर रहे। उन्होने अपने आप सब कुछ सहा, पर अग्निकायिक जीवों के प्रति और उस सौमिल के प्रति पूर्ण अनुकम्पा का भाव दिखाया। उसी उपसर्ग में वे कैवल्य प्राप्त कर मोक्षगामी हुए।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ८ के आधार से

: १२ :

नमि राजर्षि

मिथिला नगरी में नमि नामक राजा थे। एक बार उनके शरीर में दाह-ज्वर का रोग उत्पन्न हुआ। असह्य वेदना से राजा व्याकुल हो उठे। उन्हे कुछ नहीं सुहाता। यहा तक कि रानियां उनके शरीर पर विलेपन करने के लिए चन्दन घिस रही थी और उनके कंकणों से जो शब्द हो रहा था, वह भी राजा के लिए असह्य हो गया। राजा ने कहा—शब्द बन्ध होना चाहिए। रानियों को यह सूचना दी गई तो उन्होंने एक-एक कंकण अपने हाथों में रखा। शेष उतार कर एक ओर रख दिए। शब्द बन्ध हो गया। कुछ ही समय पश्चात् राजा ने कहा—शब्द बन्ध कैसे हो गया ? क्या रानियों ने चन्दन घिसना बन्ध कर दिया ? उत्तर मिला—किसी भी रानी के हाथ में दो कंकण नहीं हैं, एक-एक ही कंकण हरएक के हाथ में है। इसलिए शब्द नही होता। नमि राजा को इस एक और अनेक की घटना से प्रतिबोध मिला। एकाकीपन में शान्ति है। अनेकता ही संघर्षों का कारण है। रोग शान्त हुआ। नमि राजा ने प्रत्येक बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। एकाकी विहार करने लगे। उन नमि राजर्षि के निर्मोह-भाव की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के रूप मे इन्द्र आया। उसने अपनी देव-शक्ति से दिखलाया कि मिथिला नगरी सांय-सांय कर जल रही है। वह राजर्षि से बोला—मुने ! आपकी यह मिथिला कुछ ही क्षणों में भस्मसात् हो जाने वाली है। आप इसकी शान्ति का कोई उपक्रम करे। आपकी आंखों में अमृत है, आप एक बार झांक भी लेंगे तो मिथिला-दहन शान्त हो जाएगा। देखिए, आपकी रानियां, पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक, सभासद् स्त्री, बाल, वृद्ध आदि नागरिक, हाथी, घोड़े, गाय आदि पशु किस प्रकार रोदन कर रहे है। आप उन सब पर करुणा कर एक बार उनकी ओर झांके। नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचणं।
मिहिलायां डज्झमाणायां न मे डज्झइ किंचणं॥

मैं सुख में बस रहा हूं, सुख में जी रहा हूं। मिथिला के जलने में मेरा अपना कुछ नहीं जल रहा है। इस प्रकार अनेक बार कहने पर भी नमि राजर्षि ने मिथिला की ओर नही झांका और अपनी निर्मोह स्थिति में लीन रहे।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ के आधार से

: १३ :

संगम और महावीर

एक दिन इन्द्र-सभा में छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर की चर्चा चली। सभी देवों ने और विशेषकर इन्द्र ने उनकी कष्ट-सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। संगम नामक एक मिथ्यादृष्टि देव को यह सब नहीं रुचा। वह भगवान् महावीर को पीड़ित करने के लिए उनके पीछे पड़ गया। कभी-कभी वह ग्राम में चोरी कर लेता और ध्यानस्थ भगवान् महावीर के पास आकर वह चुराई हुई चीज रख देता। लोग जब पूछते तू ने चोरी क्यों की, तो वह उत्तर देता—मेरे इस गुरु ने मुझे कहा था। अज्ञानी लोग भगवान् श्री महावीर को यातना देते। छः महीने तक यह क्रम चलता रहा। कभी कुछ कभी कुछ, पर महावीर अपनी साधना में अटल रहे। उन्होंने जरा भी रोष उस संगम देवता पर प्रगट नहीं किया। एक दिन तो उसी संगम देव ने केवल एक रात में भगवान् श्री महावीर को बीस मारणान्तिक कष्ट दिए। फिर भी भगवान् अपनी शान्ति और क्षमता में ज्यों के त्यों अडोल रहे। कहा जाता है, अन्त में इन्द्र ने स्वयं आकर अपने वज्र से उस देवता को प्रताडित किया। अपने देवलोक से बाहर निकाला। उसने मेरु पर्वत पर जाकर सदा के लिए वास किया।

—कल्पसूत्र के आधार से

: १४ :

चूलनीपिता

काशी नगरी में चूलनीपिता नामक गृहपति रहता था। उसके पास चौबीस करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थीं, जिनमें आठ करोड़ सुरक्षित आगार मे, आठ करोड़ व्यापार मे और आठ करोड़ भोगोपभोग में थी। वह अस्सी हजार गायों का स्वामी था। भगवान् श्री महावीर के पास धर्म-श्रवण कर वह धर्मोपासक बना। एक दिन वह जब पोषधशाला में पौषध-व्रत कर रहा था, एक देवता आया और उसे पौषध-व्रत छोड़ देने के लिए कहने लगा। चूलनीपिता के न मानने पर देवता ने उसके बड़े लड़के को सामने लाकर मारा और उसके शरीर के मास खण्डों को उसे देखते-देखते तेल के कड़ाहे में तला। चूलनीपिता स्थिर रहा। देवता ने दूसरे पुत्र की भी वही गति की और तीसरे की भी। चूलनीपिता को अडोल देखकर देवता बोला—हे चूलनीपिता! यदि तू अब भी व्रत का त्याग नही करता तो अब मैं तेरे पुत्रों की तरह तेरी माता को भी, जिसे तू देव और गुरु के बराबर मानता है, तेरे सामने लाकर इसी प्रकार मार डालूगा। माता की अनुकम्पा से द्रवित होकर चूलनीपिता उठ खडा हुआ। उस देव को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ा और जोर-जोर से चिल्लाया। देव अन्तर्धान हो गया और उसकी बांहों में एक खम्बा आ गया। कोलाहल सुनकर उसकी मां भद्रा उसके पास आई और बोली—हे पुत्र! तू जोर-जोर से क्यों चिल्ला रहा है? चूलनीपिता ने सारी घटना कह सुनाई। उसकी माता ने कहा—पुत्र! यह सब देव माया थी। न ही तेरे पुत्र मारे गए और न मुझे ही कोई मारने वाला था। तू व्यर्थ ही मेरी अनुकम्पा के लिए उठा। तेरा पौषध-व्रत भंग हुआ है। तू इसका प्रायश्चित्त कर। तदनुसार चूलनीपिता व्रत-भंग की आलोचना कर शुद्ध हुआ। बहुत वर्षों तक श्रावक-पर्याय का पालन कर वह देव गति में उत्पन्न हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ३ के आधार से

: १५ :

सुरादेव

वाराणसी में सुरादेव नामक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थी। साठ हजार गायें थीं। भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर श्रमणोपासक बना। एक दिन जबकि वह पौषध-व्रत मे था, एक दुष्ट देव ने पौषध-व्रत छोड देने को कहा। जब उसने यह न माना, देवता ने उसके बड़े लड़के का उसके सामने बध किया और उसने सुरादेव के शरीर में सोलह भयकर रोग उत्पन्न करने का डर दिखाया। सुरादेव विचलित हो गया और उस देवता को पकड़ने के लिए दौड़ा। देवता आकाश में अन्तर्धान हो गया और उसके हाथ में पौषधशाला का खम्भा आगया। उसके चिल्लाने की आवाज मुनकर उसकी पत्नी धन्या उसके पास आई और चिल्लाने का कारण पूछने लगी। उसने सारा हाल कह सुनाया। धन्या ने कहा—यह सब देव माया थी। तुम्हारा पौषध-भंग हो चुका है। इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार सुरादेव ने अपने भग्न-व्रत की आलोचना की और कालान्तर से मृत्यु धर्म को प्राप्त हो स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ४ के आधार से

: १६ :

चुल्लशतक

आलम्बिका नगरी में चुल्लशतक नामक एक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और साठ हजार गायें थीं। भगवान् श्री महावीर से धर्मोपदेश सुनकर वह श्रमणोपासक बन गया। पौषध-व्रत में देवता ने आकर कहा—पौषध-व्रत छोड़ दो, नहीं तो तेरी सारी सम्पत्ति इधर-उधर फेंक कर मैं ध्वस्त कर देता हूं। वह देव को पकड़ने के लिए दौड़ा। देव अदृश्य हो गया और उसके हाथ में खम्भा रह गया। चिल्लाने की आवाज सुन कर उसकी पत्नी बहुला आई और उस देव माया को समझा कर उसे पौषध-व्रत भंग करने का प्रायश्चित्त करवाया।

—उपासकदसांगसूत्र अ० ५ के आधार से

: १७ :

शकडालपुत्र

पोलासपुर नगर में शकडालपुत्र नामक कुम्भार रहता था। उसके पास तीन करोड स्वर्ण मुद्राएं व दस हजार गायें थीं। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। भंड-निर्माण का उसके बहुत बड़ा उद्योग था। वह आजीवक सम्प्रदाय के नायक गोशालक का अनुयायी था। एक दिन अशोक वाटिका में वह आजीवक मत के अनुसार व्रत-साधना कर रहा था। उस समय एक देवता प्रकट हुआ और बोला—देवानुप्रिय कल यहां 'महामाहण' आने वाला है। वह जिन है और त्रिलोकपूज्य है। तुम उसे प्रणाम करना और उसकी सेवा करना।

शकडालपुत्र सोचने लगा—मेरे धर्माचार्य मखलीपुत्र गोशालक ही 'महा-माहण' और त्रिलोकपूज्य हैं। वे ही कल यहा आयंगे। मै उनकी सेवा करूंगा।

दूसरे दिन वहां महावीर स्वामी श्रमण-समुदाय के साथ पधारे। सहस्रों लोग दर्शन और व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुए। शकडालपुत्र के मन में भी कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह भी भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन करने के लिए आया। भगवान् श्री महावीर ने कहा—कल जो किसी देव ने आकर किसी 'महामाहण' के आने की सूचना तुझे जो दी थी, वह गोशालक के लिए नहीं थी। यह रहस्योल्लेख सुन कर शकडालपुत्र बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी दूकानों में निवास करने के लिए भगवान् श्री महावीर को आमंत्रित किया। भगवान् वहां आए और रहने लगे। शकडालपुत्र नितान्त नियतिवादी था। एक दिन जबकि मिट्टी के बर्तनो को सुखाने का काम चल रहा था, भगवान् श्री महावीर ने शकडालपुत्र से कहा—देवानुप्रिय! क्या ये सारे बर्तन बिना प्रयत्न किए ही तैयार हुए है?

शकडालपुत्र—ये प्रयत्न से नही बने है। जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है।

भगवान्—यदि कोई इन बर्तनों को तोड़ डाले या अग्निमित्रा के साथ सह-वास करे, तो तुम क्या करोगे?

शकडालपुत्र—मैं उसे शाप दूंगा, उस पर प्रहार करूंगा और मार डालूगा।

भगवान्—यदि यह तथ्य है—जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है, तो ऐसा करने के लिए क्यों उद्यत होते हो?

यह सुन कर शकडालपुत्र को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ और उसने गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। महावीर स्वामी विहार कर गए।

एक दिन गोशालक शकडालपुत्र को पुनः अपने धर्म में आरूढ़ करने के लिए उसके घर आया। शकडालपुत्र ने उसे किंचित् भी सम्मान नहीं दिया। गोशालक ने और कोई रास्ता न पाकर भगवान् महावीर स्वामी की प्रभावशाली स्तुति की। शकडालपुत्र बोला—हे गोशालक! तुमने मेरे धर्माचार्य की स्तुति की है, इसलिए मैं तुम्हें अपनी दुकानें रहने के लिए और शय्या संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता हूं। गोशालक दूकानों में रहा। शकडाल पुत्र को फिर से अपने सम्प्रदाय मे लाने के लिए प्रयत्नशील बना, पर सफलता मिलती न देखकर वहां से अन्यत्र विहार कर दिया।

इस प्रकार श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते हुए शकडालपुत्र को चौदह वर्ष बीते। पन्द्रहवे वर्ष में जबकि वह एक दिन पौषध-व्रत की उपासना में था, एक देवता आया और उसके पौषध-व्रत को भग करने के लिए एक-एक कर उसके तीन पुत्रों को उसके सामने मारा और उनके मांस-खण्ड तेल में तले। फिर वह देवता अग्निमित्रा भार्या को मारने के लिए उद्यत हुआ। शकडालपुत्र उसे पकड़ने के लिए दौड़ा। देवता आकाश में उड़ गया और उसके हाथ में खम्भा आ गया। कोलाहल सुनकर अग्निमित्रा उसके पास आई और वस्तुस्थिति का ज्ञान कराते हुए बोली—तुम्हारे पुत्र सकुशल है और मैं सकुशल हू। पौषध-व्रत में मुझे बचाने के लिए उठे, इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार शकडालपुत्र प्रायश्चित्त कर शुद्ध हुआ और कालान्तर मे स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ७ के आधार से

: १८ :

चेटक और कोणिक का संग्राम

राजगृह नगर में श्रेणिक (बिम्बसार) राजा राज्य करता था। उसके ज्येष्ठ पुत्र कोणिक ने उसे कारावास में डलवा दिया और स्वयं राजसिंहासन पर बैठा। श्रेणिक अपनी विडम्बना के भय से विष-प्रयोग कर मर गया। कोणिक राजा के काल, सुकाल आदि सौतेली माताओ से उत्पन्न ग्यारह भाई और थे। सबसे छोटा भाई विहल्लकुमार था। श्रेणिक राजा ने अपने जीवन-काल में ही दो वस्तुएं उसे विशेष रूप से प्रदान की थीं। एक सेचानक नामक गन्ध हस्ती और एक अठारहसरा वंकूचल नामक हार। उस हार और हाथी के प्रयोग ने कोणिक की महारानी पद्मावती के मन में ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। वह हठ लेकर बैठ गई। कोणिक ने उसे समझाया कि ये दो वस्तुएं उसे पिताजी के अनुग्रह से उपलब्ध हुई है। उन्हें हमें मांगने का कोई अधिकार नहीं है। महारानी अपने हठ पर डटी रही। अन्त में कोणिक को यह मान ही लेना पडा कि किसी भी प्रकार से मैं ये दो वस्तुए तुम्हे प्राप्त करा ही दूगा। कोणिक ने विहल्लकुमार से हार व हाथी की याचना की। विहल्लकुमार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। विहल्लकुमार को यह भी पता चला कि कोणिक बलपूर्वक भी इन वस्तुओ को लेना चाहेगा। वह चतुरता से हार, हाथी व अपने अन्तःपुर को लेकर विशाला नगरी में अपने नाना चेटक की शरण में चला गया। कोणिक राजा ने एक दूत चेटक राजा के पास भेजा और उसके द्वारा रोष भरे शब्दों में सन्देश कहलाया—हार व हाथी के सहित विहल्लकुमार को आप मुझे सौंप दें। चेटक राजा ने दूत से कहा—तुम कोणिक से कहना, जिस प्रकार तुम चेलना के पुत्र और मेरे दोहिते हो, उसी प्रकार विहल्लकुमार भी चेलना का पुत्र और मेरा दोहिता है। विहल्लकुमार को अपने हिस्से का राज्य भी नहीं मिला और अब तुम उससे हार व हाथी भी लेना चाह रहे हो, यह अनुचित है।

दूत ने जाकर कोणिक को सारे समाचार सुनाएं। कोणिक ने ससैन्य अपने दस भाइयों को बुला लिया और राजा चेटक पर चढ़ाई कर दी। चेटक राजा ने भी अपने मित्र नव मल्लि वंश के राजाओं को और नव लच्छि वंश के राजाओं को बुला लिया और विहल्लकुमार विषयक वार्ता बता कर उन्हे युद्ध के लिए सहमत किया। दोनों ओर की सेनाएं युद्ध में आ डटीं। घोर संग्राम होने लगा। चेटक राजा को अमोघ लक्ष होने का वरदान मिला हुआ था। काल, सुकाल आदि दस

भाई एक-एक कर सेनापति होकर आए और चेटक राजा के अमोघ बाण से धराशायी हो गए। कोणिक राजा ने तीन दिनों का तप कर अपने पूर्व भव के मित्र शक्रेन्द्र और चरमेन्द्र की आराधना की। वे दोनों सहायक होकर युद्ध में उतरे। प्रथम दिन महाशिला नामक संग्राम हुआ और चेटक राजा के सैनिक उस देवी शिलापात से मरने लगे। दूसरे दिन रथमूसल संग्राम हुआ। उसमें मूशल-प्रहार से चेटक के सैनिक बड़ी सख्या में मरे। कहा जाता है कि इन दो दिनों के सग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गए। इस दैवी-शक्ति के सामने चेटक राजा नही ठहर सका और विशाला नगरी में जा घुसा। नगरी के दरवाज़े बन्द कर दिये गए। कोणिक राजा अपने समग्र बल से से भी दरवाज़ों और प्राकार को गिरा कर नगरी मे न जा सका। लम्बी अवधि के पश्चात् एक कुलबालक नामक गुरु-द्रोही और भ्रष्टात्मा तपस्वी साधु की सहायता से वह नगरी में प्रवेश पा गया। हार देव प्रदत्त था, अतः वह देवों द्वारा अपहृत हो गया और हाथी नगर प्राकार की खाई के अग्नि प्रकोप में फस कर काल-धर्म को प्राप्त हो गया।

चेटक राजा ने एक प्रछन्न स्थान में आमरण अनशन द्वारा अपना अन्त कर लिया। इस प्रकार बिना किसी यथेष्ट परिणाम के यह नर-घातक युद्ध समाप्त हो गया।

—निरयावलिया सूत्र अ० २ से १० के आधार से

: १६ :

समुद्रपाल

चम्पानगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। एक बार व्यापार करने के लिए वह जहाज द्वारा पिहुड नगर में आया और वहां व्यापार करने लगा। थोड़े ही दिनों में व्यापार बहुत बढा और वह नगर का प्रतिष्ठाप्राप्त व्यापारी बन गया। एक वैश्य ने अपनी लावण्यवती कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। आनन्दपूर्वक समय बीतने लगा। कुछ दिनो पश्चात् अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लेकर पालित श्रावक जलपोत द्वारा चम्पानगरी जाने के लिए बिदा हुआ। पालित की पत्नी ने समुद्र मे चलते उस जलपोत मे ही एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र में पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। बालक बहुत ही कान्तिवान् और जलप्रिय था। उपयुक्त वय मे उसने योग्य गुरु से बहत्तर कलाओ व नीति-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। युवावस्था में सुरूपा कन्या के साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ। रमणीय महलों मे वह सासारिक सुखों का भोग करके रहने लगा।

एक दिन वह अपने महल के गवाक्ष मे बैठा हुआ राजपथ की हलचल देख रहा था। इतने ही में उसने देखा—एक चोर को वधक जन बध्य भूमि की ओर लिए जा रहे हैं। उस चोर की स्थिति पर विचार करते हुए उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह एकाएक समस्त भोग-विलासों को ठुकरा कर साधु बन गया। अनेक वर्षों तक संयम का यथाविधि पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० २१ के आधार से

: २० :

आनन्द श्रावक

वाणिज्य ग्राम नामक एक नगर था। आनन्द गृहपति वहां रहता था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और चालीस हजार गायें थी। वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर कोलाक नामक सन्निवेश था। वहां आनन्द गृहपति के अनेक स्वजन मित्र रहते थे। उस सन्निवेश में एक बार भगवान् श्री महावीर आए। वहां जितशत्रु राजा वन्दन के लिए गया। संवाद पाकर आनन्द गृहपति भी वहा गया। सभी ने शान्त चित्त प्रवचन सुना। प्रवचन के पश्चात् राजा तथा अन्य लोग अपने-अपने स्थान गए। आनन्द वहां रुका रहा और उसने पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

चौदह वर्ष तक वह श्रावक-पर्याय पालता रहा। पन्द्रहवें वर्ष में अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना सारा दायित्व सम्भला कर पौषधशाला में रह कर एकादश श्रावक-पडिमा की आराधना करने लगा। शरीर में शैथिल्य का सचार होते देखकर उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। उस आमरण अनशन से उसे सुविस्तृत अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ। जिससे वह उत्तर में चूल हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व मे पाच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और अधो प्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक देखने और जानने लगा।

उन्ही दिनों भगवान् श्री महावीर उद्यान में आए। गौतम स्वामी तेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान् श्री महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर में आए। नगर में आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी तो देखने का भाव उनके मन में उत्पन्न हुआ। वे आनन्द की पौषधशाला में आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा, भगवन् गौतम, क्या आमरण अनशन मे गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?

गौतम—हां, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं में इतना विशाल है।

गौतम—आनन्द, गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं मिल सकता। अनशन में तेरे से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है; अतः तू इसकी आलोचना या

प्रायश्चित्त कर ।

आनन्द—प्रभो ! महावीर प्रभु के शासन मे सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का ?

गौतम—असत्याचरण का ।

आनन्द—प्रभो ! आप ही प्रायश्चित्त करे । आप ही से असत्याचरण हुआ है।

आनन्द की इस दृढतापूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए । वहा से चलकर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हे कह सुनाया ।

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है । तू आनन्द के पास जा और उससे क्षमा-याचना कर ।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आए और कहा—आनन्द ! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है । मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हूं ।

—उपासकदसांगसूत्र अ० १ के आधार से

: २१ :

श्रेणिक का नरक-गमन

भगवान् श्री महावीर बृहत् श्रमण-समुदाय के साथ राजगृह नगर में पधारे। श्रेणिक राजा राज-परिवार और सेना के साथ बड़े ठाट से वन्दन करने के लिए आया। विशाल परिषद् मे धर्मोपदेश हुआ। देशना के अनन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्र भाव से भगवान् से पूछा—भगवन्! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन मे मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मै यथार्थ मानता हूं। आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है। आप बताए मैं यहां से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूंगा? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी। श्रेणिक के मन मे अपूर्व उत्साह था और निश्चय था—भगवान् मेरे लिए कोई विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे।

भगवान् ने उत्तर दिया—श्रेणिक! यहा से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक मे पैदा होगा।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया। सारी परिषद् विस्मित हो उठी। भगवान् ने कहा—श्रेणिक! डरो मत। विराट सुखों की ओर जाते हुए तुम्हारा यह नरकावास बहुत ही लघु है। उस नरक योनि को पार कर तू फिर मनुष्य-योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक—भगवन्! किन कर्मों के परिणाम स्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला?

भगवान्—तू ने आर्हद्-धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था कि मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक ही बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बींध गए। उस अकृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निकाचित (नहीं टूटने वाला) कर्म बन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा।

वृद्धावस्था में यही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास मे डाला गया। माता चेलणा के द्वारा कोणिक दुत्कारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारवास की ओर गया। श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा। अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊं। राजा के हाथ में विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म-हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ।

—निरयावलिया सूत्र अ० १ के आधार से

: २२ :

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्तमुनि

चित्त नामक मुनि थे। ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती था। दोनों ने ज्ञान-बल से अपने पिछले पांच भवों को देखा। पिछले भवों की सहवर्तिता के कारण इस छठे भव में भी दोनों का अनुरागपूर्ण मिलन हुआ। चक्रवर्ती को अपने भाई की त्याग-दशा पर दया आई। उसने बहुत प्रकार से उसे काम-भोगों के लिए आमन्त्रित किया, पर मुनि का मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। प्रत्युत मुनि ने कहा—सर्व गीत विलाप रूप हैं। नाटक विडम्बना रूप है। सर्व प्रकार के आभूषण भार रूप हैं और सर्व काम-भोग दुःख के देने वाले है। जिस प्रकार सिंह मृग को पकड़ कर मृत्यु के मुख में पहुचा देता है उसी प्रकार निश्चय ही मृत्यु अन्त समय में इस जीव को परलोक में पहुँचा देती है। उस समय माता-पिता और बन्धु उसे रोक नही सकते। इसलिए राजन्! तू ही काम-भोगों को छोड़ कर संयम ग्रहण कर। चक्रवर्ती ने कहा मैं—मानता हू, मुनिवर तुम जो कह रहे हो, वह सब सच है, पर मैं अपने आसक्ति भाव को छोड कर सयम-पथ पर चल सकू, ऐसा मनोबल नहीं रखता। अन्त मे दोनों एक-दूसरे से अलग हुए और अपने-अपने रास्ते से जीवन भर चलते रहे। इस मनुष्य गति को छोड़ कर दोनों दो उत्कृष्ट गतियों को प्राप्त हुए, मुनि मोक्ष गति को और चक्रवर्ती सप्तम नरक को।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ के आधार से

: २३ :

नन्दन मणिहारा

राजगृह नगरी में नन्दन नामक मणिहारा रहता था। वह धन धान्यादि से सम्पन्न और नगर के प्रमुख लोगों में से एक था। कालान्तर से वह जैन श्रावक बन गया। नाना व्रत नियमों की आराधना करने लगा। एक बार ग्रीष्मकाल में उसने तीन दिनों का पौषध-व्रत किया। भयंकर गर्मी पड़ी। प्यास से उसका मन आकुल-व्याकुल हो उठा। परिणामों की स्थिति विषम हो गई। वह सोचने लगा, धन्य है वे लोग जो कुआं, बावड़ी आदि बनवाते हैं। मुझे भी ऐसा ही धर्म करना चाहिए।

प्रातः काल भोजन आदि से निवृत्त होकर राजा के पास गया और भूमि-याचना की। राजाज्ञा पाकर उसने एक विशाल पुष्करिणी तैयार करवाई। उसके चारों ओर चार बाग लगवाए। पूर्व के बाग में चित्रशाला, दक्षिण के बाग में दानशाला, पश्चिम के बाग में औषधशाला और उत्तर के बाग में अलंकारशाला बनवाई। सहस्रों लोग वहां आते और इच्छित सुख-सुविधा प्राप्त करते। नगर में नन्दन मणिहारे की श्लाघा फैल गई।

अन्त में नन्दन मणिहारा के शरीर में एक साथ कुष्ठादि सोलह रोग उत्पन्न हुए। नाना उपचारों से भी वे शान्त न हुए। अपनी प्रवित्तियो में आसक्त नन्दन मणिहारा मरा और उसी पुष्करिणी में दर्दुर रूप से उत्पन्न हुआ। आते-जाते लोग नन्दन मणिहारे की प्रशंसा करते। वह सब सुन कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने अपने आपको पहिचाना। अपने मिथ्याचरण का पश्चाताप किया। फिर से श्रावक के बारह व्रत पालन करने लगा। भगवान् श्री महावीर राजगृह में पधारे। पुष्करिणी पर जल भरने के लिए आती-जाती स्त्रियों के मुख से यह सवाद उस दर्दुर को भी मिला।

नन्दन दर्दुर यह संवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। फुदक-फुदक कर वह भी भगवान् के दर्शनों के लिए चल पड़ा। राजमार्ग पर श्रेणिक राजा का भी आगमन हो रहा था। अकस्मात् वह दर्दुर राजा श्रेणिक के घोड़े के पैर से कुचला जाकर घायल हो गया। राज-मार्ग के एक ओर हट कर उसने भगवान् श्री महावीर को वन्दन किया और आमरण अनशन कर लिया। वह शुभ ध्यानरत वहां से मरा और प्रथम देवलोक में दर्दुरावतंशक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १७ के आधार से

: २४ :

पार्श्व प्रभु और धरणेन्द्र पद्मावती

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभु जब कुमारावस्था में थे, एक बार वन-क्रीड़ा से नगर की ओर जा रहे थे। देखा, रास्ते के एक ओर एक जटाधारी तपस्वी धुनी तप रहा था। नगर के अनेकानेक प्रमुख लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसके चारों ओर एकत्रित हो रहे थे। पार्श्वकुमार ने कहा—तपस्विन् ! यह तुम्हारा कैसा तप ? अनगिन जीवों को भस्म कर तुम अपना कल्याण चाहते हो ?

तपस्वी—राजकुमार ! तुम धर्म के रहस्य को क्या समझते हो, दूधमुंहे बच्चे हो। क्या मेरी इस धुनी में कोई जलता हुआ जीव तुझे नजर भी आ रहा है ?

पार्श्वकुमार—तुम्हारी धुनी में जो बड़ा लक्कड़ जल रहा है, उसके अन्दर विशालकाय सर्प और सर्पिणी जल रहे है। यह मैं तुम्हें अपने ज्ञान-बल से बताए देता हूं।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारा ज्ञान मिथ्या होगा। देखो मैं अभी इस लक्कड को चीर देता हू। 'प्रत्यक्षस्य कि प्रमाणम्' यह कह कर उसने तत्काल कुल्हाडी उठाई और उस लक्कड को चीर डाला। उसी समय एक सर्प और सर्पिणी तिलमिलाते हुए बाहर आए। वे मरणासन्न स्थिति मे थे। पार्श्वकुमार ने उनको नवकारमन्त्र सुनाया और चार शरण दिए। वे वहां से मर कर धरणेन्द्र और पद्मावती हो गए। परिषद् मे उस कमठ तापस की भर्त्सना हुई। लोग धिक्कारने लगे और कहने लगे यह कैसा धर्म ? तापस पार्श्वकुमार पर बहुत क्रुद्ध हुआ, पर करता भी क्या ?

पार्श्वकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और तपस्या, कायोत्सर्ग आदि करने लगे। वह कमठ तापस भी नाना तपस्या करता हुआ मरा और साधारण-सी देवगति में उत्पन्न हुआ। एक दिन पार्श्वनाथ प्रभु को कायोत्सर्ग मुद्रा में देख कर उसके मन मे प्रतिशोध जगा और वह मूसलाधार पानी बरसाने लगा। उसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती के सिंहासन डोल उठे। पद्मावती ने उपस्थित होकर सिंहासन की विकुर्वणा की और धरणेन्द्र ने पार्श्वप्रभु के ऊपर छत्र धारण किया। कमठ को पुनः परास्त होना पड़ा।

—पार्श्वचरित्र के आधार से

: २५ :

राम और सुग्रीव का उपकार सम्बन्ध

राम का जीव किसी एक भव में महापुर नामक नगर में एक श्रेष्ठि-पुत्र था। उसका नाम पद्मरुचि था। वह धर्म तत्त्व का ज्ञाता, द्वादश व्रतधारी श्रावक था। एक दिन महापुर नगर से एक गोकल गुजरा। एक वृषभ अशक्त होकर रास्ते पर ही गिर पड़ा। गोकुल आगे चला गया। असहाय वृषभ अपनी अन्तिम श्वासे गिन रहा था। श्रेष्ठि-पुत्र पद्मरुचि वहां सहज ही पहुंचा। उसके मन में वृषभ की मरणासन्न स्थिति पर करुणा आई। वह सद्भावपूर्वक वहां ठहरा। वृषभ को चार शरण दिलाए, नवकारमन्त्र सुनाया। वृषभ उस सद्विचार के साथ मरा और उसी पुण्य-प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रछाय के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम वृषभध्वज दिया।

एक दिन राजकुमार क्रीड़ा करता हुआ वहीं पहुंच गया, जहां अपने वृषभ के भव मे वह मरा था। स्थान को देख कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्व भव का सारा वृत्तान्त उसे याद आ गया। उसे अपने उपकारी से मिलने की और उस पर प्रत्युपकार करने की प्रबल इच्छा हुई। उसने वहां एक देहरा बनवा दिया और उसकी दीवारों पर उस घटित घटना का चित्र बनवा दिया। वहां एक आरक्षक नियुक्त किया और उससे कहा, जो कोई व्यक्ति इस चित्र के हार्द को समझने वाला आए, उसे मेरे पास ले आओ। वह मेरा परम उपकारी है।

किसी दिन श्रेष्ठिकुमार पद्मरुचि जो अब स्वयं श्रेष्ठि के नाम से ही विख्यात हो चला था, वहां आ गया। उसने चित्र देखा। सारी घटना तत्काल स्मृति में आई। आरक्षक से उस देहरे का वृत्तान्त जाना, तो उसने समझ लिया कि इस नगर का राजा वृषभध्वज ही मेरे द्वारा उपकृत उस वृषभ का जीव है। आरक्षक के साथ वह राजदरबार में पहुचा। परिचय पाकर राजा उसके चरणों में गिर पड़ा और बोला, यह राज्य आपकी ही देन है। अतः आप इसका उपभोग करें।

राजा ने नगर मे सेठ को अपना ज्येष्ठ-बन्धु घोषित कर दिया। राज-काज भी उसके परामर्श से चलाने लगा। तात्पर्य, नगर के लोग दोनों को ही राजा की बुद्धि से देखते। दोनों का प्रेम अन्त तक निभा। जन्मान्तर से वे ही दोनों मित्र राम और सुग्रीव हुए। सेठ का जीव राम, वृषभ का जीव सुग्रीव। सेठ ने वृषभ का उपकार किया था। अतः सुग्रीव ने सीता की खबर ला कर अपने उपकार का बदला चुकाया।

—रामचरित्र गीति ५० के आधार से

परिशिष्ट २

पारिभाषिक शब्दकोष

सं० = संस्कृत
हि० = हिन्दी

पारिभाषिक शब्दकोष

अंग —सं० हि० अंग
तीर्थंकरो के उपदेशानुसार गणधरों द्वारा रचित शास्त्र ।

अचित्त —सं० हि० अचित्त
चित्तं विज्ञान तेन रहितमचित्तम् ।
निर्जीव पदार्थ ।

अछेरो —सं० हि० आश्चर्य
अभूतपूर्व व अनहोनी घटना ।

अढाई द्वीप —हि० अढ़ाई द्वीप
तिर्यग्लोक के प्रथम अढाई द्वीप—जम्बू, धातकी व पुष्करार्ध ।

अणगार —सं० हि० अनगार
नास्त्यगारमस्य अनगारः ।
जिसके किसी प्रकार का आगार (अपवाद) न हो । साधु ।

अणाचार —सं० हि० अनाचार
सर्वथा व्रतखण्डनमनाचारः ।
सर्वथा व्रत-भंग करना ।

अतिचार —सं० हि० अतिचार
व्रतभङ्गं विधातुं सामग्रीसंकलनं, एक देशेन वा व्रतखण्डन-मतिचारः ।
व्रत-भंग के लिए सामग्री एकत्रित करना या एक देश से व्रत-खण्डित करना ।

अदत्त —सं० हि० अदत्त
अदत्तादानं स्तेयम् ।
बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना ।

अधर्म —सं० हि० अधर्म
आत्मशुद्धिबाधको धर्मः ।
आत्म-शुद्धि का बाधक ।

अनन्तकाय —सं० हिं० अनन्तकाय
अनन्त जीवों वाली वनस्पति

अनशन —सं० हिं० अनशन
आहारपरिहारोऽनशनम् ।
आमरण आहार-परित्याग । राजस्थानी भाषा में संथारा ।

अनार्य —सं० हिं० अनार्य
शिष्टासम्मतव्यवहारश्चानार्य ।
जिसका आचार शिष्ट पुरुषो द्वारा सम्मत नहीं होता।

अन्तराय —सं० हिं० अन्तराय
दानादिलब्धौ विघ्नकरः अन्तराय. ।
दान आदि में बाधा डालने वाला कर्म ।

अन्यतीर्थी —स० हि० अन्यतीर्थी
जैनेतर धर्म को मानने वाला ।

अभयदान —सं० हिं० अभयदान
हिंसानिवृत्तिरभयदानम् ।
हिंसा-निवृत्ति ।

अरिहन्त —स० हि० अरिहन्त
चतुर्णा घनघातिकर्मणां हन्ता, प्रातिहार्याद्यतिशयवांश्च ।
चार घनघाति कर्मो का नाश करने वाले व प्रातिहार्य अति-शयों से युक्त ।

अवधगिनानी —स० हि० अवधिज्ञानी।
आत्मात्रापेक्ष रूपिद्रव्यगोचरमवधिः ।
इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना अवधिज्ञान है। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे अवधिज्ञानी कहा जाता है।

अव्रत —सं० हिं० अव्रत
अत्यागरूप कर्मागमन का द्वार।

अशुभ कर्म —सं० हिं० अशुभ कर्म
पाप ।

असंख्यात —सं० हिं० असंख्य
न विद्यते संख्यामानमिति असख्यम् ।
संख्यातीत ।

असंजमजीतब —सं० हिं० असंयमजीवितव्य
अव्रती जीवन

असंयती —सं० हिं० असंयति
असंयतो विरतः।
जिसके किसी भी प्रकार की विरति न हो।

आगन्या —सं० हिं० आज्ञा।
अर्हदुपदेश आज्ञा।
अरिहन्त का उपदेश।

आगम —सं० हिं० आगम
आप्तवचनादर्थज्ञानमागमः।
आप्त वचन से जो अर्थ-ज्ञान होता है, उसे आगम कहा जाता है। आगम, सूत्र आदि एकार्थवाची हैं।

आतम —सं० हिं० आत्मा
अतति, संसरति इति आत्मा।
जो संसार में पर्यटन करे।

आर्त्तध्यान —सं० हिं० आर्त्तध्यान
प्रियाप्रिय वियोगसंयोगे चिन्तनमार्तम्।
प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग मे चिन्तित रहना।

आस्रव —सं० हिं० आस्रव
कर्माकर्षक आत्मपरिणाम आस्रवः।
कर्मों को आकर्षित करने वाले आत्म-परिणाम।

इविरती —सं० हिं० अविरति
अप्रत्याख्यानमविरतिः।
अत्यागवृत्ति।

इन्द्रिय —सं० हिं० इन्द्रिय
प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्।
जिनके द्वारा शब्द आदि नियत विषयों का ज्ञान होता है।

उदय —सं० हिं० उदय
वेद्यावस्था उदयः। उदीरणाकरणेन स्वभावरूपेण वाष्टानामपि कर्मणामनुभवावस्था उदयः।
उदीरणा के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठों कर्मों का अनुभव।

उपकार —सं० हिं० उपकार

सहयोगदानमुपकारः। लौकिको लोकोत्तरश्च। आत्मविकास कृल्लोकोत्तरः, तदितरस्तु लौकिकः।

सहयोग देना उपकार है। वह लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का है। आत्म-विकास करने वाला उपकार लोकोत्तर और इसके अतिरिक्त लौकिक—व्यावहारिक कहलाता है।

उपवास —देखें—तप

उपांग —सं० हिं० उपांग

अंगों के विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम।

एकेन्द्री —स० हि० एकेन्द्रिय

एकं स्पर्शनं इन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः।

जिन प्राणियों के केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय ही है।

करण —सं० हिं० करण

कृतकारितानुमोदनरूपः त्रिविधयोगव्यापारः।

कृत, कारित और अनुमोदन रूप योग-व्यापार।

कर्म —स० हिं० कर्म

आत्मनः सदसत् प्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गला कर्म।

आत्मा की सत् व असत प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म-रूप में परिणत होने योग्य पुद्गल।

काउसग —सं० हिं० कायोत्सर्ग।

शरीरकषायादेः परित्यागो व्युत्सर्गः।

शरीर एवं कषाय आदि का उत्सर्ग।

काय —सं० हिं० काया

चीयते इति कायः।

यह काय शब्द की निरुक्ति है। इसका पारिभाषिक अर्थ है, शरीरावयवी। सादृश्य की अपेक्षा जिसमें प्रदेश-अवयव होते है, उसे काय कहा जाता है।

केवली —स० हिं० केवली

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्, तद्वान् केवली।

समस्त द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करना केवलज्ञान है। इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति केवलज्ञानी या केवली कहा जाता है।

चक्रवर्ती —सं० हिं० चक्रवर्ती
चक्ररत्न के धारक श्लाघ्यपुरुष।

चारित्र —सं० हिं० चारित्र
मोक्षार्थं क्रियमाणं प्रकृष्टमाचरणं (त्यागः) चारित्रम्।
मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रकृष्ट आचरण—त्याग।

चौबीसी अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में होने वाले चौबीस तीर्थंकर।

चौमासी प्रायश्चित —सं० हि० चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
देखें, प्रायश्चित्त।

छद्मस्थ —सं० हिं० छद्मस्थ
अकेवली छद्मस्थः।
अकेवली।

जमीकन्द —भूमि के अन्दर जड़ में लगने वाले अनन्तकायिक फल विशेष।

जिनकल्पी —सं० हिं० जिनकल्पिक
जिनेन तीर्थंकरेण कल्पः सदृशः आचारो यस्य मुनेः स जिन-कल्पिकः।
तीर्थंकर के समान आचारवान् मुनि।

जिन-धर्म —सं० हिं० जिन-धर्म
जिनने वीतरागेन प्ररूपितो धर्मः —जिनधर्मः।
वीतराग पुरुषों द्वारा प्ररूपित धर्म।

जिनराय —तीर्थंकर

जीव —सं० हिं० जीव
उपयोगलक्षणो जीवः।
ज्ञानादि उपयोग लक्षण युक्त पदार्थ।

ज्ञान —सं० हिं० ज्ञान
सामान्य विशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणां ग्राहक ज्ञानम्।
सामान्यविशेषात्मक वस्तु के सामान्य (एकाकार) धर्मों को गौण कर विशेष (भिन्नाकार) धर्मों को ग्रहण करना।

तप —सं० हि० तपः
तपः अनशनादि।
अनशन, ऊनोदरिका आदि बारह प्रकार के निर्जरा धर्म को

तप कहा जाता है। एक दिन का यह तप उपवास, दो दिन का बेला, तीन दिन का तेला आदि कहलाता है।

तिरछा लोक —सं० हि० तिर्यक् लोक
उर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच में अठारह सौ योजन का क्षेत्र।

तीर्थंकर —सं० हि० तीर्थंकर
तीर्यते ससारसमुद्रोयेनेति तीर्थ प्रवचनाधारश्चतुर्विधः संघः प्रथम गणधरो वा, तत्करोतीति तीर्थंकरः।
जिसके द्वारा यह संसार-समुद्र तैरा जा सके, उसे तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ-प्रवचन और उसका आधार चतुर्विध संघ या प्रथम गणधर को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर कहलाते है।

तेउकाय —सं० हि० तेजस्काय
तेजः कायो येषां ते तेजस्कायिकाः।
जिन प्राणियों का अग्नि ही शरीर है, उन्हे तेजस्कायिक कहा जाता है।

तेजुलेश्या —सं० हि० तेजोलेश्या
एक उष्णता-प्रधान सहारक लब्धि (शक्ति) विशेष।

त्रस —स० हि० त्रस
हिताहित प्रवृत्तिनिवृत्यर्थ गमनशीलास्त्रसाः।
हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने वाले जीव।

दया —स० हि० दया
पापाचरणादात्मरक्षा दया।
पापमय आचरणों से अपनी या दूसरों की आत्मा को बचाना। करुणा, अनुकम्पा आदि इसी के पर्यायवाची शब्द हैं।

दान —सं० हि० दान
स्वपरोपकारार्थ स्वकीयवस्तुनो वितरण दानम्।
अपने एवं दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का वितरण करना।

दीक्षा —सं० हि० दीक्षा
दीक्षा तु व्रतसग्रहः।

व्रत-संग्रह—साधुत्व।

दर्शन —सं० हि० दर्शन

दर्शनम् तत्त्वश्रद्धा।

तत्त्व के प्रति हार्दिक श्रद्धा।

देव —सं० हि० देव

केवलज्ञानवानर्हन् देवः।

केवल ज्ञानी सर्वज्ञ अर्हन् को देव कहा जाता है।

देशचारित —सं० हि० देशचारित्र

संयतासंयतो देश विरतः।

कुछ संयत और कुछ असंयत; अर्थात् अंश रूप से व्रताराधना करने वाला। संयतासंयत, देशविरत, देशचारित्र व श्रावक ये पर्यायवाची शब्द है।

द्वेष —सं० हि० द्वेष

दुःखाभिप्रायो द्वेषः।

दुःख का अभिप्राय।

द्रव्य —सं० हि० द्रव्य

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

गुण और पर्याय का आश्रय।

धर्म —सं० हि० धर्म

आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः।

आत्म-शुद्धि का साधन।

धर्मध्यान —सं० हि० धर्मध्यान

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्मम्।

आज्ञा, अपाय, विपाक एवं संस्थान का निर्णय करने के लिए किया जाने वाला चिन्तन।

नरक —सं० हि० नरक

घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों का फल भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानों मे उत्पन्न होते है; वे स्थान।

नवकार —सं० हि० नमस्कार (मंत्र)

जैन-परम्परा का प्रमुख मंत्र।

नवकोटि —सं० हि० नवकोटि

तीन करण व तीन योग युक्त।

निरवद्य —संयमोपधर्कं निरवद्यम् ।
संयम की वृद्धि करने वाला कार्य ।

निरवाण —देखें, मोक्ष ।

निर्जरा —सं० हि० निर्जरा
तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा ।
तपस्या के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद होने पर होने वाली आत्म-उज्ज्वलता ।

पच्चक्खाण —स० हि० प्रत्याख्यान
त्याग ।

पंचेन्द्री —सं० हि० पंचेन्द्रिय ।
पाच इन्द्रिय वाले प्राणी ।

परिग्रह —सं० हि० परिग्रह
मूर्च्छा परिग्रह. ।
पदार्थों के प्रति अन्तर मे रही मूर्च्छा ।

परितसंसार —स० हिं० परीत्तससार
परिमितः संसारः परीत्तमसारः ।
जिनका संसार पर्यटन सीमित हो गया है ।

परीषह —सं० हि० परिषह ।
कर्मणां निर्जरार्थ क्षुधातृषादि कष्टानि परिसह्यते इति परिषह ।
कर्म-निर्जरा के लिए क्षुधा-तृषादि सहन करना ।

पाप —स० हिं० पाप
अशुभं कर्म पापम् । उपचारात् तद्हेतवोपि तत्-शब्दवाच्या. ।
अशुभ कर्मों को पाप कहा जाता है और उपचार से पाप के हेतु भी पाप कहलाते हैं, जो प्राणातिपात आदि अठारह है ।

पुन्य —स० हिं० पुण्य
शुभ कर्म पुण्यम् । उपचाराच्च यद् यन्निमित्तो भवति पुण्य-बन्धः, सोपि तत्-तत् शब्दवाच्यः ।
शुभ कर्म को पुण्य कहा जाता है । उपचार से जिस निमित्त से पुण्य का बन्ध होता है, वह भी पुण्य कहा जाता है, जो अन्न पुण्य आदि नौ प्रकार का है ।

पूर्वधर —सं० हिं० पूर्वधर

तीर्थ का प्रवर्तन करते समय अरिहन्त जिस अर्थ का गणधरों को सर्वप्रथम उपदेश देते है, या गणधर सर्वप्रथम जिस अर्थ को सूत्ररूप में गूंथते है, उस समग्र ज्ञान को पूर्व कहा जाता है। पूर्वों के ज्ञान को धारण करने वाला पूर्वधर कहलाता है।

पोसा —सं० हिं० पोषध

उपवासेन सह अहोरात्रं पापपूर्णप्रवृत्तीनां परित्यागः पोषधोपवास.।

उपवास के साथ एक दिन-रात के लिए पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग।

प्रज्या —स० हिं० पर्याप्ति

भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्तिः।

जन्म के प्रारम्भ मे होने वाला पौद्गलिक शक्ति का निर्माण।

प्रमाद —सं० हिं० प्रमाद

अनुत्साहः प्रमादः। अरत्यादि मोहोदयात् आध्यात्मिक क्रियायामात्मनोऽनुत्साहः प्रमादः।

अरति आदि महोदय से आत्मा का धार्मिक क्रिया में अनुत्साह।

प्राण —सं० हि० प्राण

तदपेक्षिणी जीवनशक्तिः प्राणाः।

पर्याप्ति की अपेक्षा रखने वाली जीवन-शक्ति। भूत, जीव और सत्व ये भी पर्यायवाची हैं।

प्रायश्चित्त —स० हि० प्रायश्चित्त

अतिचार विशुद्धयेऽनुष्ठानं प्रायश्चित्तम्।

दोष की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान प्रायश्चित्त कहलाता है। वह दश प्रकार का होता है। उनमें एक प्रायश्चित्त छेद कहलाता है, जिसमें चार महीने आदि का संयमकाल कम कर दिया जाता है।

बलदेव —वासुदेव के बड़े भाई।

बारहव्रत —बारह प्रकार का गृहस्थधर्म।

बालमरण —सं० हिं० बालमरण

मिथ्यादृशां मरण बालमरणम्।

मिथ्यादृष्टियों की मृत्यु।

बेला —दो दिन का उपवास।

बोध-बीज —सम्यक्त्व

मनपरज्या —सं० हि० मनःपर्यव
मनोद्रव्य पर्यायप्रकाशि मनःपर्यायः।
मनोवर्गणा के अनुसार जो मानसिक अवस्थाओं को जानता है, उसे मनःपर्यव ज्ञान कहा जाता है।

मतिगिनानी —सं० हि० मतिज्ञानी
इन्द्रियमनोनिमित्तं संवेदनं मतिः।
इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे मतिज्ञानी कहा जाता है।

महाव्रत —सं० हि० महाव्रत
सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति महाव्रतम्।
हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को सर्वथा त्यागना।

माहण —मत मारो। साधु को सम्बोधित किया जाने वाला शब्द।

मिथ्यात —सं० हि०–मिथ्यात्व
दर्शन मोहोदयात् आत्मनः अतत्त्वे तत्त्वप्रतीतिः मिथ्यात्वम्।
दर्शन मोह के उदय से आत्मा में विपरीत तत्त्वश्रद्धान अर्थात् अतत्त्व में तत्त्व-प्रतीति।

मिथ्याती —सं० हि० मिथ्यात्वी
तत्त्व तत्त्वांशं वा मिथ्याश्रद्दधानो मिथ्यात्वी, मिथ्यादृष्टीति यावत्।
तत्त्व पर या तत्वांश पर मिथ्या विश्वास रखने वाले को मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

मिश्र-धर्म —सं० हि० मिश्रधर्म
एकस्यामेव प्रवृत्त्यां युगपत् पुण्यपाप-धारणा मिश्र धर्मः।
एक ही प्रवृत्ति में एक साथ पुण्य और पाप की धारणा।

मुक्ति, मुगति, मोक्ष —सं० हि० मुक्ति, मोक्ष
कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः।
समस्त कर्मों के क्षय से आत्मा अपने ज्ञान, दर्शनमय स्वरूपों में अवस्थित होती है, उसे मोक्ष कहा जाता है।

मोहकर्म —सं० हि० मोहकर्म या मोहनीय कर्म

दर्शनचारित्रघातात् मोहयति आत्मनमिति मोहनीयम् ।
दर्शन और चारित्र का घात कर आत्मा को व्यामूढ़ बनाने वाला कर्म ।

योग —स० हि० योग
मनोवाक्कायव्यापारो योगः ।
मन, वच और शरीर की प्रवृत्ति ।

योजन —स० हि० योजन
चतुः क्रोशं तु योजनम् ।
चार कोश परिमाण भूमि ।

रजोहरण —सं० हिं० रजोहरण
साधूनां प्रमार्जनोपकरण रजोहरणम् ।
साधुओं का भूम्यादि प्रमार्जन उपकरण ।

राग —सं० हि० राग
रागः मासारिकः स्नेहोनुग्रहलक्षणः ।
अनुग्रहयुक्त सांसारिक स्नेह ।

लब्धि —स० हि० लब्धि
ज्ञानावरणादि कर्मक्षयोपशमजन्यः सामर्थ्यविशेषो लब्धिः ।
ज्ञानावरणादिक कर्मों के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त होने वाले सामर्थ्य विशेष को लब्धि कहा जाता है। इस शक्ति विशेष को धारण करने वाला लब्धिधर कहलाता है ।

लेश्या —स० हि० लेश्या
योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या ।
योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाला आत्म-परिणाम ।

लौकिक दया —सं० हिं० लौकिकदया ।
शरीरेण सह प्राणानां यः सयोगस्तस्य देशतः सर्वतो वा रक्षणं लौकिक दया ।
शरीर के साथ प्राणों का जो सम्बन्ध है, उसकी आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से रक्षा करना ।

वासुदेव —सं० हिं० वासुदेव
प्रतिवासुदेव को जीतकर तीन खण्ड पर राज्य करने वाला ।

विकलेन्द्री —सं० हिं० विकलेन्द्रिय

विकलानि—अपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियादयो जीवाः।
असम्पूर्ण इन्द्रिय वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव।

वियावच्च —सं० हिं० वैयावृत्य
सेवाद्यनुष्ठान वैयावृत्यम्।
सेवादि अनुष्ठान विशेष।

विराधक —स० हि० विराधक
गृहीत व्रतो का पूर्णरूप से आराधन नहीं करने वाला।

वैराग्य —स० हि० वैराग्य
पाचों इन्द्रियों के विषय-भोगों से उदासीनता—विरक्ति।

शासन —स० हिं० शासन
जैन सघ

शीतल लेश्या —स० हि० शीतल लेश्या
एक शीतलता-प्रधान लब्धि (शक्ति) विशेष।

शुक्ल ध्यान —स० हि० शुक्लध्यान
निर्मलं प्रणिधान शुक्लम्।
निर्मल समाधि-अवस्था।

शुभ योग —सं० हिं० शुभयोग
मोहरहितः सद्ध्यानार्हन्नुतिगुरुवन्दनादि रूपः शुभव्यापारः शुभयोगः।
मोहरहित सच्चिन्तन, अर्हत्-स्तुति, गुरुवन्दन आदि शुभ कार्य।

श्रद्धा —देखें—सम्यक्त्व

श्रमण —स० हि० श्रमण
अपने श्रम से अपना उत्थान करने वाला—साधु।

श्रावक —स० हिं० श्रावक
श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करने वाले जैनधर्म के गृहस्थ-अनुयायी।

श्रुतिगिनानी —स० हि० श्रुतज्ञानी
तदेव द्रव्यश्रुतानुसारेण परप्रत्यायनक्षम श्रुतम्।
द्रव्य-श्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने मे जो समर्थ हो, ऐसे मतिज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहा जाता है। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे श्रुतज्ञानी कहा जाता है।

सचित्त —सं० हि० सचित्त
सह चित्तेन जीवभावेन वर्तते तत् सचित्तम्।
जो पदार्थ जीव युक्त होता है, उसे सचित्त कहा जाता है।

समकित —सं० हि० सम्यक्त्व
यथार्थ तत्त्व श्रद्धा। सम्यग्दर्शन, श्रद्धा, बोधिबीज आदि एकार्थक हैं।

समदृष्टि —सं० हि० सम्यक् दृष्टि
तत्त्वों पर सत्य श्रद्धा रखने वाला।
समदृष्टि, सम्यग्दृष्टि व सम्यक्त्वी एकार्थवाचक हैं।

समवसरण —सं० हि० समवसरण
तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहां तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सागारी —सं० हि० सागारी
आगार सहित।

सावद्य —सं० हि० सावद्य
अवद्येन सहितं सावद्यम्।
पापयुक्त कार्य।

सिद्धगति —सं० हि० सिद्धगति
सर्वथा कर्म-क्षय कर लोकाग्रस्थित सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करना।

सुधर्मा सभा —सं० हि० सुधर्मासभा
इन्द्र सभा।

संजमजीतव —सं० हि० संयमजीवितव्य
व्रती जीवन।

संभोग —सं० हि० संभोग
यथोक्तविधिना समं भोगः संभोगः।
समान समाचारी वाले साधुओं का सम्मिलित आहार आदि व्यवहार।

संयम —सं० हि० संयम
सर्वसावद्यव्यापारं विरतिः संयमः।
सब प्रकार के सावद्य व्यापार से विरत होना।

संवर —सं० हि० संवर

आस्रवनिरोधः संवरः।
आस्रव का निरोध।

स्थावर —सं० हिं० स्थावर
हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थमगमनशीलाः स्थावराः।
हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने में असमर्थ प्राणी।

हरिणगमेषीदेव —सं० हि० हरिणेगमेषीदेव
इन्द्र का एक प्रतिनिधि देव।

हिंसा सं० हिं० हिंसा
असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।
असत्प्रवृत्तिजन्य प्राणी-बध और स्वयं असत्प्रवृत्ति।

परिशिष्ट ३
राजस्थानी शब्दकोष

राजस्थानी शब्दकोष

अटकलां	अन्दाज से
अणगल	अनछाना
अणहुंतो	निरर्थक
अथाय	बहुत
अरूड़	ठसाठस
आघाई	अपनी ओर से
आघो नही काढता	विलम्ब न करते
आणिये	करे
आणै	करे
आन्तरियो	अन्तिम समय
आमना	अभिप्राय
आवटकूटो	आरम्भ-समारम्भ
इतरी	इतनी
उकरड़ी	कूडा-करकट डालने का स्थान। संस्कृत नाम—अवस्कर
उटंका	गप्पें
उण	वह
उणरे	उसके
उथपती	जाती देखकर
उपाड़	उठा कर
उराणे	यों ही
उवै	वे
उणायत	कमी
कमठाणा	मकानादि बनवाना
कामा	कार्य
कांय	कुछ भी

किणविध	किस प्रकार
कुब्द	कुबुद्धि
केड़ायत	परम्परागत
केडे	पीछे
केम	किस तरह
केयक	कुछ एक
खन्त	क्षमा
खुवार	नष्ट
गधिया	एक प्रकार का जन्तु
गरढा	वृद्ध
गाबड़	गर्दन
गालां रा गोला	कपोल कल्पित
गिर-गिर	पकड़-पकड़ कर
गिलाण	रुग्ण
गींडोला	एक प्रकार का जन्तु
घमसाण	संहार
घोचो	तीर
चकचूर	चूर-चूर
चलाय	चलित
चालो	प्रपच
छछकार	छिछकारना
छोड़ा-मेला	छोड़ना-रखना
जबून	निकृष्ट
जात	प्रकार
जीपण	जीतने के लिए
जीवड़ा	जीव
जुध	युद्ध
जोड़	रचना
टल्बल्	रेंगना
ठरले	शोचार्थ
ठाय (म)	स्थान
डंक मारना	दंसना

डाभ	नारियल
डावड़ो	बालक
डोरी	रस्सी
डोहलो	दोहद
ढ़ांढ़ा	पशु
तठे	वहां
तलफल	तड़फड़ाहट
तांगी	चक्कर आना
ताली	प्रीति
तिके	वे
तिणने	उसके
थका	से
थाभो	खम्भा
थाप	स्थापना करना
थाय	हो सकता है
दगचाल	खुल्ले हाथों
दार	बिल
दाझतां	जलते हुए
दीकरा	लड़का
धकाय	ढकेल कर
धन उदके	धन निकालना
धाकल्यां	ललकार देने से
धुकावै	जलाना
नसार दे	भगा दे
नाड़ो	तलाई
नाणो	धन
निरदावै	तटस्थ
नीको	अच्छा
नूर	चेहरा
न्हसावै	भगाना
पचरहना	लीन हो रहे हैं
पारखा	परीक्षा

पीहर	रक्षक
पूअरा	फूहारा (एक प्रकार का जन्तु)
पेलां	प्रथम
पेला	दूसरा
पोते	अपनी
फक	नितान्त
फड़हो	उद्घोषणा
बकवाय	बकवास
बड़ाले	बीच में
बिगोया	डुबोया
बिटल्	नीतिभ्रष्ट
बिड़द	दायित्व
बिरूआ	विरूप
बूहो	बहकर
भवियण	भविजन
भागल	व्रतभ्रष्ट
भिड़ी	सहायक
भेलापो	मिला-जुला
मंजारी	बिल्ली
मकरो	मत करो
मच्छ गलागल	मात्स्य न्याय। क्रमश: बड़े मच्छों द्वारा छोटे मच्छों का निगला जाना। 'जीवो जीवस्य जीवनम्'।
मझे	मध्य
मझारो	मध्य
मणकला	टुकड़े
मणसा भोजन	इच्छित भोजन
ममाई	कड़ाह में तेल गर्म किया जाता है। उसके ठीक ऊपर एक जीवित मनुष्य को लटका दिया जाता है। उस मनुष्य के शरीर में पैनी धार वाले अस्त्र से स्थान-स्थान पर टांचे लगा दिए जाते

	हैं। खौलते हुए तेल में रक्त टपकता है। उस तेल में अन्य वस्तुएं मिला कर एक औषधि विशेष तैयार की जाती है, जो कुछ रोगों के लिए उपयोगी होती है। उस मनुष्य के शरीर से रक्त उतना ही निकाला जाता है, जितना आवश्यक होता है। अन्त में उसे नीचे उतार कर उसके घावों पर मरहम-पट्टी कर दी जाती है, जिससे वह पुनः स्वस्थ हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को ममाई कहते है।
माका	मकोड़े
माका	बडी मक्खी—नारिया
माटे	मटका
माठी गति	नीच गति
मातरा	प्रस्रवण
मार	दुःख
माला	घोंसला
मूई	मर गई
मोय	मुझे
रांगण	चमड़ा रंगने का काम
रासड़िया	रस्सी
रीजक-रोटी	पट्टा-परगना
रेलो	धारा
रैंसो	रहस्य
लाहो	बहुत लाभ
लिगार	अंशमात्र
वपराय	उपजा कर
वागरै	कहते हैं
वासण	बर्तन
विकल	शिथिल
शिरभागो	भाग्यशाल

शिरे	श्रेयस्कर
सताब	ठाट बाट
सहल	सहज
सांगधारी	वेशधारी
सांचववा	रीति निभाने के लिए
साई	स्वीकृति
साजे (भं)	करे
साजो	ठीक
सानी	संकेत
सिराड़े	शिखर
सुगली	फली
सुगाल	सुकाल
सुलसल्या	धान्य में उत्पन्न होने वाला जन्तु विशेष
सुलि़या	सड़े हुए
सुसियो	शशक
सूस	प्रत्याख्यान
सोरी	शोर करना
हांकल्या	ललकारने से
हाय-विराय	हाय-तोबा
हुचके	उछलना
हेला	हल्ला करना

परिशिष्ट ४

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

अ

ओ

क

घ

च

छ

थ

द

ध

य

र

परिशिष्ट ५

शब्दानुक्रम

अ

आ

ख

ग

य

र

ल

श

ह